• संस्करण	प्रथम, १९७७ ई०
• प्रकाशक	राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर (राजस्थान)
• मुद्रक	एजूकेशनल प्रेस, बीकानेर
• मूल्य	अट्ठाइस रुपये मात्र

• VIDYADHAR GRANTHAVALI
• Vidyadhar Shastri

विद्याधर-ग्रन्थावली

■ विद्याधर शास्त्री

राजस्थान साहित्य अकादमी प्रकाशन
1977

आमुख

राजस्थान के मूर्धन्य कृतिकारो की साहित्यिक सर्जनाओ के सग्रह प्रकाशित करना राजस्थान साहित्य अकादमी की बहुमुखी प्रवृत्तियो मे से एक विशेष प्रवृत्ति है। ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि हरनाथ की 'हरनाथ ग्रथावली', उर्दू के मोहतरिम शायर श्री चांदविहारी लाल 'सबा' की 'सबा ग्रथावली' और सबा साहब के काव्यगुरु मायल साहब की 'कुल्लियाने-मायल' इस प्रवृत्ति की प्रधान कड़ियां हैं।

राजस्थानी, हिन्दी, उर्दू आदि आधुनिक भाषाओ के भंडार मे तो राजस्थान ने पर्याप्त योगदान किया ही है पर सस्कृत साहित्य के अध्ययन, मनन और सृजन मे भी यह प्रदेश अग्रणी रहा है। विभिन्न राज्यों द्वारा सस्थापित सरस्वती भवनो और ग्रन्थागारो मे प्राचीन राजस्थानी, प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत भाषाओ की अमूल्य ग्रन्थ राशि अप्रकाशित पाण्डुलिपियो के रूप में भरी पडी है और प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रही है। इन कृतियो के प्रकाशन से कला और साहित्य की श्रीवृद्धि तो होगी ही, इतिहास के अनेक अज्ञात तथ्य भी प्रकाश मे आए गे।

सस्कृत भाषा मे साहित्य-सृजन की परम्परा राजस्थान मे आज भी जीवित और गतिशील है। सस्कृत मे साहित्य सृजन करने वाले मनीषियो मे प्राचीन पद्धति और परम्परागत शैली मे मुक्तको और प्रबन्ध-काव्यो की रचना करने वाले कवि भी हैं और ऐसे मनीषी भी कि जिन्होंने इस पुरातन वाणी मे अधुनातन विषयो को प्रस्तुत किया है। वे एक ओर तो प्राचीन सस्कृत साहित्य के अति समृद्ध ज्ञानकोश और दूसरी ओर नए जमाने की साहित्यिक विचार-धाराओ से जुड़े हुए है। एक तरह से वे प्राचीन और अर्वाचीन के बीच की कडी हैं और साहित्य की निरन्तरता के वाहक हैं।

राजस्थान मे बीकानेर नगर निवासी प० विद्याधर शास्त्री इसी श्रेणी के समन्वय के वाहक साहित्यकार हैं जो प्राय आधी शताब्दी से अपनी रचनाओ से सस्कृत वाङ्मय को नई कृतियो से सजाते रहे हैं। उनका साहित्य किसी एक विधा मे सीमित न रह कर गद्य-पद्य, काव्य, नाटक, चम्पू, स्तोत्र और सूत्र आदि अनेक प्रकार के रचना प्रकरणो से परिपूर्ण है। इसमे राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विषयो के अतिरिक्त भौतिक और वैज्ञानिक विषयो का भी विवेचन है। उनकी रचनाओ मे जहा १६ सर्ग का हरनामामृतम् नाम का

चरित्रात्मक महाकाव्य है वहीं 'मत्त लहरी' जैसे काव्योद्गार भी हैं जो सबाहयात उमर खैयाम के ढग पर लिखे गए है किन्तु जिसमे सस्कृत साहित्य मे व्याप्त दार्शनिक विचारधारा का उन्मेष भी यथास्थान पूरी तरह हुआ है।

हरनामामृतम् नामक महाकाव्य एक सम्पूर्ण जीवन के विविधपक्षो की और विभिन्न अवस्थाओ की हृदयग्राही कहानी है। इसमे जहा जीवन के विभिन्न आदर्शों का विवेचन है वहा वाराणसी और उज्जयिनी जैसी नगरियो के सारस्वत और सुसस्कृत वातावरण का भी सूक्ष्म और सुन्दर चित्रण हुआ है।

मरु प्रदेश के निवासी होने के नाते उसके सौन्दर्य और सुषमा का कवि ने गहरा अध्ययन किया है लेकिन हरनामामृतम् का कवि जिंदगी के केवल रसमय पक्ष को ही देखने वाला नही है। मरु प्रदेश मे दुर्भिक्ष का जो वर्णन कवि ने किया है उसमे प्रत्यक्षदर्शी की यथातथ्यता और मानवी हृदय की आतुर सवेदना है।

शास्त्री जी का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रथ 'विश्वमानवीयम्' है जिसमे नौ सर्ग हैं और नाना प्रकार के छन्दो, प्राकृतिक वर्णनो और अनेक रसो का समन्वय है। इसमे किसी एक ही नायक के जीवन की घटनाओ का वर्णन नही है, न, इसमे किसी एक ही कथा - प्रसग का आश्रय लिया गया है। प० विद्याधर शास्त्री ने स्वय भी इसको किसी महाकाव्य या खण्डकाव्य की श्रेणी मे न रखकर एक नई ही विधा कहा है और उसे 'हृद्गीत' सज्ञा दी है।

"नवे सस्कृत साहित्ये नवैषानुपमा विधा ।

कथा नेय न वा काव्य हृद्य गीत पर नवम् ॥

इस काव्य ग्रन्थ के लिखने मे कवि की नवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय मिलता है। काव्य को परम्परा मात्र की कसौटी पर कसने वाले लोगो का उद्बोधन करते हुए कवि ने स्वय कहा है :—

"मानवानामय धर्म प्रकृत्यैव सनातन ।

नवा दृष्टिर्नवो मार्गो नवोत्साहो नवाकृति ॥

इस कृति मे मानव के विश्वव्यापक स्वरूप और उसकी नवयुग प्रवर्तिनी क्षमता का प्रतिपादन किया गया है। इसमे आज की अधूरी शिक्षा प्रणाली और कवि की धारणा के अनुसार आदर्श शिक्षा प्रणाली के विषय मे भी विचार व्यक्त किये गए है। इसके अतिरिक्त चन्द्रलोक, पितृलोक इत्यादि लोकोत्तर सृष्टियो का दिग्दर्शन भी है और अन्ततः गतिशील जीवन के अभिनव सौन्दर्य के कारण पृथ्वी लोक के कर्मशील जीवन को देव लोक के भोगमय जीवन से श्रेष्ठतर ठहराया गया है। देवत्व की अपेक्षा मानवत्व की यह वरीयता और उत्कर्ष निश्चय ही सस्कृत साहित्य के लिए एक अछूती और नवीन दृष्टि है।

नीतिरत्नम् १४१ श्लोको का एक ग्रथ है जिसमे परम्परागत नीति-ग्रथो की शैली मे किन्तु उनसे अलग हटकर एक नए आयाम मे आत्मविश्वास, आत्मगौरव, गृहस्थ जीवन, राष्ट्र जीवन आदि विषयो का नए ढग से परीक्षण हुआ है और सफल और स्वस्थ जीवन के लिए सुझाव दिए गए हैं। जीवन दर्शन के अनेक मनोवैज्ञानिक और लौकिक तथ्यो से ओत-प्रोत श्रीयुत शास्त्री की—

१ प्रभुप्रसादो मनस· प्रसाद ,

२ हिते लोकस्य नो हितम्,

३. रम्य निजस्थानगत हि सर्वम्

४ भीमा हि भीतिर्वत कल्पनाया

५ यज्जीवन तद्यश एव लोके,

६ स्वभावाद् भिन्ने हि प्रसरति न भावे मतिगति

७ विरागे रागे वा वयमिह पराधीनगतय , प्रभृति सैकडो सूक्तिया भी इनके साहित्य मे सर्वत्र बिखरी हुई हैं।

इसी प्रकार शाकुन्तलम् विज्ञानम् मे अभिज्ञान शाकुन्तलम् के समस्त कथावृत्त का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है और लाक्षणिक अन्योक्तियो द्वारा दुष्यत शकुतला के लौकिक प्रेम को अभिनव आध्यात्मिक आशय से सम्पन्न किया है।

शास्त्री जी ने 'विद्याधर साहित्य सूत्र' द्वारा साहित्य-शास्त्र के सिद्धातो, अलकारो, काव्य लक्षणो का मार्मिक विवेचन भी किया है।

शास्त्री जी का सस्कृत-लेखन विशद भी है और महत्वपूर्ण भी। इस सग्रह मे उनकी मुख्य कृतियो को ही चुनकर लिया जा सका है किन्तु उनके द्वारा सर्जित साहित्य की सीमाए दूरगामी है। इसमे से बहुत-सा साहित्य अलग टुकडो मे स्वय शास्त्री जी द्वारा प्रकाशित कराया गया है। राजस्थान साहित्य अकादमी उनके प्रति कृतज्ञ है कि उन्होने प्रस्तुत सग्रह को अकादमी द्वारा प्रकाशित किये जाने की अनुमति प्रदान की।

आशा है, यह सग्रह न केवल शास्त्री जी के स्नेही मित्रो को बल्कि सस्कृत साहित्य के सभी रस-पिपासुओ, रसज्ञो और जिज्ञासुओ को रुचिकर होगा।

—विष्णुदत्त शर्मा
अध्यक्ष

काम्यो न कैरत्र सतामनुग्रहः ?

इस ग्रन्थावली की कृतियो का रचनात्मक इतिहास गत ६०-६५ वर्षों के काल मे परिव्याप्त है। पूज्य पितृप्रवर स्वर्गीय श्री देवीप्रसाद जी शास्त्री ने श्रुतबोध के अध्यापन के साथ ही सन् १६१२ मे मुझे सस्कृत छन्दो के अटपटे पदो की रचना मे प्रवृत्त कर सन् १६१५ मे मेरे "शिव पुष्पाञ्जलि" और "सूर्य प्रार्थना" नामक २ स्तोत्रो को प्रकाशित करवा दिया था। उस दिन से लेकर आज तक मेरी यह प्रवृत्ति कभी अवरुद्ध नही हुई। परन्तु डूगर कॉलेज पत्रिका, विश्वम्भरा और भारती आदि मे प्रकाशित इसके कुछ अशो और लीला लहरी आदि २-३ मुद्रित पुस्तको के अतिरिक्त इसका अधिकाश भाग यत्र-तत्र विशीर्ण और अप्रकाशित ही था।

राजस्थान साहित्य अकादमी की सस्कृत समिति द्वारा मेरी इस मुद्रित और अमुद्रित समस्त साहित्य सामग्री को ग्रन्थावली के रूप मे प्रकाशित करने की उदार अनुमति दे देने पर भी, मेरी हार्दिक कामना यही थी कि इस सामग्री मे से जो कुछ मुद्रित हो वह मेरे निरीक्षण मे ही हो। इस अभ्यर्थना की पूर्ति, बीकानेर मे ही ग्रथावली के मुद्रित कराने की स्वीकृति देकर वर्तमान अध्यक्ष विद्वत्प्रवर श्री प० विष्णुदत्त जी शर्मा एव परम सक्रिय मान्य निदेशक श्री डा. राजेन्द्र शर्मा ने कर दी, तदर्थ मैं इन दोनो महानुभावो का हृदय से परम आभारी हूँ।

मेरी इन कृतियो मे "हरनामामृतम्" के कुछ स्थलो के परिष्करण मे सस्कृत और इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् सुकवि मेरे अनुज डा० दशरथ शर्मा एव विद्वत्प्रवर श्री प लक्ष्मी चन्द्र जी मिश्र ने तथा इसकी प्रथम भूमिका के लेखन मे आचार्यवर्य श्री द्विजेन्द्रनाथजी ने एव पाठ के सशोधन मे डा० श्री ब्रह्मानन्दजी ने जो सहायता दी वह सदैव साभार सस्मृत रहेगी। अन्त में सबसे अधिक कृतज्ञ मै सगमाध्यक्ष श्री प. विष्णुदत्त जी का हूँ, जिन्होने गागर मे सागर से परिपूर्ण आमुख से इस ग्रथावली को कृतार्थ कर दिया है।

बीकानेर मे चिरञ्जीव डा० दिवाकर शर्मा ने पूर्ण परिश्रम के साथ हजारो पृष्ठो मे यत्र-तत्र विकीर्ण मेरी सामग्री को आवश्यक सशोधनो के साथ प्रेस कापी के रूप मे प्रस्तुत कर दिया और सदर्भ सकेतादि की पूर्ति चि गिरिजाशकर शर्म्मा ने कर दी तदर्थ माता सरस्वती से मेरी यही प्रार्थना है कि वह इन्हे निरन्तर विद्यायशोऽभिवृद्धि से सम्पन्न कर चिरायु करे।

—विद्याधर.

संग्रह सम्पादकीय

नाना स्थानो मे विकीर्ण, पूर्ण एव अपूर्ण तथा नाना सशोधनो से सम्पन्न सामग्री मे से अपेक्षित पाठ का चयन यद्यपि परम दुष्कर था किन्तु पूज्य पितृ चरण के निर्देशन एव डा० परमानद सारस्वत के सहयोग से इसकी प्रेस कापी को प्रस्तुत कर देने के पश्चात् मुद्रण-कार्य मे प्रेस से सम्बन्धित जो-जो समस्याए उभर कर सामने आई, डा० राजेन्द्र शर्मा निदेशक साहित्य अकादमी ने उन सबका तत्परता से निराकरण किया, तदर्थं मैं आपका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ। अथच एजूकेशनल प्रेस के स्वामी श्री वीरेन्द्र सक्सेना द्वारा प्रूफो के सशोधन मे स्मरणीय पूर्ण सहयोग देने पर भी, सस्कृत शब्दो के योजन मे जो स्वाभाविक स्खलिति हुई है, तदर्थं पाठको से नम्र निवेदन है कि वे अन्त मे सलग्न शुद्धिपत्र पर भी दृष्टिपात अवश्य करें।

निवेदक—

दिवाकर शर्मा

अथ विषयानुक्रमणिका

नियतिप्रभावः,

अष्टमे सर्गे ३०—३४

प्राक्तनी सात्विकी कान्तिः, विद्या-विलास, प्राक्तनी शिक्षण-पद्धतिः, विद्यार्थि-जीवनम्, सन्ध्यावन्दनादि-सौख्यम् ।

नवमे सर्गे ३५—३९

दुर्भिक्षाक्रान्तो मरुदेशः, गौर्वैक्लव्यम्, जडाप्रकृतिः, शिवाभिषेकः, यज्ञ प्रभाव, जलाप्लुता-मही, शिवस्तुतिः,

दशमे सर्गे ४०—४४

मारवी यात्रा, पवित्र ग्रामजीवन, दस्युराज प्रतिबोधनम्, तीर्थदर्शनम्

एकादशे सर्गे ४५—४८

वानप्रस्थाभिरुचि, विद्याधन ह्येव धनं बुधानाम्, अद्यतनी दयनीया, गृहस्थगतिः, आत्मना-त्मानमुद्धरेत् हरद्वार-निवासः, पार्वती सुषमा,

द्वादशे सर्गे ४९—५३

निःसत्त्वमद्यतन युगम्, प्रहृष्टा संस्कृत संस्कृति, ऋषिकुल महाविद्यालयादि विद्वन्मण्डली, कुरुक्षेत्रम्, विप्रसम्मेलनम्

त्रयोदशे सर्गे ५४—५७

अध्यक्षीयं भाषणम्, वैज्ञानिकी वर्णव्यवस्था, ब्राह्मणत्वम्, विश्व कल्याण भावना

चतुर्दशे सर्गे ५८—६१

यज्ञशाला, वैदिकी हिंसा न हिंसा, हिंसाविरोध, स्वार्थग्रस्तः, साम्प्रतिको जनः

पञ्चदशे सर्गे ६२—६९

परम पावनी सुरसरित्, स्मरणीया सघयात्रा, सरक्ष्या स्वसस्कृति, संस्कृते सस्कृति शुद्धा, विकृति स्याद् विघातिनी, न निन्द्या बालबुद्धयः, सा भाषा सुरभारती, नव सर्गः प्रवर्त्यताम् ।

षोडशे सर्गे ७० —७८

ब्रह्मलोकावासिः, सुधीभिः प्रवर्तिता परम्परा, विविधा विद्वद्वरेण्या, शिष्याः प्रकृतिः कृत्रिमायते, अनुपमा सस्कृत-सस्कृति ।

विश्वमानवीय काव्यम्

प्रथमे सर्गे ७९—८२

विश्वव्यापिनी दृष्टिः, नवीन यत् पुराण तत् पुराण च पुनर्नवम्, सर्वेऽन्योऽन्यं समाश्रिता, नवीन जीवन नित्यम्, प्रसुता साम्प्रत मतिः,

द्वितीये सर्गे ८३—८७

ब्रह्मर्षिदेवा, देवीप्रकाशः, ऐश्वर दर्शनम्, लक्ष्यहीनाः शिक्षालय,

तृतीये सर्गे ८८—९१

उज्जयिनीपुरी, इष्टदेव-स्मरण सामर्थ्यम्, अज्ञेयाकालगति., त्वमेव माता च पिता त्वमेव, क्षणे क्षणे हन्त कुतोऽयमन्यः ।

चतुर्थे सर्गे ९२—९५

वीर प्रशस्ति, शक्ति प्रबोधनम्, वैयक्तिकी सामाजिकी च मानवीया महाशक्ति, यो ददाति यो भुक्ते तत्र लक्ष्मीः प्रसीदति ।

पञ्चमे सर्गे ९६—९९

अन्तर्दृष्टि - विकला अहम्भावग्रस्ता आधुनिका वैज्ञानिका, साधुवादैः सत्करणीयाञ्च, न

काव्यवाटिका — १९९ – २१४

विद्याधर साहित्य दर्शनादि सूत्राणि — २१५ - २२९

संस्कृत नाट्यावली २३० — ३४०



॥ श्री ॥

अथ हरनामामृते काव्ये

(आरम्भिकं निवेदनम्)

शुक्ला श्वेतगरुद्-विभूषित-सर—पद्मासने सस्थिताम्
पश्यन्ती जननीव नित्यमखिलान् स्मेराननां सर्वदा ।
वन्देऽहं वरदां सदैव विशद सद्य शुभादेशिनीम्
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां बुद्धिप्रदा शारदाम् ॥*॥

यतो ह्येकदन्ताद गुणानामनन्ता गणा भान्ति लोके विभिन्नस्वभावाः
गणास्तेषु कश्चिद् रजोभूस्तमोभू विधत्तां न विघ्नं कचिन्नोऽर्थसिद्धौ ॥

सृजन्त्यजस्र नवमेव सर्गं वर्णैरवर्णं च विभावयन्ती
विराजते कापि विलक्षणेयं सारस्वती शक्तिरहोऽद्वितीया ॥१॥

कवि विधाता भवतीह साक्षात् क्षुद्रश्च कश्चिज्जगतीकणोऽहम्
शक्ति न सा विश्वविमोहिनी मे काव्य यया मञ्जुलमातनोमि ॥२॥

सर्वं हि लोके सुलभं सुयत्नैः सत्काव्य-शक्ति न परं सुलभ्या
नवैः प्रकाशै रभिभासमाना कृपा प्रभो. सा प्रभुणैव कार्या ॥३॥

आनन्दमग्ना करुणाप्रसूता शुद्धानुभूति र्निखिलार्थधात्री
सा चेतसो गीतिरसा कुतश्चित् स्वयं स्वमत्ता प्रभवेत् कदाचित् ॥४॥

कवि यंत सृष्टिमिमां समस्ता पश्येत् शिवां रम्यतमां च सत्याम्
यस्या विशाला स्वत एव बुद्धि र्मन प्रफुल्ल विभु निर्मलं च ॥५॥

अनन्तगुह्यार्थविभासक तत् दिव्यं मह. किन्तु कुतोऽधिगम्यम्
बीजप्रवृत्ति र्मनुजस्यवृत्ति. कदा पर नेह विकासशीला ॥६॥

तरंगितेयं च पुन स्वकृत्ये नैवेक्षते कंचन दोषकोषम्
तरंगिणी या सतत स्वभावात् प्रायः स्वतन्त्रा स्वगत विधत्ते ॥७॥

मनोविचारान् प्रकटीकरोति स्वाभाविकीय प्रकृतिर्जनस्य
तस्मान् मदीयापि मन कथेयं निवेद्यते पद्यमयी सुहृद्भ्य ॥८॥

---

* श्री नागरी भण्डार भवन के मध्यवर्ती भव्य हंस सरोवर मे विराजमान विद्याधर शास्त्री की इष्टदेवी माता सरस्वती की विशिष्ट वन्दना ।

गीतं यथा गीतमहो पुराणै स्तथा न गातु विभवो मदीय
श्रुतानि गीतानि परं कवीना तान्येव गुञ्जामि मनोविनोदी ॥९॥

भानुप्रकाशे प्रतते प्रकामम् सदा सुरम्ये च शशिप्रकाशे
खद्योतरेखापि विभाति रात्रौ स एप धर्मः प्रकृतेरनादिः ॥१०॥

दिव्यै प्रकाशैश्च तमोऽपहारे कृतेऽपि तन्नश्यति नैव कृत्स्नम्
क्वचित् शलाकैव भवेत्कृतार्था सर्व निजस्थानगत हि रम्यम् ॥११॥

जानेऽथ का नाम गतिर्मदीया कविप्रसगे भविता भवेऽस्मिन्
सरस्वतीतीर-विहाररोधी वृतो विधि कोऽपि पर न धात्रा ॥१२॥

मन्ये च नेदं सरलं हि कार्य मनोरथ किन्तु जगद्विहारी
सृष्टो विधात्रा च जनो जगत्या सनातनायैव जयार्जनाय ॥१३॥

प्रतिक्षण यत्र मतिर्नवीना गति नवीनैव च यत्र नित्यम्
कथ न तस्मिन् नवमस्तु काव्य युगे युगे नव्यविमर्शशीले ॥१४॥

नव पुराण नच वेद्मि किञ्चित् सदा नव यस्य कृते पुराणम्
ह्रासो विकासश्च सदा समेतौ मह्य न भेदोऽस्ति हरे हरौ वा ॥१५॥

रोगो विचित्रोऽद्य गतश्च वृद्धि महानय सस्कृतपण्डितानाम्
हितैषिभिः सत्वरमेव शाम्यो विलोक्यते येन नव न किंचित् ॥१६॥

निजात्मविश्वासविहीनवृत्ति सदा पराधीनमतिश्च कश्चित्
गदो महान् नव्यविकासरोधी साहित्यसम्वृद्धि-विनाशकोऽयम् ॥१७॥

अद्यापि कि नैव मनोविकासा ह्रासा विलासाश्च भवे भवन्ति
जीर्णो न नष्टो जगदन्तरात्मा विकासशील स सदा स्वभावात् ॥१८॥

नास्यौषध वेद्मि गदस्य सम्यक् तद्देयमग्रे निपुणै भिषग्भि
यथा प्रतीत कथित तथा तत् परीक्षणीय सतत सुधीभि ॥१९॥

न दूयता कस्य मनश्च लोके न भावनाशून्यमिद यदि स्यात्
विलोक्य धर्माद्विमुखै दिवान्धै सद्भारतीया स्वगति निरुद्धाम् ॥२०॥

यद् वानरैरद्य विवेक शून्यै रुद्यानवीथी क्रियते विदीर्णा
पथि स्थितैश्चापि विधेय एव स्वल्पोऽपि कश्चित् प्रतिरक्षियत्न ॥२१॥

धूमावृता हन्त कृताद्य यस्मात् सत्सस्कृति भारतजा स्वमौर्ख्यात्
केनापि सत्येन महौजसा सा संदीपनीया त्वरयैव विज्ञै ॥२२॥

यज्जीवन धर्मविवेकपूर्णम् समग्रससारशुभाभिकांक्षि
सर्वात्मसन्तृप्तिपरञ्च नित्य व्यग्रं तदेज्जठराग्निशान्त्यै ।।२३।।
तस्माद् गवेष्यं शुचिजीवनं तत् निदर्शनं भारतसभ्यताया.
सद्भावसौम्यं शुभकर्मरम्यम् यस्मात् भवेन्न. सुलभ. स्वमार्ग ।।२४।।
दृष्ट्वा गति किन्तु मनो सुताना हत्यारताना ज्वलता कुभावै.
परस्परं निन्दनतत्पराणा कं स्तौमि निन्दामि च क जगत्याम् ।।२५।।
अद्यापि काचिद् यदि शुभ्ररेखा तन्वी भवन्ती तमसि प्रगाढे
विभासते, संस्कृतसस्कृतौ सा, रक्ष्या न यावत्प्रभवेददृश्या ।।२६।।
ज्ञानोज्ज्वला· शाश्वतदृष्टिशीला जयन्ति ते संस्कृतविज्ञवर्या
संरक्षितं यै शतशोऽप्यनार्यै रुपप्लुतं भारतगौरवं न. ।।२७।।
नक्तदिवा यैश्च विशुद्धबोधै· कृतं सुकृत्यं जनजन्मशुद्धयै
परोपकृत्या च निजोपकार दृष्ट स्वदेशो भुवनत्रयेच ।।२८।।
यदृच्छया लब्धकणै: सुतुष्टा गोवृन्दवासै परिपूतगेहा
स्वाध्यायसौख्ये नितरा निमग्ना समर्प्य सर्वं प्रभवे विशोका ।।२९।।
विलोप्य सर्वानपि विश्वभेदान् यैरैक्यदृष्टि जंगति प्रपुष्टा,
वेदप्रकाशेन विभासमाना कृता सदा यै जंगतां त्रयीच ।।३०।।
तेष्वेव विद्वत्सु विभासमानो बुधाग्रगण्यो हरनामदत्त.,
सदा सदाचाररतस्तपस्वी भाष्ये सुविख्यात मति मंनस्वी ।।३१।।
आसीन्महात्मा महनीयमूर्ति काचिद् विभुति जंनजीवनस्य
दिव्यावतार सुकृतस्य साक्षात् शास्त्रेषु नित्य धृतधर्मवुद्धि· ।।३२।।
गति समाश्रित्य बुधस्य यस्य प्रबोधिनी धर्ममते रदस्याम्
निरूप्यते सस्कृत जीवनेऽस्मिन्* पुण्या कथा· सस्कृत सस्कृतानाम् ।।३३।।
गुरु गंरीयान् स पितामहो नः विद्वद्वरै रंचित—पादपद्म
कृत्यानि सस्मृत्य शुभानि यस्व स्वय सुवुद्धि भंजते विकासम् ।।३४।।
नेयं प्रशसा स्वकुलस्य काचित् सत्यप्रकाशाय निमित्तमेतत्
शिष्यै यंथाशक्ति सदैव सर्वै गेंय सदा सद् गुरुगौरवञ्च ।।३५।।
गृहे गृहे सद्गुणवर्धनार्थं गुणा गुरूणा च सदैव गेया
गुरून् सदैवार्यकुलप्रसूता देवस्वरूपान् गणयन्ति नित्यम् ।।३६।।

---

* हरनामामृतम्—सस्कृत जीवनम् नाम की काव्यावली का ही एक अग है।

रक्ष्यश्च किं ते मनुजै कृतघ्नै रुपेक्षिता यै र्गुरवोऽपि पूज्या
भवन्तु सर्वेषु कुलेषु मान्या. सर्वंश्च सर्वंस्तवन करोतु ॥३७॥
विलक्षणैव प्रतिभाति लोके का नाम शक्तिश्च जने जने न
साख्ये हि सर्वे पुरुषा स्वतन्त्रा विकारशून्याश्च भवन्ति लोके ॥३८॥
उदारचित्ता समबुद्धिधीरा सदा सदाचाररता. प्रशान्ता.
कथ बुधास्ते नच वर्णनीया आलोकिता यै र्जगती समस्ता ॥३६॥
सर्वेऽपि सज्जीवनसाध्यसिद्ध्‌य सिद्धानमून् शुद्धधिया प्रयान्तु
विहाय मार्गं सरल वृथैव भ्रष्टाश्च वक्रे न भवन्तु सन्त ॥४०॥
एषा सता संस्कृतसस्कृताना स्थिति स्थिरा सस्कृतजीवनेऽस्मिन्
सनातनीय सरणि सुसेव्या लक्ष्याधिगत्यै नियता प्रकृत्या ॥४१॥
हरनामामृत चास्मिन् विज्ञै पूर्व निपीयताम्
गीयन्ताच ततो गाथा. सर्वेषा सुधिया शुभा ॥४२॥
साहित्य सुरभारतीपरिणत विश्वात्मसन्तर्पणम्
ब्रह्मास्वादसहोदर विधिसुता — वीणाक्भर भावुका !
वेदेष्वेव विभासित भगवता पूर्ण हि पूर्णेषु यत्
किं कश्चित् कवता नव परमहो रुद्धा न वाचां गति. ॥४३॥
सन्मत्यै जगदीश्वरी विजयते नित्य शुभा शारदा
काव्यालोचनतत्पर· सुकविता-स्रष्टा च मे सोदर !
विद्वान् भारतसस्कृते दशरथ. ख्यातो बुधानां व्रजे
लोकोऽयश्च सदा नवानुभवद किञ्चित्तत. कल्प्यते ॥४४॥

इति विद्यावाचस्पति श्री देवी प्रसाद शास्त्रि-
तनय-विद्याधर-शास्त्रि-विरचिते
हरनामामृते प्रथमः सर्गः



हरनामामृते द्वितीयः सर्गः

(ब्रह्मर्षिदेशः पुत्रैषणा, मातृत्वम्, संतुष्टंजीवनम्)

निसर्गरम्या भुवनान्तराले धात्रा धरित्री रचिताऽद्वितीया
विश्वम्भरा सर्वसमृद्धिपूर्णा तस्या च सद्भारतमद्वितीयम् ॥१॥
यस्मिन् प्रदेशो भुवनप्रसिद्धो ब्रह्मर्षिदेशोऽखिलदेशभासी
सारस्वतो यत्र सदाप्रवाहो दृषद्वती यं सरसं विधत्ते ॥२॥
यत्र स्थितानां च महीसुराणाम् आदर्शभूतो व्यवहारजात·
मनुस्मृतौ सर्वमनुष्यजाते ग्रारित्र्यशिक्षा-गुरुणाप्यशंसि ॥३॥
तत्रैव शान्ता भव-भक्तिरक्ता तपस्विन कर्मविधिप्रसक्ताः
तृवर्गतृप्ता विमलात्मबोधा द्विजाग्रगण्या न्यवसन् नमस्याः ॥४॥
स्वय निवृत्ता अपि लोकवृत्ते इच्छा. परेषां परिपूरयन्त·
सन्मार्गयात्रारसिका कुलीना धर्म-प्रवीणा भवपोतवाहा ॥५॥
सद्दर्शनेनैव जनाश्च येषां कामं पपु. शान्तिसुधां कृतार्था·
आकर्ण्य वाचश्च विशुद्धसत्वा अलौकिकं सत्पदमाश्रयन्त ॥६॥
तेष्वेव सद्विप्रवरेषु सौम्यो मुरारिदत्तो हरदत्तचित्तः
गोत्रे भरद्वाज मुने पवित्रे बभौ बुधो ब्रह्मविदा वरिष्ठ. ॥७॥
मन्त्रक्रियाया रससाधने च व्यासक्तवृत्तिः स्थिरचित्तवृत्ति·
गोसेवया शंकरसेवया वा निनाय कृत्स्न समय सुखेन ॥८॥
कर्तव्यमित्येव कृत च कुर्वन् नह्यर्थकामो नच कीर्तिकाम·
नित्यं यथाशक्ति परोपकारी हयाधिरूढो विजहार विप्र. ॥९॥
सन्तोष-पोषी जितरोषदोष· सदा प्रसन्नोऽतिथिदेवसेवी
सुखेन कुर्वन् भवयाजियात्रा बभूव विग्नोऽपि यदा कदाचित् ॥१०॥
देवर्षिकार्यादनृणोऽपि नाहं नूनं पितृणाम् ऋणतो विमुक्त.
तत्शोधनं किन्तु जनाश्रितं न स्वय विधिश्चेन्नहि शोधयेत्तत् ॥११॥
मर्त्यस्वभावेन विषण्ण एव प्राय.स चिन्ता विकलो बभूव
सम्बोधितश्चापि मनो न मेने मौन स तस्मात् व्यथते स्म चित्ते ॥१२॥

वात्सल्यसौख्यानुभवाय केचित् केचित् स्वराष्ट्रोन्नतशक्तिवृद्ध्यै
केचित् निजोपार्जितवित्तभुक्त्यै पुत्रान् जगत्यामभिकामयन्ति ॥१३॥
आर्याः पितृणाम् ऋणशोधनाय ज्ञानप्रकाशाय शुभार्जनाय
यश प्रसाराय च यज्ञपूर्त्यै वाञ्छन्ति पुत्रान् कुलवर्धनाय ॥१४॥
चिन्ताभिभूतोऽपि सुताधिगत्यै नासौ परं भूरि चिचिन्त चित्ती
स्थिति गृहिण्यास्तु विचिन्तयन्त्या विचिन्तनीयैव बभूव किन्तु ॥१५॥
सृष्टा विकासाय भवे भवाय स्वभावत स्नेहयी कुलस्त्री
लभेत शान्ति न विकासशून्या सर्वः स्वभावानुगतो जगत्याम् ॥१६॥
मातेति तस्या अरमो विकास तत्रैव तस्या जगती कृतार्था
भोगाय सृष्टा नहि केवल स्त्री कि नाम जाया जननी नचेत् सा ॥१७॥
स्नेहस्यधारा यदि सेचनार्थम् प्राप्नोति किञ्चिन्न मृदुस्वभावम्
तत्रैव सा शुष्यति तर्हि शान्ता मृषैव पापार्णवयं च नैति ॥१८॥
समीक्ष्य तां खिन्नगति गृहिण्या ययौ स तस्मात् शरणं शिवस्य
सम्पूर्यते यत्र मनोऽभिलापा नोपेक्ष्यते यत्र वचश्च दीनम् ॥१९॥
लक्ष्यैक दृष्टि स्तवनप्रवृत्तो धृतव्रतोऽसौ शिवभक्ति-निष्ठ.
स्तुवन् निवृत्तो जपतः कदाचित् मनोगतं शङ्करमित्थमाह ॥२०॥
शम्भो स्वयं वेत्सि मदीयहृद्यम् निजात्मने किं बहु जल्पनीयम्
विज्ञोऽपि किन्त्वज्ञ इवासि मौनी तस्मादिदं स्पष्टमहं वदामि ॥२१॥
सर्गे हि ते सर्वसुखाभिरामे 'नाह सुखी' नेति मृषा प्रभाषे
सदा स्वतन्त्रो विहरामि काम केनापि पापेन च नास्मि दग्ध ॥२२॥
ईर्ष्या परेषामुदये न काचित् द्वेषो न केनापि मनोविदारी
स्वस्थ सदा स्वात्मरति प्रसन्न सुखं स्वकीय समयं नयामि ॥२३॥
नाह पराधीनमति भुंजिष्यो न चापि तृष्णाधिविमर्दितोऽस्मि
हसामि गायामि सदा सुहृद्भि वंदामि शोचाम्यनियन्त्रितश्च ॥२४॥
एको विकल्पो हृदयप्रमाथी मां बाधते किन्तु भवे तवास्मिन्
येनाभिभूतो विजहामि धैर्य निद्रा च दूरीभवति क्षणेन ॥२५॥
न सशयैरस्थिरमानसोऽह स्थाणौ स्थिरा मे त्वयि शुद्धबुद्धि
सुधांशुशीतोऽपि सुधाह्लदे किं दाहानुभूति वत किन्तु कुर्वे ॥२६॥

जाता नचेन्मे पितरः प्रसन्ना सुख मदीयं ननु किंसुखंतत्
म्लाने हि मूले न तरौ प्रसूनं नचापि काचित् सुषमा वनान्ते ॥२७॥
निराश्रया भ्रातृचतुष्टयी मे सन्तानहीना श्वसिति प्रतप्तम्
साध्या समस्या मनुजेन नेयम् विना कृपां ते भुवि दीनवंधो ॥२८॥
गेहेऽस्मदीयेऽपि भवेद्यथा ते सा वाललीला सुखसृष्टिशीला
कुर्या. कृपा तां भव साम्प्रतं त्व शून्यं गृहं ते कथयन्त्यपुत्रम् ॥२९॥
भवन्तु तृप्ता पितरोऽस्मदीया जायाश्चजायात्वमथाभियान्तु
तथाविधा तेऽस्तु कृपाद्य सद्यः किं वाच्य मन्यत् पुरत· पुरारेः ॥३०॥
सर्वान्तिमं यत्र निवेदनं न स्तत्रैवमेतद् विनिवेद्य सर्वम्
मौन क्षणं तिष्ठति शङ्कराग्रे तस्मिन्द्विजाग्र ये दृढभक्तिभाजि ॥३१॥
विकासयन्ती भवन समन्तात् क्षणेन सद्यो मनसि स्फुरन्ती
विश्वाससारा दृढभावनेय समुत्थिता कापि नभोगिरेव ॥३२॥
"उत्तिष्ठ भो ब्राह्मण गच्छ गेहम् गृहस्थधर्मं चर सुप्रसन्नः !
स्वभावसिद्धा शुभभावनायाः सङ्कल्पसिद्धिं भुवने भवस्य" ॥३३॥
इति श्रुतं श्रावयिता न कश्चित् दृष्टोऽथवा दर्शयिता च कोऽपि
नत्वा शिवं स्वात्मगृहं प्रतस्थे चेतोगति. किन्तु चलाऽचलासीत् ॥३४॥
मार्गेऽथकेनापि विदाम्बरेण पृष्टः कथं भूरि विभासि विप्र.
रहस्यमस्मै विवृतीचकार शिवालये यत्त् यथानुभूतम् ॥३५॥
निशम्य सर्वं द्विजवर्य ऊचे प्रभोः प्रसादो मनस. प्रसाद.
मनोरथस्ते फलितोऽद्यसर्वो ब्रूते न देवो वचसा स्फुटेन ॥३६॥
कृपाप्रसादं शिवशङ्करस्य शीघ्रं गुणाढ्यं तनयं लभेथा
चिन्ता न काचिद् गिरिजा गृहस्थे भवस्य भक्तिश्च न कदापि वध्या ॥३७॥
पुण्यैं मंहात्मन् भवताद्य लब्धा स्वाभीष्टपूर्तिर्दृढनिश्चयेन
परम्परा या च कुलेऽस्मदीये यत्नैं सदा सापि सुपालनीया ॥३८॥
सेवा गवा ते भवतु प्रधाना न गव्यपण्यं स्वगृहे विधेयम्
न वैद्यवृत्तिश्च धनस्य हेतो. कुलस्य वृद्धिं विपुलां लभेथा ॥३९॥
प्रणम्य सर्वं शिरसा विनम्र तथैव जग्राह वचो बुधस्य
फलेन शून्या न सतां समीहा श्रद्धा च नित्यम् स्थिरतां प्रसूते ॥४०॥

तस्मान् दिनान् सस्मरणीय वृत्तात्
पर शुभोऽय समयोऽद्य यावत् ।
सरक्ष्यते तस्य कुले समस्तैः
सेवा सदैव क्रियते गवा च ॥४१॥
अथ कतिपयमासानन्तर भासमाना
नवदिनकररेखा कापि यत् प्रादुरास ।
बहुविधभय-भीमा तामसी सा विलीना
प्रभुपदनिरती तौ तुष्टुवाते च गम्मुम् ॥४२॥

इति हरनामामृते द्वितीयः सर्गः



हरनामामृते तृतीयः सर्गः

(कृतार्थौपितरौ, अस्थिरंजीवनचक्रम्. स्वतन्त्रोबालस्वभावः, पराधीनाऽद्यतनी जीवनगतिः, व्यायामस्थली, वैवाहिकं बन्धनम्)

कृतौ कृतार्थौ पितरौ विधात्रा जातौ प्रसन्नौ कुलवर्धनेन
फलप्रतीक्षा सुफलेन पूर्णा ऋणम् पितृणामनृणञ्च जातम् ॥१॥
प्रभुप्रसादोऽधिगतो जनन्या मनोगति र्मोदमयी च सर्वैः
पुत्रोत्सवे सर्ग-विकासमूले गृहे गृहस्थै रभिगम्यते या ॥२॥
कालादनादे र्विविधै प्रवाहै र्नाना कुलानां जननी पुराणी
आशासरित् यत्पुनरद्य हृद्या शुष्काऽपि पूर्णेव ससार सौम्या ॥३॥
स्वभाव एष प्रकृतेरनादि प्रमोदते सा स्वसुताभिवृद्धया
वर्षागमे तत्र पदे पदे कै र्दृष्टा प्रहृष्टाऽभिनवाकुरै सा ॥४॥
धन्यं कुलं धन्यतमा पुरी सा गगाधरी धर्मधरासमृद्धा
लेभे स यस्यां वरजन्म पुण्यं जगद् विभातु स्वमतिप्रभाभिः ॥५॥
नित्यं जगत्यामभिनन्दनीयं तस्यैव सज्जन्म जनैः समस्तैः
सहस्रशो यस्य विकास हेतोः सर्गात् लभन्ते मनुजा विकासम् ॥६॥
अभूदयं संस्कृलसस्कृताया भाग्योदयो भारतसभ्यतायाः
सन्मार्गदर्शी सुरलोक हर्षी विद्योदय. कोऽपि बभूव दिव्य ॥७॥
विधाय शास्त्रानुमतानि सद्यः संस्कार-कर्माण्यखिलानि तस्य
हरेणदत्तः कृपयेति तात तन्नाम चक्रे हरनामदत्तम् ॥८॥
पूर्णानि सर्वै र्गृहवर्तिसौख्यै स्ततो व्यतीयुः कतिचिद्दिनानि
स्थितं तथा नैव परं चिरं तत् स्थिरं न यज्जीवन-चक्रमेतत् ॥९॥
नैका स्थिति र्यत्र कदापि काचित् तज्जीवनं हन्त सदा विचित्रम्
हसन् क्षणेऽस्मिन् परतो रुदन्सन् यस्मिन्नरो हन्त विरौति दीनम् ॥१०॥
जहौ न सूनुं हृदयैकसारं कार्यानुरोधादपि या क्षणेन
तामेव सद्यो वत हर्तुमस्मात् रताय कालाय नमो नमोऽस्मै ॥११॥
समर्प्य मौन तनयं स्वकीयं स्तनधयं ज्येष्ठपितृव्यपत्न्यै
जगाम सा तत्र गता हि यस्मात् लोकं पुनर्न प्रतियन्ति केचित् ॥१२॥

हरेणदत्तं हरदेइ देवी पुपोप सा तं सुतनिर्विशेपम्
मनोविरुद्धश्च न तस्य किञ्चित् तया कदाचित् हृदयेऽप्यकारि ॥१३॥
धावन् सुवत्सैरजिरे प्रसन्न· खेलन् वयस्यै र्मुदितश्च नित्यम्
क्षणे प्रसन्न कुपित क्षणेन वालोह्यसौ कस्य मनो न जह्रे ॥१४॥
क्षणे क्षणे काञ्चन नव्यभावा विशेपता मेष विकास्य खेलन्
अवाप शिक्षासमयामवस्था यस्यां द्विजत्वम् मनुजा लभन्ते ॥१५॥
शुभे मुहूर्ते शुभवासरे च गुरो कुलं त जनको नियाय
तस्थौ क्षणं तत्र परन्तु नासौ कारागृह तत् हृदि मन्यमान ॥१६॥
वाला: प्रकृत्या मृदव· स्वतन्त्रा क्षणेन वन्ध. सुकरो न तेपाम्
लीलापरास्ते स्वतरङ्गसारा भवन्ति लीलारसिकावतारा ॥१७॥
जानन्ति ते नो जनजन्म लोके सृष्टं विधात्रा परतन्त्रतायै
दमाय चेतोलहरीगतीनाम् स्वकर्मणा चात्र फलानि भोक्तुम् ॥१८॥
क्रीडामयी नित्यमहो व्यलोकि क्रीड़ापरैस्तै र्जगती समस्ता
वाल्यात् पराधीनमनोगतीना किं जीवनं किन्त्वधुना जनानाम् ॥१९॥
जाता वय दास्यपरम्पराया सञ्चालका केचन जन्मजाता
व्यक्तित्ववेवी निजवधनार्थं सामाजिक को न विधि र्वृतो यैः ॥२०॥
स्वार्थाय वद्धा प्रकृति-स्वतन्त्रा मूका वराका हि मृगा वनेभ्य·
संस्थापिता आयस पञ्जरेपु स्वाधीनचारा विहगाश्च दीना ॥२१॥
न तस्य वृत्ति र्भविता तथा यत् धात्रा जनानां रचितो विमुक्त्यै
अनुसृतस्तद् विविधै र्वयस्यै वभ्राम तत्तद्-वनवाटिकासु ॥२२॥
क्वचित्फलाना मवलुण्ठनेन क्वचिन्नदीना मवगाहनेन
क्वचिच्च रथ्यासु वृथा विहारै र्व्यत्यापयामास दिनान्यमूनि ॥२३॥
प्रेम्णाथ लोभेन च ताडनाद्यै सम्प्रेर्यमाणे च विभत्स्यमाने
सर्वैरुपायै रवशीकृतेऽस्मिन् श्रान्तोऽवशेषे गुरुरित्थमाह ॥२४॥
अस्यां नगर्यां विचरन् स्वतन्त्रो नासौ त्रिकालेऽपि पठेत् कथञ्चित्
प्रेष्य. क्वचिद्यत्र भवेद् विधेय गेहेऽथवा नित्यमय सुरक्ष्य ॥२५॥
क्रीडापर. कूर्दति धावनात्मा कदाप्यधीते न च वर्णमेकम्
स्वय विरक्तोऽध्ययनाद् विरक्तान् वालान् स्वतन्त्रानपरान् विधत्ते ॥२६॥

गुरो· सकाशादतिचिन्तनीय श्रुत्वापि सर्व मृदुमानसेन
कुलैकसूत्राय सुताय पित्रा नावोचि किञ्चिन्मृतमातृकाय ॥२७॥

कृतेऽपि यत्ने यदि नास्ति पूर्ति. प्रतीक्षणीय· समयोऽपि विज्ञैः,
भाग्ये भवेद्यद् घटता तथा तत् फलेन्न किञ्चित् समयात् पुरस्तात् ॥२८॥

शुभाशिषायं सतत सुपोष्य. कृपा च रक्ष्या हृदये सदास्मै
ध्रुवं जगत्या जगतीप्रसादो गुरुप्रसादात् सुलभो जनेभ्यः ॥२९॥

एवं हि तातेन कृतः स्वतन्त्रो मुक्तश्च विद्यालयबन्धनेभ्य.
मनोऽनुकूलं विहरन् कदाचित् व्यायामशालां स गत· सुहृद्भि. ॥३०॥

मल्लान् मिथोघर्षणासनिलीनान् दृष्ट्वा ततः तत्र विशालकायान्
तेषा स्वभावेन मनोऽस्य मुग्ध शक्तिर्हि शक्ति तरसाभियाति ॥३१॥

निरातपे शाखिसमीरसान्द्रे बालातपे वा शिशिरे प्रकामम्
गत्वा प्रशान्ते विपिने विविक्ते स पोषयामास शरीर शक्तिम् ॥३२॥

नानाविधै पक्षिरवै प्रमत्ते द्रुमै फलाढ्यै· परिभूषिते च
सरित्तटे वा सरसां हि तीरे वृथाऽक्षिणोदित्यमसौ स्वकालम् ॥३३॥

नित्यम् प्रसक्तश्च शरीरमर्दे दुग्धस्य पाने घृतसेवने वा
मल्लाङ्गणे मल्लकथाप्रमत्त. सस्मार साध्यं किमपीह नान्यत् ॥३४॥

अद्यापि तन्मल्लपदे प्रसिद्धे साभ्यङ्गभङ्गी स्फुटमेव भाति
कृष्णापि शुद्धा परुषापि मृद्वी मृत्सा यदीया प्रथिता ससारा ॥३५॥

विराजते चात्र जितेन्द्रियस्य श्री रामदूतस्य मनोजवस्य
मूर्ति विशाला भवभीतिहन्त्री विशाल-बुद्धे पवनात्मजस्य ॥३६॥

यद्दर्शनेनैव बलस्य वृद्धि निर्भीकता चैति जनस्य चित्ते
स्मृत्वा च यन्नाम नरा अधीरा. सद्यः स्वधैर्यम् हि पुन र्लभन्ते ॥३७॥

तत्रैव निश्चिन्तमति. स्वमस्त स ब्रह्मचारी दृढवृत्तिधारी
अचेतने चेतनशक्तिदात्री शरीर-शक्ति ववृधे विशालाम् ॥३८॥

न निर्बलै रात्मबल हि लभ्यं नच प्रकाशोऽपि सहोऽसमर्थै
जीर्णे विशीर्णे विकले शरीरे र्न कापि शक्ति र्नच कोऽपि बोध ॥३९॥

समीहमान. स्वकुलस्य वृद्धि पिता विवाहेन नियन्त्रित तम्
सम्प्राप्य काञ्चित् सुकुलप्रसूता गुणान्विताम् सर्वविधिप्रशस्ताम् ॥४०॥

स्थानेश्वरात् हर्ष–विकासभूमे गीताप्रकाशेन विभासमानात्
सुलक्षणा सौम्यवधूं विधाने हर्षातिरेकेण गृहम् निनाय ॥४१॥
जाते विवाहेऽपि गृहस्थधर्मे काचिद्गति र्नास्य बभूव किन्तु
मल्लस्वभावः पृथगेव कश्चित् प्रेयान् रसस्तस्य च भिन्न एव ॥४२॥
शतै र्जनाना परिवारितोऽसौ सर्वत्र विख्यातबल स्ततन्त्र
पुरेव काम नगरस्थलेषु स्वच्छन्द वृत्ति सततम् चचार ॥४३॥

अस्या स्थितौ परमखिन्नमति र्मुरारि
गंत्वा मुरारिशरणं विनतो ह्यु वाच
यन्नो घटेत भुवि यत्नशतै कथंचित्
सद्यस्तदेव घटते भगवत्प्रसादात् ॥४४॥

इति हरनामामृते तृतीयः सर्गः



हरनामामृते चतुर्थः सर्गः

(मल्लस्वभावः, प्रकृतिजनितम् परिवर्तनम्,
यज्जीवनं तद्यश एव लोके, काशीयात्रा)

विरम्य नित्याह्निकभर्त्सनात्तत् प्रतीक्षमाणः समयं हि सौम्यम्
प्रभो विधानाय समर्प्य सर्वम् तूष्णीं स तस्थौ कतिचिद्दिनानि ॥१॥
स्वस्मिन्नुदासीनमति सदैवं खिन्नं तथा तं च समीक्ष्य तातम्
ब्रूते यथापूर्वमयं न कस्मात् मयेति पुत्रोऽप्यवशं व्यचेतीत् ॥२॥
प्रसादनायैव पितु र्ययौ तद् गुरो गृहम् पुस्तकपाणिरेष
कार्यं क्वचित् कारणतो जगत्यां पृथग् विचित्रं श्रयते स्वरूपम् ॥३॥
निरीक्ष्य तस्मिन् परिवर्तनं तत् पितुर्मनश्चापि दधार धैर्यम्
स्वय कदाचिल्लाभता स्वलक्ष्य गति गृहीत्वाभिनवा स मग्नौ ॥४॥
प्रीत स पुत्रं निजगाद भद्र ! त्याज्यस्त्वया सम्प्रति मूर्ख संग.
मौनेन यत्तेन नतेन मूर्ध्ना श्रुत वचस्तत् स वभूव तुष्ट ॥५॥
अथैकदा वामनपर्वपक्षे समाकुले जानपदैश्च पौरैः
महोत्सवे सर्वजनाभिरामे महोत्सवोऽभूत् परम. प्रसिद्ध ॥६॥
नानाप्रदेशागतमल्लवीरा विशालवक्ष स्थलदीर्घजंघा
प्रदर्शयन्त. स्वकला विभिन्ना प्राहर्षयन् दर्शक - चित्तवृत्ती ॥७॥
तेष्वेव कश्चित् स्वबलाभिमानी विचूर्णयस्तन्नगराभिमानम्
लोकान्मुहु र्धर्षयति स्म यस्मात् शशाक सोढुं नहि तन्मनस्वी ॥८॥
मल्लस्वभावेन हृतात्मधैर्यो विस्मृत्य सर्वाणि पितु र्वचांसि
सम्प्रेर्यमाण. समयेन तेन क्षणेन मल्लाङ्गणमाविवेश ॥९॥
विधाय नाम स्मरणं गुरोश्च ध्यायंस्तथा मारुति वीरमूर्तिम्
आस्फालयन् बाहुतटं विशाल धूली स रंगस्य दधार मूर्ध्नि ॥१०॥
परस्पर मल्लकलाभिलीनो हस्तेन धृत्वा प्रतिमल्लहस्तम्
सम्पश्यतामेव ततो जनाना न्यपातयद् भूमितले भट तम् ॥११॥
स्फूर्त्या स्वशक्त्याऽतुलयाथ दीप्तां स्वस्थान कीर्तिम्पन्ति प्रथयन्
मुरारिसूनु विजयी विरेजे क्षणे क्षणे नव्यजयाभिघोष ॥१२॥

हृष्यत्सु लोकेष्वपि न किन्तु तात सेहे वचो भङ्गमिम सुतस्य
कथ पुन पूर्वगति गतोऽय पठेदसावित्यधिक विषण्ण ॥१३॥
वच शरैस्तीक्ष्णतरैस्तदेन विद्धं स चक्रे सुहृदा समक्षे
मुहुर्मुहु र्भर्त्सयते स्म चैनं "मुखम्पुरो मे नहि दर्शयेति ॥१४॥
अपि स्वभाव जनकस्य जानन् मर्माहतोऽय सुहृदा समाजे
क्षुब्ध. क्षणं स्तब्ध इवात्र तस्थौ ससार मौनं च ततः स खिन्न ॥१५॥
तैस्तै विकल्पै विचलात्मवृत्ति विहाय सर्वान् सुहृदोऽथ बन्धून
निर्लक्ष्यगामी व्यवसाय शून्यो बभ्राम बाह्येषु पुरस्थलेषु ॥१६॥
दैवात्तु मार्गे मिलितेन तावत् केनापि वृद्धेन स तत्र पृष्ट
"कि भो कथ भ्राम्यसि काननेऽस्मिन् कथ च ते नाद्य मुखम्प्रसन्नम् ॥१७॥
कि नूतनं कारणमद्य जातम् सदा प्रसन्ने यदुदेति चिन्ता
विज्ञाय हेतु स उवाच तस्मै नाद्यापि ते बाल मतिर्विलुप्ता ॥१८॥
क्रोधोऽपि पुत्राय शुभाभिलाषी हिताय नित्यं जनकोपदेश
त्वयापि कार्य हि तदेव तस्मात् येन प्रसीदेज्जनकान्तरात्मा ॥१९॥
विद्याप्रकाशो द्विजगेहभासी विभुः स्वभावाच्च भवप्रकाशी
सर्वप्रतिष्ठाजनक. स लोके हेतुश्च सौख्यस्य सनातनस्य ॥२०॥
उच्चै प्रशसावचनै रुदीर्णा क्षणाय लब्धा यदि साधुवादा
तेषाम्प्रभाव क्षणमात्रवर्ती प्राप्तुं स्थिरां तत् प्रयतस्व कीर्तिम् ॥२१॥
गृहे स्थिता ते गृहिणी क गच्छेत् करोतु तातस्तव वा किमन्यत्
तपासि तप्त्वा स्वकुलस्य वृद्ध्यै प्राप्तोऽसि तद् वेत्सि न किं कुबुद्धे ॥२२॥
तद्वेद्मि सर्व नहि किन्तु वेद्मि क साम्प्रतं मे स्थितिरस्तु काचित्
स्थेय गृहे नेति दृढो विचार तातो भवद्भि परिसान्त्वनीय ॥२३॥
वयो व्यतीत समयो व्यतीत पठामि कि पाठयताच्च को माम्
व्यायामसौख्येन सम न सौख्यं हेयो न सद्यश्च मनोऽनुषङ्ग ॥२४॥
एतावदुक्त्वा प्रणमन् ततोऽसौ तस्मात् प्रदेशात् त्वरितम्प्रतस्थे
वृद्धोऽपि मौनं निजगाद खिन्नो बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा ॥२५॥
अलक्षितोऽटन् यमुनातटेन प्रस्थम्प्रयेदे तत ऐन्द्रमिद्धम्
नाज्ञासिषुस्तस्य गतिं च केचिद् गवेषयन्तोऽपि गुरु-प्रयत्नै ॥२६॥

तत्रापि मल्लै र्यमुनाप्रदेशे कृतादर· कीर्तिमवाप्य ह्यस·
निनाय पोरैरभिनन्द्यमान सुख स्वकाल स्वकलानुकूलम् ॥२७॥

घटेत तत् किन्तु चिरं न लोके प्रिय न यत् स्यात् प्रकृतिप्रवृत्त्यै
अतर्कित सा बहुधा विधत्ते तस्माज्जगत्या बत कि न तत्तत् ॥२८॥

अस्मिन् क्षणे तद् घटित च सद्यो नतं शिरो येन सदोन्नतं तत्
कीर्ति· क्वचिद् यातुमहो प्रवृत्ता क्षणेन सर्व परिवर्तित च ॥२९॥

स्थिरं सदा किंचन नैव लोके कश्चिज्जयी वा न चिरं तथास्मिन्
बलाश्रितावेव जयाजयौ न प्राप्तौ तयो र्दैवमपीह मुख्यम् ॥३०॥

समुन्नते मूर्ध्नि नतेऽद्य जाते व्याप्ते प्रमोदे च विपक्षपक्षे
विडम्बितं ह्यस्य मनस्तदित्थ चिन्ताभिभूतं भृशमुच्चचार ॥३१॥

यशोविहीन नरजीवनं किम् यज्जीवन तद्यश एव लोके
यत्र स्थितं मानवतैव नित्य तत्रैव हीनोऽपि कथ वसेयम् ॥३२॥

गृहोत्सवाना सुखदे क्षणेऽपि स्थित· कदाचिन्न पुरा गृहे चेत्
बलेन बोधेन च वंचितोऽहं तत्रैव कि याम्यथवाऽद्य खिन्नः ॥३३॥

कि वा वदेयं बत तत्र पित्रे नाकर्णित यस्य वचः कदाचित्
किमालपेयं ह्यथवा गृहिण्या क्षणाय नालापि पुरा तया चेत् ॥३४॥

तस्माद् वर मे परदेशवास· तथाभिवृद्धिश्च शरीर शक्ते·
दृढेन विश्वासबलेन कीर्ति लुप्तां यथाहम्पुनरुद्धरेयम् ॥३५॥

व्यग्र निशम्यास्य समीहितं तत् हितैषिणा तेन महाशयेन
प्राबोधि कर्तुं सहसा न किंचित् समीक्ष्य निर्धारयितुं चलक्ष्यम् ॥३६॥

हिताय नित्य यतते परेषा स्वभावत· सज्जन-चित्तवृत्ति·
वचासि तेषां न मनश्च केषाम् प्रभावयन्त्यप्रतिमै· प्रभावै· ॥३७॥

मन्ये कुलीना न भवन्ति दीना न मानहीनाश्च वसन्ति मान्या
त्वमात्मशक्त्या नहि किंतु हीनो घन्से मृषा ग्लानिमिमां कुत स्त्वम् ॥३८॥

पराजितस्त्वं सहसा क्वचिच्चेत् शक्तोपि कि कि न परत्र जेतुम्
पराजयस्तत् यदि तेऽत्र जात· सद्यो यशस्वी भव चापरस्मिन् ॥३९॥

तस्मात्त्वयाद्यात्मनि पोषणीया शक्तिर्नवा कापि विलक्षणा सा
यया भवेत्मानव-जन्मसिद्धि र्भवे प्रसिद्धिश्च मनोऽनुकूला ॥४०॥

क्रियासु सर्वासु नवा स्वशक्ति. शरीरमात्रे नहि सा निवद्धा
विवेक शक्ते र्नहि कापि सीमा ह्रासेन युक्ता च शरीर शक्ति ॥४१॥
न केवल देहिकशक्तिभाक् त्व वृद्धे र्विकासोऽपि न ते विहीन
जानामि यत्त्वं क्षणमीक्षणेन प्राप्नोपि पूर्ण हि रहस्य-वोधम् ॥४२॥
अत्रैव शास्त्राध्ययन विधेय वाराणसी तद् व्रज वा तदर्थम्
यत्रोभयी साधु विवर्धते ते शरीरशक्तिश्च विवेकशक्ति ॥४३॥
नाम्नैव काश्या हृतचित्तवृत्ति. श्रीविश्वनाथस्य च दर्शनाय
वाराणसी पण्डितरङ्गभूमी गन्तु सयत्न स वभूव सद्य ॥४४॥
आदौ स्वय यत् कुरुते न मर्त्य स्तत् कार्यते तेन वलाद् विधात्रा
व्रजेन् कदा कोनु पथे हि कस्मिन् देवो न जानाति कुतो मनुष्य ॥४५॥
तस्मात् प्रतस्थे कृतनिश्चयोऽसौ विद्यावतामक्षयकोपभूमीम्
श्रीविश्वनाथस्य पुरी पवित्रा पुन पदाति स्वमन सहाय ॥४६॥
वीरस्वभाव पृथगेव कश्चित् श्रयेत मान्द्य न पराजितो य -
भवन्ति केचिद् विरता विघातात् केचिच्च तस्माद् द्विगुण वहन्ति ॥४७॥
नैकेन केनापि विशृङ्खलास्ते समुद्धता वा स्वसमुच्छ्रयेण
नचापकर्पेण भवन्ति दीना स्वसाध्यसिद्धयै दृढनिश्चया ये ॥४८॥
प्रचण्डतापा शिशिरा सकम्पा रजोऽभिभूता तमसावृता च
पुरातनी सा क्व पदातियात्रा पदेऽपदे श्रान्तिमयी सुदीर्घा ॥४९॥
विद्यार्थिन किन्तु कदा स्वकष्ट विद्याधिगत्यां गणयन्ति किंचित्
लक्ष्यैकदृष्टि र्मनुजो न विघ्नान् समीक्षते नापि विभेति तेभ्य ॥५०॥
कालोह्यय ते सुतशिक्षणाय कन्याविवाहाय धनार्जनाय
तद् गच्छ गेह त्यज वालवुद्धिम् मुक्त्वा च भोगान् भज रामनाम ॥५१॥
काश्या गतिस्ते ननु भाविनी का यस्यां गुरुणा गुरव पठन्ति
नो वेत्सि सूत्राणि चतुर्दशापि ज्ञातुञ्च सर्व यतसे क्षणेन ॥५२॥
कुर्वस्तु सर्वं श्रुतमश्रुत तत पश्यश्च मार्गे प्रकृतिस्थलानि
देवाधिदेव मनसा स्मरन् सन् वाराणसी प्राप स मत्प्रधुर्य ॥५३॥
विधाय गगासवन समीप्सितम् पुरारिसद्दर्शनतुष्टमानस
प्रणम्य दुर्गा नगरी विलोकयन् समागत संकटमोचके स्थले ॥५४॥

इति हरनामामृते चतुर्थः सर्ग.

हरनामामृते पंचमः सर्गः

(काशी हि सा पण्डित राजधानी, संस्कृत शिक्षालयानाम्प्राक्तनी दिनचर्या, गृहस्थ जीवन-वैचित्र्यम्, तपस्विनी भारतीया नारी)

विद्यालयाना विबुधालयाना कलालयाना च कुलैकभूमि·
अलौकिकी कापि पुरी त्रिलोक्या वाराणसी विश्वपते र्विभूति· ॥१॥
युगे युगे नव्यविमर्शशीलै. पुराण रक्षा-प्रार्थंत प्रतिज्ञै
विद्वद् वरेण्यै परि सेव्यमाना नित्य नवा याऽथ सदा पुराणी ॥२॥
यत्पण्डिता पण्डितराजवर्या श्रुतिस्मृतीनाम्प्रथिता विधिज्ञाः
विभान्ति संसत्सु विराजमाना काशी हि सा पण्डित राजधानी ॥३॥
अस्या व्यवस्थामधिगन्तुमार्या भ्रान्ते र्निरासाय च नित्यमेव
तत्तत्प्रदेशात् खलु भारतस्य प्रायो न के तत्र सदा समेता ॥४॥
अस्या हि पुर्या वसता बुधानामुदेति नित्यं स्वयमात्मबोध
सहैव चास्या वहत· प्रसन्ने सरित् सुराणा सुरभारती च ॥५॥
का नाम लोके नगरी पुरी वा तया कदाचित् समता करोतु
कण कणं यत्र कणादवृत्ति· सर्वान् विशिष्टान् भुवने विधत्ते ॥६॥
या तीर्थराजे सरति प्रसुप्ता सरस्वती कापि दृशो रहस्या
वीथीसु सर्वास्वपि सैव तस्या जागर्त्यलं स्व.सरिता सरन्ती ॥७॥
यस्या च नित्य विजया-तरंगा गंगा तरंगस्पृहया ह्यपूर्वम्
नित्य स्वलोक रचयन्ति नव्य दिव्य विमुक्त निखिलै रघोऽघै· ॥८॥
सद्यो जनायत्प्रभयोपगूढा सम्प्राप्य विज्ञान दृशा मुनीनाम्
ब्रह्माण्डपारात् परतोऽपि किञ्चित् क्षणेन पश्यन्ति विभासमानम् ॥९॥
मृत्युञ्जयस्य स्मरणेनकश्चिद् बिभेति मृत्यो र्नहि यत्र मर्त्यं
शिवं विधत्ते सततं जनेभ्य कालश्च यस्यामतिभैरवोऽपि ॥१०॥
सघृष्य संघृष्य युगान्तरेभ्यो यस्याञ्च विद्वन्निकषोपलेषु
स्वरूपमूल्य नियत लभन्ते विद्याविचारा सुपरीक्ष्यमाणा ॥११॥
तस्यां स काश्याम् पठनाभिलाषी महोदय स्वात्मगतम् निवेद्य
लेभे प्रतिष्ठाम् हृदये गुरूणाम् विद्यानुरागाय विलक्षणाय ॥१२॥

मल्लेऽपि तस्मिन् युवके विशालाम् ताम्प्रेक्ष्य शास्त्राध्ययनप्रवृत्तिम्
प्रीता बुधास्तस्य मनोरथम् तम् स्वयम् सनाथम् विदधु: कृपार्द्रा. ॥१३॥
स चापि सर्वा: पठनैकवृत्तौ प्रसज्य वृत्ती. समयश्च सवम्
स्वसाध्यसिद्धयै दृढनिश्चयात्मा सिद्धि प्रसिद्धिश्च सहैव लेभे ॥१४॥
विद्याधिगत्यै सततं सुयोगो वोद्ध यदात्मा प्रयतो हि नित्यम्
तस्याम्प्रधाना प्रवलाभिलाषा स्थिरास्थितिश्चित्तगतेश्च धीरा ॥१५॥
योगेन सर्वं सुलभञ्च लोके न योगिन क्वापि गते निरोध
ध्येये निजे य स्थिरचित्तवृति नूंन स योगस्य फलान्युपैति ॥१६॥
स्वयञ्च विश्वप्रकृति विशाला विलोक्य हृद्विह्वलता जनस्य
मातेव सर्वस्य सदा दयार्द्रा कृतार्थयत्येव तपासि नूनम् ॥१७॥
न पुस्तकान्येव न सुप्रकाशो नच प्रवन्धोऽपि सुखासनानाम्
रम्याणि विद्यार्थिगृहाणि नासन् प्रासादतुल्यान्यधुनातनानि ॥१८॥
दिवेव रात्रावपि ते तथापि प्रज्वाल्य पर्णानि विलोक्य पाठम्
निद्राप्रवृत्ते: परिहृत्य वार्ताम् विद्यार्थिलक्ष्य व्यदधु: कृतार्थम् ॥१९॥
शक्तिम्। पदार्थग्रहणे विचित्रा निरीक्ष्य हृष्टा गुरवश्च तेपु
स्वतो ववर्षु:स्वगतं हि सर्वं पात्र न लोके सुलभ सदा यत् ॥२०॥
लभेत शिष्य प्रतिभानिधिश्चेत् स एव लाभ. परमो गुरुणाम्
न यत्र शोच्यं भवतीह दत्त कृतार्थतामेति च यत्र यत्न: ॥२१॥
लब्धाश्च ते तेन महानुभावा भाग्येन योग्या सहपाठिनोऽपि
परस्पर येपु विमर्शभासा स्वतो रहस्य विशदीवभूव ॥२२॥
मन्ये कदाचित् स्वविकासहेतून् विद्यैव तान् शिष्यवरान् वृणोति
येभ्य. प्रभूता वलवद् विचारा लोकानसख्यान् जनयन्ति नव्यान् ॥२३॥
शिवस्वरूना. शिवसत्कुमारा दामोदरा. शास्त्रिवरा. प्रसिद्धा.
ख्याताश्च तात्येति विदाम्वरिष्ठा गगाधरा काव्य-रसावतारा ॥२४॥
न्यायाब्धिपोतो मरुमण्डलश्री श्रीस्नेहिरामो बुधवर्यधुर्यं
श्रीनानुरामो द्विजराजचूड. परे प्रसिद्धा वहवश्च विज्ञा ॥२५॥
एभिर्वयस्यै प्रतिभासदस्यै सदा सदाचारपरै. समृद्ध
स ब्रह्मचर्येण विभासमान सिद्ध. स्वयोगे स्थिरसम्प्रयोग ॥२६॥

काश्या श्रुतात् पण्डितराज-राजा-रामा· तथा शिष्यवराच्च तस्य
श्री वालसूरे रभिलब्धभासा भाष्याब्धिनेतृत्वमकारि तेन ॥२७॥
विशुद्धबुद्धि· प्रकृतिप्रबुद्ध पर स यावद् गतगेहमोह
तत्त्व जगाहेऽखिलवाङ्मयस्य स्थितिर्दयार्हैव पितुस्तदासीत् ॥२८॥
नावाप्य वृत्त पितरौ सुतस्य व्यग्रा गति यां हृदये लभेते
पितैव तस्यानुभवी जगत्या पुत्रैकजीवा जननी तथा वा ॥२९॥
श्रुत्वा यथा यद् घटित तदातद्-गवेषणे बन्धुगणे प्रवृत्ते
व्यर्थे प्रयत्ने व्यथितान्तरात्मा क्षणाय शान्ति जनको न लेभे ॥३०॥
भूरिव्ययेनापि दिनैरनल्पै र्दूरंगताना सुलभ न वृत्तम्
जनस्तु योऽलक्षितवासभूमिः कि साधनं तत्कुशलाधिमर्त्यै ॥३१॥
न वाष्पगन्त्री नच मृत्तरीवा न साधनान्याशु गमागमानाम्
मृग्यश्च मार्गो भुवि नाल्पमात्रो येन व्रजेद् बांधवमार्गणाय ॥३२॥
निद्राविमुक्त क्षुधया विमुक्त· किं कृत्यमूढ सुतमोहमग्न
निनिन्द नित्य विफल स्वदैवम् भृश जगर्हे च गृहस्थधर्मम् ॥३३॥
अहो गृहस्थस्य गतिर्विचित्रा क्षणेन दीना मुदिता क्षणेन
पेया सदा यत्र सुधाऽद्वितीया वज्रस्य पाता अपि तत्र सह्या· ॥३४॥
सहैव दु·खञ्च सुखञ्च भोक्तुं गृहस्थवृत्तिर्विहिता विधात्रा
आशापगायामवगाहतोऽपि नैराश्यनक्राद् नहि यस्य मुक्ति ॥३५॥
दीनां परित्यज्य वधू वराकीमहो खलोऽसौ गतवान् क्व मूर्ख·
किंनाम भाग्ये लिखित मदीये कुलस्य का वा भविता दशेयम् ॥३६॥
यथा तथा तेन परं स नीत· भक्तेन तद्दु·खयुतोऽपि काल·
अहर्निश चिन्तयतोऽपि वृत्ति नैषच्चलाऽभूद् भवभक्तिभावे ॥३७॥
भक्तं जनं नैजयते हि चिन्ता स्वभावतश्चापि नरा सुधीरा
निराश्रयाया· पति जीवनाया कालो गृहिण्या· कथमेतु किन्तु ॥३८॥
तया पर शान्तधियैव सर्व-व्रतादिक सद्मनि सचरन्त्या
"स्वय कृपालु स भवेत्कदाचित्" इत्याशया प्राणगति र्धृतासीत् ॥३९॥
अहो विचित्रं कुलपालिकाना पतिव्रताना कठिन तपस्तत्
यस्मिन्नहो सह्यमतीव सर्वम् वाच्य स्ववाचा च वचो न किञ्चित् ॥४०॥

स्वप्नायितं हा खलु सर्वमेतत् नारीसमाजेऽद्यतने तु किन्तु
लक्ष्यं किमासा नहि वेद्यमेतत् नचापि वेद्या च गतिर्हि तासाम् ॥४१॥

दास्यं हि यासा स्वजनोपसेवा कारा कठोरा स्वगृहस्थितिश्च
मनोऽनुकूलो न पति क्षणश्चेत् विवाहविच्छेदविधि सुसज्ज ॥४२॥

स द्वैतहीन परिपक्वभावे सर्वास्ववस्थास्वपि निर्विकारम्
दाम्पत्ययोग कलयन् मृषावाक् विश्रान्तिभूमी भवभूतिरद्य ॥४३॥

लब्धस्य नानाव्रतदानपुण्यैरवाप्य वृत्त न चिराय तस्य
निसर्गधीरोऽपि पिता वियोग शशाक सोढुं न सुतस्य भूय ॥४४॥

य. कोऽपि यात्री पथि जातुदृष्ट स एव पृष्टो विकलेन तेन
दृष्ट. क्वचित् कि हरनामदत्त किंचित् श्रुत वाऽस्य कृते कुतश्चित् ॥४५॥

इत्थम्विधै सशयितै हि भावै र्दोलाविरूढ वत तस्य चित्तम्
"एयात् पुन कि न गृह कदाचित् नयेत त वा प्रकृति स्वतस्तम् ॥४६॥

कष्टाकराण्येव भवन्ति नून दु खानि सर्वाण्यपि जीवनेऽस्मिन्
मन परं सशयशूलविद्ध भवत्यसह्य वत मर्मवेधि ॥४७॥

समानि नित्य न पर दिनानि क्लेशोऽपि नित्यो न तथेह कश्चित्
विलोकित स्तज्जनकेन तस्माद् घनेऽपि तस्मिन् तमसि प्रकाश ॥४८॥

काश्या हि कस्माच्चन यात्रिवर्यात श्रुत्वा स्वसूनो प्रगतिम्प्रशस्ताम्
तत प्रतस्थे सह पुत्रवध्वा स्वबन्धुवर्गै रितरैश्च कैश्चित् ॥४९॥

अहो सा कीदृशी रम्या सद्यात्रा काऽप्यलौकिकी
आशापुष्पाणि यात्रासन् प्रफुल्लानि पदे पदे ॥५०॥

मार्गे सर्वेषु तीर्थेषु स्नान कुर्वन् यथाविधि
विश्वनाथ स्मरन्नीशम् प्राप्तोऽसौ पावनीपुरीम् ॥५१॥

नाम्नो निर्देशमात्रेण प्रापित पुत्र सन्निधौ
धन्यं मेने स आत्मान दृष्ट्वा त शिष्यसवृतम् ॥५२॥

अकस्माज्जनक दृष्ट्वा सम्मुखे समुपस्थितम्
सम्भ्रान्त स समुत्तिष्ठन् चक्रे ह्यस्य समर्हणाम् ॥५३॥

साष्टागपातमुत्थाय स्वासने त निवेशयन्
आज्ञामन्या हि सुश्रोतु स्थितो मौनं कृताञ्जलि ॥५४॥

जनकोऽप्यात्मज पश्यन् निर्निमेषं क्षणं तत·
आदिदेश तमानेतु वहि द्वारिस्थिता वधूम् ॥५५॥
शिष्यै रावश्यके सद्य कृते गृह्योऽर्थं सग्रहे
ततस्ते न्यवसन् प्रीता वर्णयन्त· कथा मिथ ॥५६॥
अहो धन्यो गृहस्थानां काल सोऽपि सुखाकर
यत्र श्रद्धा - प्रसूनानि स्वतो वर्षन्ति सर्वत· ॥५७॥
स्मार स्मार पशुपतिकृपा तातवर्यं कृतार्थं
नीत्वा कांश्चित् सुखददिवसान् विश्वनाथस्य पुर्याम्
स्नाय स्नाय सुरसरिति स प्राप्तपुण्यप्रकर्षं
दृष्ट्वा पुत्र गृहगतिरत निर्वृत सन् निवृत्त ॥५८॥

इति विद्याधर शास्त्रि विरचिते हरनामामृते गृहस्थ-
सौख्यजनकः पंचमः सर्गः



अथ हरनामामृते षष्ठः सर्गः

(बलीयसी लोकगतिः, शोक वैकल्यम्, वृद्धजनोपदेशः, अभिनवानुभूतिः, ब्रह्मराक्षसेन संलापः, तद् विमुक्तिश्च)

ताते निवृत्ते स्वपुरी ततोऽसौ गृहस्थधर्मे निरत सुखेन
सुतस्य पश्यन् विविधा हि लीला बलीयसी लोकगतिम्प्रपेदे ।।१।।
दृष्ट्वा गतिं यस्य मति च हृद्यां नित्यम्प्रसन्नौ पितरावभूताम्
क्षणेन हा हन्त स एव बालो हृतेन दैवेन हृतोऽद्य सद्य ।।२।।
ज्ञान विलीन जगती विलीना लीन च सर्व सुखशान्ति-बीजम्
विडम्बनामात्रमिदं च सर्व तस्मै प्रतीतं क्षणिकं क्षणेऽस्मिन् ।।३।।
शोकाग्निदग्धोऽपि भृश स्व चित्ते हठेन मौर्ख्ये स जहास नृणाम्
स्थिर कथकारमहोऽस्थिरेऽस्मिन् पश्यन्ति ते हन्त गतिं हि काञ्चित् ।।४।।
खेलन् स बालो लुलुपे क सद्य स्मितिश्च सातस्य कपलेन लीना
भ्रान्त स्मृतेरुत्कट-घूर्णनेन प्रत्यक्षमैक्षिष्ट परोक्ष मेष ।।५।।
शोकेन सर्वप्रथमेन शीर्ण सन्त्यज्य सर्व नियतं स्वकर्म
एवम् यदा मौनपर सदासौ सर्वत्र भेजे परमामुपेक्षाम् ।।६।।
वृद्धा समागत्य बुधास्तदैनम् हठेन सर्वैरनुभूयमानै
प्रबोधयामासुरनेकभावै र्गीतोपदेशै र्जगतीक्रमै श्च ।।७।।
को वेत्ति कस्ते सुत एष आसीन् कुत. समायात् क्व गत पुनर्वा
क्रो वा समेता सदनं परश्वो नेद रहस्य मनुजेन वेद्यम् ।।८।।
यज्जीवन तद्रचित विधात्रा सुखस्य दु खस्य च वेदनाय
यदेव यस्मिन् दिन एति किञ्चित् जनेन मौनेन तदेव सेव्यम् ।।९।।
भोग्य हि यत् तत् खलु भोग्यमास्ते हातुं न तज्जातु जनेन शक्यम्
नचापि नित्यं जन एष दु खी जीवन् हि य सौख्यशतानि भुंक्ते ।।१०।।
स्मृत्यापि शोकस्य विकम्पमानो नून जनो विह्वलचित्तवृत्ति
सञ्जायतेऽयं प्रकृतिस्वभावो धीरेण धैर्यं नहि किन्तु हेयम् ।।११।।
न जीवनं द्वन्द्वविहीनमेतत् कदापि भूत न पुनश्च भावि
नचापि सृष्टेर्गतिरेकरूपा सनातनेऽस्मिन् हि भवप्रवाहे ।।१२।।

दुःखेऽपि वज्रोपमचेतसा तत् सह्यं हि यत्तद् भुवि सह्यमेव
वज्रं पतन्तं प्रसमीक्ष्य मूर्ध्नि न पर्वतालिः प्लवते कदाचित् ॥१३॥*
सुखेऽपि दु.खेऽपि च सान्त्वनार्थं विवेकशक्तिः प्रभुणा प्रदत्ता
स्थिति समालोच्य यया जगत्या विवेकिनो दुःखनदी तरन्ति ॥१४॥
स्वयं स्वदु.खाभिभवो विधेयो विज्ञेन भाव्यं च न मोहितेन
स एव विद्वानिति माननीयो बद्धो न मायाकृतबन्धनैर्यः ॥१५॥
छित्वा स्वपाशांश्च परस्य पाशान् सर्वान् स्वतन्त्रान् विबुधो विदध्यात्
तस्यावतारो भवतीह लोके, भिया निवृत्त्यै भवजन्मभाजाम् ॥१६॥
गतागतिर्यन्नियता जगत्या गतोऽपि बन्धुर्न पुन किमेतु
शीघ्रं भवान्या. कृपया लभेथा विचक्षणान् पुत्रवराननेकान् ॥१७॥
तस्मात्प्रशान्तश्चर कर्म नित्यम् पुनश्च शास्त्रेषु मति निधेहि
सर्वात्मना कर्मरतस्य लोके चित्तं न शोकादभिभूतिमेति ॥१८॥
एवम्बुधै. सम्परिबोधितात्मा कालेन पूर्वाञ्च गति गतोऽसौ
पुनर्यथापूर्वमभिप्रवृत्तोऽप्यध्यात्मविद्यारसिको बभूव ॥१९॥
गुणेषु दृष्ट्वा परिवर्तमानाम् गति गुणानां विषमां समाञ्च
नित्यस्थिरं शान्त मथावबोद्धु शास्त्राणि सर्वाणि पुनर्ममन्थ ॥२०॥
नवानुभूत्या नव एव जातो नवेन बोधेन विभासमानः
विद्यालये व्यैत् समयं समस्तम् दिनस्यचर्या नियता विधाय ॥२१॥
ब्राह्मे मुहूर्ते प्रकृतिप्रशान्ते विधाय गंगासवन प्रशान्तः
दुर्गालये वा शिवमन्दिरे वा तस्थौ स्थिरो ध्यानसमाधिलीन. ॥२२॥
अथैकदोन्निद्रितवृत्तिमेन रात्र्यास्तृतीयेप्रहरे प्रबुद्धम्
कालभ्रमात् स्नातुमिमं व्रजन्तं सोपानमार्गे निरुरोध कश्चित् ॥२३॥
पुरःस्थितं वीक्ष्य विलक्षमेकं निरुद्धमार्ग सहसा कुतोऽपि
पप्रच्छ कस्त्वं कुत एषि किम्वा चिकीर्षितं ते त्वरितं वदैतत् ॥२४॥
स्थित्वा क्षणं मौनरतस्ततोऽसौ गीर्वाणवाचा विशदस्वरेण
उवाच सर्वं निजवृत्तमेव तदात्मवृत्तश्रवणोत्सुकाय ॥२५॥
शृणोमि नित्यं प्रयतो महात्मन् पातञ्जलं यद् विवृणोषि सारम्
दयार्द्रचेता असि सज्जनोऽसि शुद्धोऽसि नित्यं भजने रतोऽसि ॥२६॥

---

* भयभीता स्वस्थानम्परित्यज्य अन्यत्र न पलायते इतिभाव ।

सल्लापकामोऽवसर प्रतीक्षे तुभ्य सदा श्रावयितुं स्ववृत्तम्
आह्लादपर किन्तु गतिर्मदीया नास्ते विधाने कठिने विधातु ॥२७॥

लब्धोऽद्य कश्चित् प्रकृतिप्रदत्त सौभाग्यपूर्णोऽवसरो मयायम्
मत्तो न भीति भवता विधेया स्वय विनम्र शरणागतोऽस्मि ॥२८॥

श्रुत्वा तदीय वचन विचित्र विचिन्त्य चित्राश्च गति जनानाम्
औत्सुक्यपूर्णो गतभीतिरेनं पप्रच्छ नम्र पुनरेवमेष ॥२९॥

बुधोऽपि किं भो कुगतिं गतस्त्वम् पापीयमी हन्त स्वर्ग स्वाप्याम्
महात्मनस्ते यदि दुर्दशेयम् गति लभेरन् वत कां न मूढा ॥३०॥

नम्रेण तेनेदमभाणि विद्वन् ! सत्य त्वदीय वचन किन्त्विदम्
भोग्यं पर कर्म - फल हि लोके मूढैरमूढैश्च सदैव सर्वै ॥३१॥

विधेयमार्गात् च्यवते पद न विधे विधान स्वविधौ कठोरम्
सूचीमुखो वेद्मि न नाम तृप्ते भोक्तुं न शक्नोमि बुभुक्षितोऽपि ॥३२॥

विश्वासघात - प्रतिशोधवुद्धि - प्रवृद्धवैर - प्रति यातनाग्नि
शान्तोऽपि शत्रो रपकृत्य शान्तो नाद्यापि मेऽन्त करणे दुधुक्षत् ॥३३॥

मत्तो न मूढोऽप्यधिकश्च कश्चित् पकेन य क्षालितवान् स्वपकम्
वैरेण वैरं तमसा तमो वा पापेन पाप च न शुद्धिमेति ॥३४॥

शरीरपातेऽपि मन शरीरी दु खानि जीवो विकटानि भुंक्ते
भावप्रधानस्य न भावनाया. तृप्ति. कदाचिद् भवतीह यस्य ॥३५॥

मयाप्यधीत सुकृतं कृतञ्च स्वभावतो नास्मि खलश्च कश्चित्
तथापि यद्राक्षसयोनिमाप्तो बलीयसी कर्मगति हि लोके ॥३६॥

निशम्य तद् वृत्तमिद मदीयं परोपकाराय धृतप्रयत्ने
उदेतु चित्ते करुणामये ते मदुद्दिधीर्षामतिरद्य सद्य. ॥३७॥

विलोक्य त दुर्गतिकं हताशं श्वेताम्बर चेतसि विस्मितोऽसौ
सभाषमाणं विकलस्वरेण द्रुतं हि पप्रच्छ विधेयमर्थम् ॥३८॥

कृपालुनैवं विहितानुकम्पः पश्यन्निवान्तं निजपापराशेः
स प्रोक्तवान् गद्‌गदता स्वरेण स्नातो नवाशामृतनिर्झरेण ॥३९॥

भूजन्मने मुक्तिपथाधिरोही व्यधायि मार्गो विधिना य एक.
तस्यां गयायां न गति हि यावत् सह्य मया तावदिहैव कष्टम् ॥४०॥

विज्ञाय हेतुं तमहेतुबन्धु स्तद्‌योनि-मुक्तये परिसान्त्वयंस्तम्
अद्यैव गंगाजलमार्जनेन त्वा मोचयामीति ददौ वचोऽस्मै ॥४१॥
सद्यो गयाया पितृभि. स्वकीयै· सपण्डिभाव हि भवान् प्रयातु
पिशाचयोने र्भवतो विमुक्तयै दूरे न काल खलु रक्ष धैर्यम् ॥४२॥
प्रणम्य चैनम्प्रणतम्प्रयात स्नानाय शोचन् हृदि तद्‌ गति ताम्
ततो निवृत्तश्च विचार्य शिष्यै र्गया प्रबन्ध विधिना व्यधत्त ॥४३॥

इह शुभाशुभकर्म - समुद्‌भवा
मनुजयोनिगति च विचिन्त्य ताम् ।
प्रववृधेऽस्य रुचि निगमेऽधिक
भवविमुक्ति-पथैक-निदेशके ॥४४॥

श्री विद्याधर शास्त्रि-रचिते हरनामामृते षष्ठः सर्गः



अथ हरनामामृते सप्तमः सर्गः

(मरुदेशाभियानम्, काशीपरित्यागानुतापः, मरुसौन्दर्यम्, न नीरसं चेत्सरसं विधत्ते, नियतिप्रभावः)

शास्त्राब्धि-सन्मंथनमत्तमूर्ते   रार्यत्वरक्षा-नियत-प्रवृत्तेः
शनैः शनैस्तस्य सरित् सुकीर्ते स्तनो मर्गे चापि ससार सौम्या ॥१॥
पातुं ततः शास्त्रसुधां प्रकामम् तरंगिणी या तरलीचकार
चेतांसि सद्ज्ञानपिपासितानां विद्यार्थिनां सद्विदुषां च सद्यः ॥२॥
धन्वेऽपि विद्यामृत-वर्षणार्थं सम्प्रार्थितः शिष्यवरैश्च कैश्चित्
काशी-परित्यागविचारमेनं पापस्य कस्याप्युदयं स मेने ॥३॥
तदैव दैवप्रहितो मनस्वी मनुश्रेष्ठिवर्यो भगवानदासः
विद्यानुरागी धृतधर्मबुद्धिः प्रणम्य विज्ञं विनतो बभाषे ॥४॥
विद्वन् धरित्र्यां बहवः प्रदेशाः सर्वेऽपि काश्यां कथनावसन्तु
यत्रापि विद्वान् कुरुते निवासम् तत्रैव नव्योद्भवतीह काशी ॥५॥
इयं विशाला च शिवस्य काशी विभासते नैव स्वदेह तावत्
यावत्तु तां ज्ञानमयैः प्रकाशै मनीषिणो नैव विभावयन्ति ॥६॥
श्रुत्वा वचस्तस्य सुयुक्तियुक्तं विहस्य तं शान्तनति जगाद
श्रेष्ठिन् क्व नेतुं यतसे वृथा माम् देशं प्रसिद्धं नतिविभ्रमाय ॥७॥
गंगातरङ्गालिकृताभिषेकः नित्यञ्च विश्वेश्वरदर्शनार्थी
काशीं परित्यज्य कथं हि कश्चित् प्रयातु तां वारिविहीनभूमिम् ॥८॥
शास्त्रैकचर्चामृतपानतृप्तः   सरस्वती-निर्झरिणीप्रसिक्तः
प्रचण्डमार्तण्डकराभितप्ते देशे प्रवासं ज्वलितुं व्रजेत्कः ॥९॥
जाने मरुस्था विनता विशुद्धा विद्यार्थिनः सन्ति विचक्षणाश्च
वाराणसी तैरपि किन्तु सेव्या स्थेयञ्च विश्वेश्वर-पादमूले ॥१०॥
तिरस्कृतं वीक्ष्य निजार्थनित्थं विद्वद्वरेण्येन विलक्षितोऽयम्
गतोऽपि नैराश्यमिवेष्टसिद्धौ निनीषयैवम् पुनराववन्द ॥११॥
अहो महात्मन् मनुजस्य लोके सीमा हि मोनि वेत्त कल्पनायाः
स्वप्नेऽपि यन्नेति क्वां कदाचिन तत्रैव याति स्वननोति सीमम् ॥१२॥

शरीरविज्ञानविचक्षणेन प्रशसितोऽय चरकेश्वरेण
स्नेहार्द्र भावैकरसै र्विशिष्ट· शुष्कोऽपि नित्य सरस स देश· ॥१३॥
न निन्दनीयो नच शंकनीयो मरुप्रदेशोऽमर भूमिरद्य
य. पासुलोऽपि स्वशुभैश्चरित्रै रपांसुलाना धुरि कीर्तनीयः ॥१४॥
काश्यामभावो विदुषा न कश्चित् मरुप्रदेश सुधियामपेक्षी
तृप्ति विधेया क्षुधितस्य पूर्व किं तर्पणं तृप्ततमस्य लोके ॥१५॥
का नाम विद्या द्रविणञ्च कि तत् प्रयुज्यता यन्न हिते परेषाम्
तनुष्व कीर्ति मरुमण्डले तत् प्रवाहयन् धर्मविचारधारा ॥१६॥
ज्ञानप्रकाशस्तमसि प्रकाश्य स्वय प्रकाशैव सदैव काशी
मरुस्थले यत्पृषदोऽपि मूल्य धाराधरस्यापि न तत्समुद्रे ॥१७॥
निवारिते चापि बुधैश्च तत्र क्वचित् क्वचिद् बाह्यतम· प्रसारे
आभ्यन्तर येन तमो विनश्येत् नाद्यापि तत्रोदयते स भास्वान् ॥१८॥
अर्थे कृतार्थोऽपि मरुप्रदेशो ज्ञानाक्षिपूर्णो नहि यावदास्ते
लक्ष्याधिगत्यै क्षमता न तावत् न वीक्षते कोऽपि निमीलिताक्ष ॥१९॥
धर्मार्थयो सगम एव सौख्य धर्मं विनार्थो न धनं विष तत्
दाहैककर्मानल एष लोके ऋते हि यज्ञ क्षमते न वृष्टयै ॥२०॥
विभासते दिक्षु सरन् विवस्वान् पातीह लोकाश्च चरन् नभस्वान्
देशाटनं तद् विबुधैर्विधेयम् लोकस्य कल्याणधियापि नित्यम् ॥२१॥
यस्याप्यहभावविवृद्धिजन्यं जाड्य जड्या नैवमतिम्प्रकुर्यात्
सर्वेऽपिदेशा सुखशान्तिपूर्णा स्वय स्वदेशा प्रभवन्ति तस्मै ॥२२॥
न नीरसं चेत् सरस विवक्ते कथ विशिष्येत बुधस्य बुद्धि
विशेषता सैव सुधाकरस्य ग्रावापि यस्माद् द्रवते द्रवेण ॥२३॥
प्रोत्साहितैस्तद् वचनै प्रियार्थै मंरो दिदृक्षाजनकानि भूरि
तस्य प्रदेशस्य सुखानि भूय· रम्याणि शिष्यैरपि वर्णितानि ॥२४॥

मरु सौन्दर्यम्

मरु सुवर्णो नहि येन दृष्ट किं तेन दृष्ट कुहचित् सुदृश्यम्
स्फुट मरौ भान्ति सुमेरुशृ गा. शिलासु कृष्णासु न ते हि मृग्या· ॥२५॥
रम्ये क्वचित् सैकतवप्र-सानौ सुकोमले भास्वति हेमवर्णे
प्रात प्रदोषे च सुख स्थितानां केषां न चेतासि विकासवन्ति ॥२६॥

स शीतलो गंधवह समीर. स तित्तिराणा मधुरो विराव·
तन्नर्तनं वर्हं विभूषणाना समुत्प्लुति· साच कुरङ्गमाणाम् ॥२७॥
ते तुन्दिला स्वादुरसा कलिङ्गा सा शारदी चञ्चलचन्द्रिकाच
स्फूर्ति स्फुरन्ती स्फुरणावलीषु क्रमेलकाना गतयश्च तास्ता. ॥२८॥
आसारगन्ध परित प्रसारी भूमे विशुद्धि प्रकटीकरोति
तेजस्विनी गीतिगतिश्च मत्ता सर्वा स्वरोत्थाम् जगतीम् विधत्ते ॥२९॥
गाव प्रसन्ना मनुजा प्रसन्ना देवा प्रसन्ना व्रतदानयज्ञै
कि नाम तद्यन्न मरौ समृद्धम् विद्या समृद्धो भवता विधेय ॥३०॥
पलाशिनो विप्रवरा न यस्मिन् विजृम्भते यत्र च वीरवृत्ति
हरेर्जनाना हरिभक्तिभाजा गुञ्जन्ति वाण्य सुरसाश्च यस्मिन् ॥३१॥
वर्षागमे चारुमरुं विहाय कान्यत्र कस्यापि· रमेत चित्तम्
सर सु वर्षासमयेऽपि यस्मिन् शरत् प्रसन्नं सलिल चकास्ति ॥३२॥
इत्थ मुहुस्तद्गुणवर्णनेन प्रियै स्वशिष्यैरपि चार्थ्यमान·
सम्प्रेरितोऽन्तर्हितया नियत्या गन्तुं बुधस्तत्र तदानुमेने ॥३३॥
यत्रापि सा वाञ्छति य नियोक्तु तत्रैव सा त प्रहिणोति नूनम्
मूल्य न किञ्चिज्जनभावनाया सम्मर्दनायैव समुत्थिताया ॥३४॥
गुप्त सुगुप्त विदधाति यस्मात् निज विधेय नियति प्रभाव
जानाति कश्चिन्न कदानु केन स्थेय क, वा गम्यमितो हि तेन ॥३५॥
न मानव पृच्छति सा कदाचित् बुद्धेरजीर्णेन विशीर्णवृत्तिम्
क्रियाहि तस्या पृथगेव काचित् पृथक् च तस्या करणप्रकार ॥३६॥
तस्मादचिन्त्य बहुधा जगत्या सदैव तत्तद् घटते विचित्रम्
स्वप्नेऽपि लोकैरवितर्कितैव स्थितिश्च काचित् प्रकृतिप्रियास्ते ॥३७॥
इत्येव विद्वान् स विनम्रमौलि विश्वेश्वरस्यानुमति ययाचे
नत्वान्नपूर्णामिथ जन्हुकन्या प्रणम्य काशी च ततश्चचाल ॥३८॥
अधीतिलुब्धा सुधिय प्रगल्भा केचिच्च शिष्या गुरुतीर्थमेनम्
विहाय काशीमनुजग्मु -रेन गुणेषु केषा नहि पक्षपात ॥३९॥
भाष्याब्धिचन्द्रो हरनामदत्त काशी विहायाद्य परत्र गच्छेत्
श्रुत्वेति विज्ञा विकलीभवन्त सर्वे सखेद मिथ एवमूचु· ॥४०॥

शुष्कोऽद्य शास्त्रार्थरसो नगर्या मार्गो निरुद्धोऽथ रहस्य भूमे.
प्रत्यक्षरूपेण विभाव्यमानो यदेप जातो हि महानभाव: ।।४१।।

वुधैरेवं काश्यां: स्मृतगुणगणै. संस्तुतमति:
मह- साक्षात् काश्या दिगिदिगिकिरन्-दिव्यमभित ।
यशस्वी सम्प्राप्तो विदितमहिमानं शुचिगति.
शुचि राजस्थानम् पथि जनशतै पूजित-पद ।।४२।।

इति विद्याधर शास्त्रि रचिते हरनामामृते सप्तमः सर्गः



हरनामामृते अष्टमः सर्गः

(प्राक्तनी सात्विकी कान्तिः, विद्या विलासः, प्राक्तनी शिक्षण पद्धतिः, विद्यार्थिजीवनम्, संध्यावन्दनादि-सौख्यम्)

निशम्य तस्यागमनं बुधस्य प्रतिक्षमाणं सुचिरेण सर्वं
चूरू पुरं तद्भृशमापुपूरे तच्छिष्यवर्यै रपरै बुंधैश्च ॥१॥
कुर्वन्ति मान सुनृपस्य लोका नेतुश्च राष्ट्रार्पित-जीवनस्य
श्रद्धा जनाना हृदये लसन्ती बुधाय भिन्नैव पर जगत्याम् ॥२॥
तस्यानने सौम्यविभावमव्ये विद्या स्फुरन्तीव विभासते स्म
दिव्याकृतिं यं समवेक्ष्य भक्त्या शिरांसि नृणा स्वयमानतानि ॥३॥
विशालभाले रुचिरे निसर्गात् सद्धर्ममूर्ते सुसमाहितस्य
काचित् पवित्रा प्रभुभक्तिकान्ति नित्य विरेजेऽस्य महोदयस्य ॥४॥
शान्ता कथाना श्रवणे निमग्नास्तत्त्वार्थशङ्का-विनिवारणाय
तास्तान् गभीरान् विमलान् विचारानाकर्णयन्तोऽनुगता जनास्तम् ॥५॥
प्रतिक्षणं तम्परित स्थिताना श्रद्धावता धर्मविवेक-बुद्धि
क क नवीनं न विकासमाप्नोत् सर्व स्वतो हृष्यति सुप्रभाते ॥६॥
सन्यासिभि विज्ञवरैरनेकै रन्यैश्च सद्भि सुविवेकदक्षै
सलाप-मग्नस्य स तस्य कालो न कस्य चित्त विमलीचकार ॥७॥
कालस्य तस्य स्मृतिरेव रम्या बोधाय बोधो भवति स्म यस्मिन्
विडम्बनेयं महती बुधाना दास्याय विद्या यदवाप्यतेऽद्य ॥८॥
प्रेक्ष्या हि सा काद्य महामहिम्ना स्थिरामति स्वात्मरतिश्च तेषाम्
कण कणम्प्राप्तुमहो कुतश्चित् भ्रमन्ति दीना अधुना बुधाश्चेत् ॥९॥
यद्यपि रीत्या द्रविणागम स्यात् सा सैव विद्याऽद्य मता प्रधाना
रहस्यभार क्षमते न सोढुं क्षुधाकृशो ह्यद्यतनो बुधोऽयम् ॥१०॥
तस्योपदेश प्रथम प्रधानो दिव्योभवत् किन्त्वयमेव नित्यम्
निरक्षरे वीक्ष्य महाधनत्वं विद्या न हेया विदुषा कदाचित् ॥११॥
विद्यासम वित्तमिहास्ति नान्यत् नचापर कोऽपि सुखस्यहेतु
सर्वेऽपि तत्प्राप्तिकृतेऽत्र योग्या तेन स्वत तुष्यति चान्तरात्मा ॥१२॥

विद्यामृत येन जनेन पीत पेयं किमन्यत् ननु तेन लोके
पदे पदे तस्य कृते विकीर्णं सुधाप्रवाहो भवतीह नित्य ॥१३॥
गति. क चानन्तपथेऽनिरुद्धा भवेन्न विद्यारथिनो रथस्य
स्वयञ्च सर्व किमु नाम गुह्य स्वत प्रदीप्त भवतीह नास्मै ॥१४॥
उन्मील्यते बोधविभाकरेण यथायथाऽभ्यन्तरचक्षुरस्य
तथा तथा कापि नवैव सृष्टि क्षणे क्षणे दृष्टिगता विभाति ॥१५॥
नृप स्वदेशे लभते प्रतिष्ठा विद्वाश्च मान्यो भुवनेऽखिलेऽस्मिन्
आभ्यन्तरो यस्य महान् प्रकाशो दिव्यश्चकर्ष स्वयमेव सर्वान् ॥१६॥
क्षणाय येनाथ समागमऽ स्यान् गुणैस्तमेव स्ववशीकरोति
सारस्वत कोऽप्यनुभावएष पलेन य प्रह्वयतीह विश्वम् ॥१७॥
धनं जनैर्नाधिगत न खेद लब्धा न कीर्ति नहि सापि चिन्त्या
लब्ध सुबोधोऽपि भवे हिकश्चित् नवेति नित्य परम विचिन्त्यम् ॥१८॥
सर्ग स्वकीय सृजतीह धीमान् नव्य स्वकीयं कुरुते च नाट्यम्
लीलापर कोऽपि विहारशीलो बुधो जगत्या विधिरद्वितीय ॥१९॥
भूते च भाव्येप्यथ वर्तमाने निरन्तरं सचरते बुधाय
विश्वात्मवृत्त्यै विभुदर्शनाय प्रतिक्षणं सर्वमिहास्ति नित्यम् ॥२०॥
परोपदेशाय वचोविलासो नास्याभवत्केवलमेष बाह्य
आभ्यन्तरोऽप्यस्य महो हि दिव्य स्वतो जनाना हृदयं ह्यमासीत् ॥२१॥
निरीक्ष्य चैन निजकर्म निष्ठ शिक्षा स्वयं शिष्यगणै रथाप्ता
आचारशिक्षैव परा सुशिक्षा न कापि शिक्षा वचनैकदक्षा ॥२२॥
सूर्योदयात् प्राक् कृतनित्यकृत्य ध्यानालये ध्यानविधि समाप्य
अध्यापयामास तत स्वशिष्यान् शास्त्राण्यनेकानि महार्थवन्ति ॥२३॥
विश्लेषण तत् पदवाक्यवृत्तो रहस्यनिर्देशपर वचस्तत्
वैगद्यहृद्यो विषयप्रकाश कान्यत्र सा तन्मयता च लभ्या ॥२४॥
शिष्यै सुख पाठरस पिवद्भि न काक्षित किञ्चन सौख्यमन्यत्
चु कारशून्या चटकापि दृष्टा पाठ पिवन्ती सुसमाहितेव ॥२५॥
तादृग् गुरु सस्कृत सस्कृतात्मा सा सस्कृति भारतजन्मभाजाम्
रूपञ्च सौम्य वत सात्विक तत् गत क सर्व शुचि जीवनं न ॥२६॥

विद्यार्थिना संस्कृतपाठशाला-निवासिनामाचरितव्रतानाम्
श्लाघ्यास्थिति सा विनयान्विताना क्वाद्य लोके मनुजैर्निरीक्ष्या ॥२७॥

तेजस्विनो रक्षित वेदचर्या· सर्वेऽपि यस्या विनय-प्रधाना·
शिष्या बभूवु गुरुभक्तिभाज धृतव्रता निश्चितसाध्यसिद्धयै ॥२८॥

का नाम हा हन्त दशा विहीना किस्वास्तु दुर्दैवमत परश्च
विद्यार्थिकालेऽपि यदद्य सा नो मते विकासस्य गति निरुद्धा ॥२९॥

गार्हस्थ्यचिन्ताकुलिताशयाना सर्वस्वनाशि व्यसनावृतानाम्
नित्य गुरोर्निन्दनतत्पराणा हतामति दुश्चरितै हतानाम् ॥३०॥

अधीतिन किन्तु पुरा पुराणी दैनन्दिनी ता हि हितामवृण्वन्
पदे पदे यत्र मन· प्रसादो विद्योतते सत्वमयी च बुद्धि· ॥३१॥

प्रात समुत्थाय हरि स्मरन्त विधाय सध्यासवनादि कर्म
सूक्त पठन्त पुरुषस्य पुण्यम् भुञ्जन्ति मौन हरये निवेद्य ॥३२॥

सर्वे पदार्था सुलभा भवेऽस्मिन् सौभाग्यवद्भ्यो विविधस्थलेषु
विद्यार्थिवासे सह सद्वयस्यै लभ्य सदा पक्ति सुख न किन्तु ॥३३॥

सा शुद्धपक्ति सच मौनभाव तदर्पण ब्रह्महवि प्रयुक्तम्
मेध्यश्च तत् हृद्यमहो सदन्नम् विश्वम्भरास्ते बलि वैश्वदेवा ॥३४॥

स्वास्थ्यस्य सत्यापनमेव यस्मिन् तद्यज्ञशेषामृतमेव साक्षात्
सर्व निलीन ननु कालगर्ते तत् सात्विक भोजनमद्य शुद्धम् ॥३५॥

किमद्य लभ्य वत पक्षिपोतै नित्य हतै र्वा पशुभिर्वराकै
विभक्ष्य सर्वानपि निर्दयोऽय तृप्तो हि ना नाद्य भवेत्पुन र्वा ॥३६॥

भुक्ते परं लेख-विशेषलग्ना मध्यान्हकाले निजपुस्तकानाम्
अज्ञासिसु स्तत् हृदयं स्वय ते स्वयञ्च ताश्चित्रकला सुरम्या ॥३७॥

ततोऽपराण्हे मननप्रवृत्ता विभावयन्तिस्म समेत्य छात्रा·
अर्थान् नवान् भावविशेषभव्यान् शास्त्रार्थमर्मस्थलमामृशन्त ॥३८॥

यदा यदा चैति धृतावकाशा प्रतीक्ष्यमाणा प्रतिपच्चिरेण
छात्रै प्रहृष्टैरभिनन्दितेय सदागताचापि नवागतेव ॥३९॥

गुरोरनुज्ञामधिगम्य गन्तुम् बहिर्विहाराय विहारिभिस्तै·
दृष्टानि नानारसभावितानि स्थलानि रथ्याश्चथ चेष्टितानि ॥४०॥

सौन्दर्यभारालसगामिनीना क्वचित् कदाचित् पथि कामिनीनाम्
व्यलोकि यत्तैरपि हावलीला मनःप्रवृत्तिर्हि विनोदशीला ॥४१॥
सौदामिनी चेत् कुहचित् स्फुरन्ती विलोकितैर्भि नं दिदृक्षयापि
रूपप्रभावो बलवान् स्वभावात् स्वतो हरत्येव दृशो न केषाम् ॥४२॥
स्फीत - स्तनीना घटधारिणीनाम् सदर्शनीये गजकुम्भमर्दे
दृष्टिर्यच्छायापतितापि दूरात् जन विदीर्णं कुरुतेस्म दीनम् ॥४३॥
भीतोऽपि वेणी-विषसर्पिणीभ्यो निमील्य नेत्रेऽवनताननस्तत्
छात्रो वराकश्चलतिस्म कष्टं मुहु कटाक्षोग्रशरै विकीर्ण ॥४४॥
इमा गति तस्य विलोक्य दान्तां नार्यश्च काश्चिन्मिथ एवमूचु
नायं नरो ह्रीविषयोऽस्मदीय छात्रो वराकः किल कश्चिदेष ॥४५॥
सायन्तनी का नच सा सुवेला यस्या न खेला विविधा वभूवु
यस्यां च वृद्धोऽपि नवां नवा स व्यायामरीति नहि निर्दिदेश ॥४६॥
विधीयते साहसजन्म-भूमि. युयुत्सुभावस्य न चेत्प्रवृत्ति.
नवे वयस्येव विभग्नमध्य कथं जयेद् द्वंद्वरिपूनधृष्यान् ॥४७॥
आलस्य दोषैरभिभूयता नो न निर्बलः कातरतां तनोतु
ह्रासश्च जायेत न राष्ट्रशक्ते व्यायामशिक्षेति सदानिवार्या ॥४८॥
मरुस्थली सैकत - कोमलाङ्गी विमर्दिता रागवतीव जाता
मन्ये शिशिक्षे तत एव चासौ कणे कणे कूर्दनकेलिवृत्तिम् ॥४९॥
संरम्य रम्ये प्रकृतिप्रदेशे, वायुं नव स्फूर्तिकरं निषेव्य
ततो निवृत्ता दिवसावसाने साध्ये विधौ ते निरता वभूवु. ॥५०॥
बद्धासना विस्मृतवाह्यवोधा धन्या हि ते येऽनुभवन्ति नित्यम्
ध्यानैकताने निजचित्तवृत्तौ शान्त स्वरूपं पुरुषोत्तमस्य ॥५१॥
विधाय संध्या च समाप्य जाप्य सर्वेऽपि पूजासदने समेत्य
देवाधिदेवस्तुति - गीतिमग्ना नृत्यन्ति ढक्कां च निनादयन्ति ॥५२॥
अहो स कीदृङ् मधुरश्च तार. स्वरो जनाना स्तवने रतानाम्
प्रविश्य य श्रोत्रपथं जनस्य प्रसह्य चेत कुरुते प्रमत्ताम् ॥५३॥
लीनास्ततोऽन्त्याक्षर - काव्यवादे पद्यानि सूत्राणि नचेत्स्मरन्ति
विधाय सद्यस्तु नवानि तानि स्मृत्या स्वमेधा सुसमेधयन्ति ॥५४॥

रात्रौ प्रसुप्तेऽथ गुरौ प्रसुप्ता प्रभुं स्मरन्तो मधुरस्तवेन
ब्राह्मान्मुहूर्ताच्च पुरा प्रबुध्य आवर्तयन् सर्वमधीतिजातम् ॥५५॥

तेषामेव सुधीनां सुकृतपथजुषां आत्मचिन्तारतानाम्
लोकेऽस्मिन् प्रार्थनीयं यमनियमवतां सात्विकं जीवनं तत् ।
शान्तं सौम्यं पवित्रं जगति विजयते संस्कृतानां सुस्कृतानाम्
यस्मिन् धर्मस्य नित्यं भवदुरितहरी भासते पुण्यधारा ॥५६॥

इतिश्रीहरनामामृते परिपूर्णोऽष्टमः सर्गः



हरनामामृते नवमः सर्गः

(दुर्भिक्षाक्रान्तो मरुदेशः, गोवैकलव्यम्, जड़ाप्रकृतिः, शिवाभिषेकः,
यज्ञप्रभावः, जलाप्लुतमही, शिवस्तुतिः)

अथ तत्र सुखेन . वाङ्मयामृतपान नियत हि कुर्वत
भयदो मरुदेशदुर्दशा दयनीय समय समागत ॥१॥

प्रकृते विकृति हि मानवै रवगम्या नहि कापि चचला
अमृत च विषं महैव या निजगर्भे सततम् प्रपुष्यति ॥२॥

अतिदुर्लभमेव सन्तत सलिलं यत्र मरौ स्वभावत
यदि तत्र विधिर्न वर्षनात् कतमो जीवतु जीवनं विना ॥३॥

नियतैव पर मरुस्थले वसति दुर्गमयस्य शाश्वती
प्रकृतिर्हि मता जलाल्पता विकृतिर्यत्र च वारिदर्शनम् ॥४॥

विदलस्य नगोग्रधम्नले रवितापेन भृशम्प्रतापिता
विहगा विकला हि निश्चला कठिन हा कथमुच्छ्वसन्ति ते ॥५॥

नहि किन्तु जलस्य विप्रुष क्वचिदंशोऽपि लभेत दृक्पथम्
सलिलभ्रमतो भ्रमन्ति मृगान् नहि कान हन्ति हतान् मरीचिका ॥६॥

निपतेद् यदि दृक्पथे क्वचित् सलिला सन्त्यपि नूतनाकृति.
जलदस्य कलेति विभ्रमात् तृषितो वारि ततोऽपि याचताम् ॥७॥

यदि नेह धृतोऽपि धूमिका गगनं तापि किमीरितं इतै
यदि नेह धृतोऽपि धूमिका गगनं तापि किमीरितं इतै
ततः एव नवा नवा न ना समदीक्षा समुदेति मानवे ॥८॥

पशवोऽप्यपरे बुभुक्षया गमिता पञ्जरमात्र शेषताम्
हठतो हृदये विलोक्य यान् उदिता शापमतिर्विधिम्प्रति ॥११॥ ❀
सुरभि र्वत कापि विक्लवा विषमेऽस्मिन् समये तृषातुरा
विनिमील्य दृशौ पपात यत् करुणामूर्तिमतीव तत्पथे ॥१२॥
विचचाल धृति विलोक्य ता स्थिरता चास्य पलायिताऽखिला
इति चिन्तयतोऽन्वह मुहु करणीय किमु तेन साम्प्रतम् ॥१३॥
नयने खलु मूक - जीविनाम् वदतस्ताररवेण वेदनाम्
नयनैरथ स श्रुतो ध्वनि नहि केषा च विचालयेन्मन ॥१४॥
जननी च परा गवा समा ननु का भूतलवर्तिनी भवेत्
न नग खलु तेहि दानवा हतकै यैं र्वत सापि हन्यते ॥१५॥
मनुजो मनुजश्च नास्त्यसौ हृदय वा नहि तस्य विद्यते
अवलोक्य दशामिमा स्वतो नहि यस्य द्रुतिमान्तर ब्रजेत् ॥१६॥
मृदुता करुणार्द्र चेतस सततं प्रोच्छ्वलति स्वभावत
लभते न पल क्वचित् सुख परदु ख समुपेक्ष्य येन स ॥१७॥
लयमेति न किन्तु भीषणा परमेषा वत चिन्तयैव न
कुपिता प्रलयाय भीषण निजरूप हि यदाश्रयेदियम् ॥१८॥
न धनेन बलेन वा पुन र्नच विद्या-विनयै र्वशीकृता
कुटिला प्रकृति हि नीरसा विरमेन्त्त स्वनृशस कर्मभि ॥१९॥
ऋषिभिस्तपसा यथा तथा विजितेऽप्यान्तरसर्गसग्रहे
सहजैव जडा तमोमयी न हि बाह्या प्रकृतिर्निरुध्यते ॥२०॥
शिव एव कृपामय स्वय नहि यावत् शिवरूपतामियात्
जगतो हितकाम्यया चला प्रकृति शाम्यति नैव तावता ॥२१॥
इति सोऽथ विमृश्य मानसे सममामन्त्र्य महीसुरास्तत
समुवाच तपस्विनावर सकलास्तान् श्रुतिशास्त्रपारगान् ॥२२॥
अयि मन्त्रदृशो द्विजेश्वरा समयेऽस्मिन्ननु किं विधीयताम्
म्रियते निखिलैर्निराशया भुवि जीवैर्विवशै. पिपासया ॥२३॥

❀ येषाम् परमदयनीयामिमा दशा विलोक्य जनस्य हृदये निष्करुण विधिम्प्रति हठाद् शापमति प्रादुरभूत् ।

समुपेक्ष्य जगत् किमास्यते भवपापैर्यदि दह्यते मही
परतापनिवारणक्षम न मुहुर्ब्राह्मणजन्म लप्स्यते ॥२४॥

नहि विप्रवरैः कदा कदा विहृता दैवकृता विपत्तयः
भवभीतिकरी यदा यदा विषमा कालगतिः समुद्गता ॥२५॥

क्रियते निजशक्तिविस्मृतिः किमु भूदेववरैः प्रमादतः
क्व गता भवता दृढा मतिः नवविस्मयोदयकारिणी हि या ॥२६॥

दृढता यदि मर्त्यमानसे रचना तेन विरच्यते न का
सततं हि जनैः शुभक्रिया सुविधेया निजसिद्धिमीप्सुभिः ॥२७॥

विफला च कदा स्तुतिः सतां परमेशे शुचिभावभाविता
करुणावरुणालयो हि यः कठिनात्मापि तया प्रसीदति ॥२८॥

विहितैर्विधिना द्विजोत्तमैर्नहि यागैरिह किन्न सिध्यति
विहिताङ्गमही जलप्लुता स्मरणीयं खलु शृङ्गकर्म तत् ॥२९॥

जनकेन कृते हलाध्वरे ननु देवो न ववर्ष तत्र किम्
जलदस्य हि यज्ञजन्यता नियतेयं प्रकृतिः सनातनी ॥३०॥

समवेत्य विधीश्वरं मखो जलधाराभिरथाप्लुतः शिवः
कियता कलशैस्तथा यथा जलमात्रं भुवने स पश्यतात् ॥३१॥

अथ तस्य वचोऽनुमोदकैः शिवभक्तैः श्रुतिपाठतत्परैः
शतशः कलशैरहर्निशं पयसा तत्रभवोऽभ्यसिच्यत ॥३२॥

विगतेषु बहुष्वहःस्वपि प्रबला वातगतिर्न शाम्यति
न तथापि निराशतां ययौ विदुषस्तस्य शिवस्थिरं मनः ॥३३॥

प्रसमीक्ष्य परं जनान् परान् हृदि सन्देहपरान् फलम्प्रति
स बुधः शरणं ययौ पुनः पदयोः शुद्धधियाऽशुतोषिणः ॥३४॥

अयि शङ्कर ! शकोरऽपि किम्
निजमाया तनुषे भयकरीम् ।
हर ! सहर रौद्ररूपता
हर तापं जगताञ्च सत्वरम् ॥३५॥

मनुजैर्यदि दुष्कृतं कृतं पशुभिः किं किल पापमाहितम्
अपि जीवतु ना यथातथा परमेभिः शरणं क लभ्यताम् ॥३६॥

विवर्गैश्च तवैवमायया क्रियते कर्म जनैं शुभाशुभम्
मनुजेऽपि कथ कठोरता शिव तर्हि भवेद्भवन्मता ॥३७॥
जगतो ननु का हि सा क्रिया क्व सा तिष्ठति वस्तुधर्मता
भवदेषणयैव याहि नो भवसर्गे भवति प्रवर्तिता ॥३८॥
विहिता जगतो हिताय या विफला चेद् यदि सा मखक्रिया
श्रुतिरेव न हीयते ततो जगतो धर्ममतिर्विलुप्यते ॥३९॥
गतवत्सर एव मेदिनी खलु दुर्भिक्षहतैव सर्वथा
किमु सम्प्रति हन्यते हता शिव याता क नु ते दयालुता ॥४०॥
प्रकृति वंशवर्तिनी सदा भवतात् ते भव भूतये भुव
न पुन परितप्यता जगत् समये वर्षतु वारि वारिद ॥४१॥
शिवमेवमुपास्य चेतसा प्रगुणान् कर्मणि योजयन् द्विजान्
क्षणमेव न शान्तिमाययौ नहि यावत्तु तुतोष शकर. ॥४२॥
स्तुतिभिर्मधुराभिरञ्चिता प्रकृति सा परिवर्तनोन्मुखी
सुकृतैरिव सस्कृतान्तरा जपहोमैरनुभाविताभवत् ॥४३॥
सहसा विरराम मारुतो गगने वर्णगति र्गतान्यताम्
स्वजनस्य दिदृक्षयेव च स्वयमौष्ण्य हृदि वारिणा दधे ॥४४॥
शशिशेखरभस्मधूसरा दिवि कैलाशदिशा—समुत्थिता
जलदस्य तनीयसी तति ददृशे कापि समुत्सुकैर्जनैं ॥४५॥
स्फुरिता सकृदेव चञ्चला क्षणमेक च जगर्ज वारिद
ददृशु परित परक्षणे परितृप्ता सलिलाप्लुता महीम् ॥४६॥
शिशिर पवनोऽवहन्मुदा प्रियकेकाकलिताश्च केकिन
अभिनव्यमिवाभवद् जगत् स्वभिषिक्तास्तरवो विरेजिरे ॥४७॥
मुदिता कृतकृत्यतामिता द्विजराजिर्निजविस्मृतिगता
हरकीर्तनगानतत्परा स्तुतिनादैर्भुवन व्यगुञ्जयत् ॥४८॥

जयत्यशेष-विश्वताप पाप नाशतत्पर
समग्र दैन्यदुखदोषदारिशकरो हर ॥४९॥

क्षणेन यस्य पावनै कृपाकटाक्षवीक्षणैं.
समेति सौख्यसन्तति प्रवर्तते महोत्सव ॥५०॥

सुखं सदा सरत्वयं नियन्त्रितो जगत्क्रम
उदेतु नोद्धता क्वचित् तमः स्वभावता पुन ॥५१॥
क्षमाद्दर्शैव मृष्यतां भवस्वभावदुष्कृतिः
अहेतुकीत्थमेव ते विधीयता कृपातति. ॥५२॥
पयोधरै रसाप्लुता भवत्वसौ वसुन्धरा
प्रभूत सस्यसम्पदा प्रजा प्रमोदनिर्भरा ॥५३॥
सुखं वय यजामहे भवद्वितीर्णवैभवै
भवन्तमेव भूसुरा सदैव विश्वभूतये ॥५४॥
त्वदीयपादवन्दना - रत मनो निरन्तरम्
यथा भवेत् तथा मति. प्रदीयता च नोऽधुना ॥५५॥

सकला नगरी च विस्मिता सहसा हर्षभरोल्लसज्जना
परिवारितयज्ञमण्डपा बहुमानेन ननाम भूसुरान् ॥५६॥
अधुनापि "सदा जलात्यये ~~मुक्तमेयं~~ हि तथैव गीयते सुकर
नच वर्षति चेत्पयोधर सरणि सैव पुनर्निपेव्यते ॥५७॥
एव यज्ञफले सिद्धे खाद्य सम्पन्नवत्सरे
तुष्टे जनपदे श्रद्धा शास्त्रेऽवर्धत नूतना ॥५८॥
नानाधर्म्येषु कार्येषु प्रवृत्तेषु गृहे गृहे
द्रष्टुं पुण्यानि तीर्थानि तुष्ट सोऽपि मनो दधे ॥५९॥
अथ च बुधवर तं तीर्थयात्रा चिकीर्षुम्
सपदि विदितवृत्ता अन्वयु केऽपि पौरा ।
सफलमिह दिन तद् यत्र सभूय सन्त.
विगत — विविधचिन्तास्तीर्थचर्या अरन्ति ॥६०॥

इति श्री विद्याधर शास्त्रिप्रणीते हरनामामृते—
मरुदुर्भिक्षदुर्दशाहारिहरप्रार्थनामयोनवमःसर्गःपरिपूर्णः

हरनामामृते दशमः सर्गः

(मारवीयात्रा, पवित्रं ग्रामजीवनम्, दस्युराज प्रतिबोधनम् तीर्थदर्शनम्)

अहो द्राघीयसी यात्रा मारवी सा भयावहा
दुर्लभ दर्शनं यस्या शाखिना सलिलस्य च ॥१॥

शकुनानि परीक्ष्यन्ते पान्थैर्यत्र पदे पदे
कुत्र सयाति मार्गोऽसौ पृच्छ्यते च मुहुर्मुहु ॥२॥

यत्र सम्भूय गन्तव्य सावधानैर्निरन्तरम्
लुण्टाकै कचनाक्रातै वात्या भ्रान्तैश्च कैश्चन ॥३॥

क्रोशानपि न कर्तव्य तृषितै ग्रमिदर्शनम्
निदाघे कीर्यते वन्हि. शिशिरे हिम वर्षणम् ॥४॥

तस्यामायासबाहुल्य - भीषणायामपि क्वचित्
प्रकृत्यैवाध्वगै. कैश्चित् आनन्दोऽप्यनुभूयते ॥५॥

निशाया शान्तिरम्याया समे च विषमे पथि
नीरवे निर्जनेऽरण्ये मधुर. स रथध्वनि ॥६॥

शनैराक्रम्य चाध्वानं गच्छताम् उष्ट्रसादिनाम्
लम्बस्वरेण गीता सा मादिनी तेजस. कथा ॥७॥

यथा प्रात तथा साय दृश्यते प्रकृतेश्छटा
कमनीयोषस. कान्ति सन्ध्या रागवती तथा ॥८॥

मार्गे मनोविनोदाय श्रमापनयनाय च
हृद्य गीत कथालाप. ताम्रक वा निषेव्यते ॥९॥

क्वचिद् दृष्टिपथ याते कूपस्तूपे धृतिप्रदे
श्रान्तास्ते पिप्पलच्छायाम् आश्रिताः सुखमासते ॥१०॥

शीतल जलमापीय प्रपूर्याथ जलैर्दृतिम्
मध्ये विश्रम्य विश्रम्य स्वमार्गेऽग्रे सरन्ति ते ॥११॥

यात्रामेव प्रकुर्वन्तो ग्राममेक प्रपेदिरे
काश्या विद्वानिति ग्राम्या जनास्त पर्यवारयन् ॥१२॥

वर्षे भाविनि किं भावि कीदृश समयो भवेत्
प्रष्टुमेतत् समाजग्मु. कृषकास्त समुत्सुका ॥१३॥
परितो वन्हिमासीना ते सर्वेऽपि पिपृच्छव
पप्रच्छु विनयात्सर्वे स्वस्व — प्रश्नाँस्ततो मुदा ॥१४॥
किमेतत् सत्यमेवास्ते पण्डिता म्लेच्छता गता.
नित्य गावो विहन्यन्ते स्वैरिण्यश्चाभवन् स्त्रिय ॥१५॥
अधर्मस्य प्रवाहोऽय ग्रामेऽपि प्रविशेन्न् किम् ?
किं राज्येऽस्मिन् फिरंगाणा सर्वेस्यु वैर्णमकरा ॥१६॥
सदाचार — परिभ्रष्टा. श्रूयते नागरा जना
अपि सर्वा विनश्येत स्थिति धर्म्या पुरातनी ॥१७॥
श्रुत्वा प्रश्नान् पर प्रीतोग्रामसारल्यशालिनाम्
अमानी मानदो विद्वान् हसन्नेव समादधे ॥१८॥
चतुराणा धुरीणस्त्वं चौधरीति निगद्यसे
नाश्चर्यं यदिमान् प्रश्नान् निपुण परिपृच्छसि ॥१९॥
विधर्मिणासनस्याय प्रभावो राष्ट्रसंस्कृतिम्
दूषयत्येव मूलेन स्थेय तस्मात् समाहितै ॥२०॥
रुधिरेण गवा धात्री भारती यै विदूषिता
तेषा यावन्न निष्कास स्तावदत्र सुख कुत ॥२१॥
धर्मं क्षीणोऽद्य वर्णानाम् वर्धन्ते वर्ण दूषका
म्लेच्छशिक्षा - प्रसारेण स्वशास्त्राणा च विस्मृते ॥२२॥
पर पुण्यतमे वर्षे भारतेऽस्मिन् सनातन
धर्म एव सदा स्थायी सर्वमन्यद् विनक्ष्यति ॥२३॥
केचित् ससर्ग - दोषेण क्वचिच्चेत् पतिता द्विजा
नहि तेन च्युता सर्वे व्यक्त्या जाति न दूष्यते ॥२४॥
त्यक्त - सद्धर्म - मर्यादा या स्त्री स्वच्छन्द - चारिणी
आद्दति भर्ता रते तस्या न भूता न भविप्यति ॥२५॥
परिवर्तनसम्पन्न सदा पत्तनजीवनम्
~~केवल बुद्धिवादेन श्रद्धाहीन च विकृतम्~~ ॥२६॥
विकृतं श्रद्धाहीनं [illegible]

स्वात्मा भारतवर्षस्य ग्रामेष्वेव विराजते
सरक्ष्यः पत्तनाचारैं र्यथाय तैर्न दूष्यते ॥२७॥
न भेदो विद्यते कश्चित् सद्ग्रामेऽथ तपोवने
विधेय नित्यमातिथ्य गावो रक्ष्या गृहे गृहे ॥२८॥
रक्ष्या भगवति श्रद्धा रक्ष्या प्रीति' परस्परम्
सर्वकर्माणि संभूय कर्त्तव्यानि गतक्लमै ॥२९॥
अद्य यावत् पथा येन श्रेयो युष्माभिरर्जितम्
त्यज्यते चेत्स नह्यध्वा शाति ग्रमि सदा स्थिरा ॥३०॥
तस्यैतद् वचन श्रुत्वा यथार्थं धर्मसम्मतम्
पप्रच्छुस्ते पुन. प्रीता दशा वर्षस्य भाविनीम् ॥३१॥
सोऽपि सर्वान् समाधाय प्रश्नास्तेपा तथा तथा
प्रातरेव समुत्थाय प्रतस्थेऽनुदिते रवौ ॥३२॥
गत्वाच कतिचित् क्रोशान् ग्रामाद्दूरे वनाध्वनि
सहसा तिष्ठतिष्ठेति शुश्रुवे कर्कशध्वनिम् ॥३३॥
सम्मुखे चागतान् दृष्ट्वा लम्बग्रीवान् क्रमेलकान्
शीघ्रम् पप्रच्छ निर्भीक. शङ्कर रथवाहकम् ॥३४॥
"किमेतत् क इमे लोकाः किं वा वाञ्छन्ति पृच्छ्यताम्"
"मौन स्थेय महाराज ! नियन्त्रैव न्यषिध्यत" ॥३५॥
भवन्तो नैव जानन्ति ख्यातान् दस्यूनिमान् खलान्
अहमेव समाधास्ये प्रश्नानेषा दुरात्मनाम् ॥३६॥
ततस्तानाह भो वीरा ! धार्मिका पण्डिता इमे
गम्यते तीर्थयात्रायां नैभ्य. कोऽपि धनागम ॥३७॥
रुचि वंश्चे त्कथा श्रोतु, श्रूयता धार्मिकी कथा
उपदेशो हि धर्मस्य प्राज्ञाना शाश्वत धनम् ॥३८॥
अनादृत्यैव तद्वाक्य प्रोचुस्ते निष्ठुर खला.
आस्ता ते धर्म चर्चेय वित्तमाख्याहि यद्भवेत् ॥३९॥
तेषामेतद्वच श्रुत्वा समागत्य रथाद्वहि'
प्राह गम्भीरया वाचा गृह्यता गृह्यते हि यत् ॥४०॥

निर्भय तद्वचः श्रुत्वा दृष्ट्वा ताञ्च द्विजाकृतिम्
सौम्यां तेजस्विनी तेऽथ श्रद्धानम्रा अवातरन् ॥४१॥
निपत्य पादयो प्राहु- क्षत्रिया स्मो वय द्विजान्
नैव हन्मो न लुण्ठाम धनिकान् मृगयामहे ॥४२॥

क्रूरानपि धृताचारान् तान्प्रत्याह प्रबोधयन्
क्षत्रियैरपि युष्माभि किमेषा वृत्तिराश्रिता ॥४३॥
क्षताद्रक्षा प्रकर्तव्या कर्तव्य राष्ट्ररक्षणम्
क्षत्रियाणामय धर्म- गर्हिता दस्युवृत्तिता ॥४४॥

सर्वमेतत् यथा प्रोक्त तत्तथा किन्तु साम्प्रतम्
ब्राह्मणा ब्राह्मणा नैव क्षत्रिया॰ क्षत्रियास्तथा ॥४५॥

सत्यमेतद् महाराज क्षुधा किन्तु बलीयसी
सर्व पापमपापञ्च क्षिपामो जठरानले ॥४६॥

नचाद्य ब्राह्मणा केचित् ब्राह्मणा सन्ति वस्तुत
वणिग्भ्योऽप्यधिक लुब्धा. किकरा॰ श्रीमता हि ते ॥४७॥
तावदेव हि सन्मार्गो धर्मस्याध्रियते तथा
लोके जीवन वृत्तिर्हि नृणा यावन्न रुध्यते ॥४८॥
आहरन्ति च वित्त ये कृपणा कैतवार्जनात्
तेभ्य किञ्चिद् हरामश्चेत् पश्यामो नात्र गर्हणम् ॥४९॥
लुण्ठन्ति चापरे येऽन्यान् लुण्ठामस्तान् वय वने
आदानस्य प्रदानस्य स्थितिरेषा सनातनी ॥५०॥
यत् किञ्चित् शक्यते कर्तु क्रियते तन्निरन्तरम्
दीनेभ्यो दीयते द्रव्य रक्ष्यन्ते धेनवस्तथा ॥५१॥

वयमप्यथ गच्छामो मार्गोऽस्माक पृथक् पृथक्
नातिक्रमोऽस्तु बेलाया भवान् यातु यथासुखम् ॥५२॥
उष्ट्रेष्वारुह्य ते याता प्रस्थितश्चैप चिन्तयन्
क्षत्रियाणा गति केय सजाता हन्त साम्प्रतम् ॥५३॥
मरो मार्गानतिक्रम्य प्राप्तोऽय ब्रजमण्डलम्
दर्शनै॰ कीर्तनै. प्रीत प्रतस्थे सेतुबन्धनम् ॥५४॥

अथ ता दक्षिणामाशा जगाहे स विचक्षण
यत्राचार्यैः परंब्रह्म स्वहस्तामलकी कृतम् ॥५५॥
अप्यरण्ये कृतावासा विन्ध्याचलतपस्विनी
नर्मदा प्राभवत्तस्मै प्रस्नुतेव पयस्विनी ॥५६॥
रामेश्वरे कृतातिथ्यो दाक्षिणात्यै विदाम्बरै
सर्वाधिकारसम्पन्न चक्रे तत्र शिवार्चनम् ॥५७॥
परिपूतमिवात्मान कृतार्थं सन्नमन्यत
अन्येऽप्यस्यानुगाश्चैव लेभिरे निर्वृत्ति पराम् ॥५८॥
महिम्नोऽतिशयः कश्चित् स्थितः तीर्थेषु शाश्वत.
यतीनां च गृहस्थानां यदाकर्षेन्मनोऽनिशम् ॥५९॥
दीनो हीनोऽपि यल्लोभात् सार्यमावध्य पर्यटन्
राष्ट्रैक्यम् पोषयेन्नित्यम् पावयेच्चात्मन· कुलम् ॥६०॥
यत्तु किचित् क्वचिद्रम्यं प्रकृति यत्र सात्विकी
दुर्गम साहसापेक्षि स्थलं वा यत्र पावनम् ॥६१॥
यत्र स्रोतासि पुण्यानि सर्वरोगहराणि च
तत्रैव तीर्थसद्बुद्धि भारतीया सनातनी ॥६२॥
युवानोऽद्य प्रशस्यन्ते पर्वताग्रेषु रोहणात्
जीर्णाश्चापि पुरा भक्त्या दुर्गं कैलाशमाविशन् ॥६३॥
एव सर्वेषु तीर्थेषु यजन् मज्जश्च तर्पयन्
सम्पन्नोऽनुभवैर्दिव्यै कृतार्थोऽसौ न्यवर्तत ॥६४॥

दर्श दर्श भुवनविदिता भारती पुण्यभूमीम्
तीर्थीभूत· स धरणिसुर सेव्यमानो महद्भिः
याज याज सुविहितमखै स्तत्रदेवद्विजातीन्
दिव्यै शिष्यै निजमपि पुर चारुतीर्थी चकार ॥६५॥

इति श्रीहरनामामृते परिसमाप्तोऽयं दशमः सर्गः



हरनामामृते एकादशः सर्गः

(वानप्रस्थाभिरुचिः, विद्याधनं ह्येव धनं बुधानाम्, अद्यतनी दयनीया गृहस्थगति, आत्मनात्मानमुद्धरेत् हरद्वार-निवास, पार्वती सुषमा)

शान्तोऽप्यशान्तात् जगतो मनस्वी कौवेरकाशी बहुधा जगाम
गुहास्थित कश्चन यत्र सिद्ध प्रबोधयामास बुध तमित्थम् ॥१॥
बुद्ध्वापि बोध्य विबुधै हि यद्यत् लब्ध्वा च तद्यत्परतो न लभ्यम्
कि यापयन् व्यर्थमहो स्वकालम् नैवात्मन कृन्तसि विश्वपाशान् ॥२॥
लभ्य हि नेद नरजन्म नित्य स्थेय न वा भूतल एव नित्यम्
कार्याणि कर्माणि तथापि नित्य गृहे स्थितानामथ चापरेषाम् ॥३॥
कुटुम्ब सम्पोषणमात्र लीनै रार्यै स्थित नेह सदैव गेहे
लक्ष्य हि यद् वास्तविक जनाना तत्प्राप्ति हेतोरपि तै प्रयत्यम् ॥४॥
श्रुत्वा तदीय वचन हित तत् स्थिर्ति ह्यनित्या च विचिन्त्य लोके
नवाय सद्म परिवर्तनाय स्वचित्तमाधत्त वनस्थ-वृत्तौ ॥५॥
आहूय सद्य स्वसुतं विदेशात् षट्शास्त्रबोध - प्रतिभासमृद्धम्
समग्रलोकव्यवहारदक्ष देवीप्रसादं च तमेवमाह ॥६॥
तत्रैव दुर्गाचरणाब्जभृङ्गो भ्राता कनिष्ठो मदनाभिधान
अहेतु सर्वोपकृतौ प्रवृत्त पार्श्वे समाकर्णयति स्म सर्वम् ॥७॥
धनाश्रिता यद्यपि लोकयात्रा तदर्जन तत् सुविधेयमेव
विद्योतते किन्तु गृह बुधाना विद्याधनैरेव परैर्न रत्नै ॥८॥
उपार्जित तत्र वितीर्यते चेत् कारानिबद्ध गपते द्विज तत्
स्तुत्यश्च विद्याविभवोऽपि नासौ विद्वत्सु चेद् भाति न कीर्ति काति ॥९॥
धनार्जने मग्नधियैव पुसा स्व सन्तति श्चेन्न सुशिक्षिता वा
किर्माजित मूढधिया हि तेन प्रक्षिप्य रत्नानि वराटिकाभ्य. ॥१०॥
त्यक्त्वा धनाप्तेर्व्यवसायबुद्धि वृणीष्व तद् बुद्धिपथं बुधानाम्
परोपकारेण निजोपकारो विश्वोपकार श्च सदा विधेय. ॥११॥
तद्योग्ययो र्न्यस्य गृहस्थभार स्कन्धे समर्थे युवयो स्वतन्त्र.
स्वय तृतीयाश्रममाश्रयिष्ये क्षीणा स्वतो यत्र गृहस्थ बन्धा. ॥१२॥

जपैरनेकै र्व्रतयज्ञदानै श्रुतिस्मृतीनां हि च तपदेशै.
गृहे गृहस्थै समुपार्ज्यते यत् सपीयते तस्य रसो वनस्थै ॥१३॥
गृहस्थधर्म परिपालयद्भि प्रवृत्तिमार्गो धृयते प्रकृत्या
सुख निवृत्तेरपि तैर्निपेव्य मता निवृत्ति परमा प्रवृत्ति ॥१४॥
कर्माणि तत्रापि न कानि कानि श्रेष्ठाणि दीक्षान्यथ दिव्यभावै
स्वबन्धुभावोऽत्र विभु स्वभावात् स्वस्मिन् परस्मिश्च न कोऽपि भेद. ॥१५॥
स्थितैर्निवृत्तावनुभूयते या सर्वात्मभावैक - रसानुभूति
ससारसिन्धो. प्रबलैस्तरङ्गैरालोडितै सा सुलभा क लोकै ॥१६॥
गृहस्य कोणे कचिदाहताना श्वासेन कासेन विनिद्रितानाम्
कि जीवनं हन्त जरावृतानाम् रोगैर्वियोगै रुदतां सदैव ॥१७॥
नाह निवद्धोऽस्मि गृहस्थ बन्धै युंवा च लोके व्यवहार दक्षौ
एपा कृपा कारुणिकस्य शभो विद्वद् गृह वंध-विमोचनाय ॥१८॥
इत्येवमाभाष्य स भाष्यभानु' मौन सुताभ्या विदितागमाभ्याम्
अङ्गीकृतार्थोऽमरसिघुतीर निपेवितु प्रीतमना वभूव ॥१९॥
धन्यो गृहस्थ. किल सोऽस्ति लोके गृह त्यजेद्यो गृहभारमुक्त.
न तैलिकाना वृपभै समान चक्रे चलन्नेव विपद्यते च ॥२०॥
धन्यानि राष्ट्रस्य दिनानि तानि वनेषु वास स्पृहयन्ति येपु
चितासु दग्धेऽपि गृहस्थचिता प्रवर्धमानेव न दह्यतेऽद्य ॥२१॥
जनोऽद्य विस्मारितविश्वरूपो नियन्त्रित केन गृहे निरुद्ध ?
हेतोश्च कस्माद् विवशी - कृतोऽय गृहात्परं पारयते न गन्तुम् ॥२२॥
वध्नन्ति त भोगसुखानि किम्वा नित्य कलत्रात्मजपोपणेहा
समाजदोपा उत धर्महीना भ्रष्टा गति र्वाऽद्य जनस्य सर्वा ॥२३॥
किं जीवन जातमिद जनाना प्रतिक्षण चिन्तितचेतसां न
येषामभावस्य न कापि पूर्ति तुष्टिश्च भाग्ये लिखिता न येपाम् ॥२४॥
इयं यथा गेहगतिस्थितिर्न. क्षीयेत सद्यो भवजन्मभाजाम्
तथा प्रयत्न सकलैर्विधेयो नात. परं सह्यमिद च मौनं ॥२५॥
"भाव्येन भाव्यम् नहि जातु कश्चित् तदन्यथाकर्तु मिह प्रभु स्यात्
धृतव्रतानामिह चित्तवृत्तौ कदाप्युदेत्येप न दीनभाव ॥२६॥

क्षरणेन सर्वं सुलभ जगत्या नेच्छा जिगीषो रवरोधमेति
अग्रेसरैर्भाव्यमतो महद्भि र्विजूय विघ्नानि मनोबलेन ॥२७॥
स्वार्थस्य सिद्ध्यै धृतभूरिवेषो न कोऽपि नेता पथदर्शको न.
निःश्रेयसे तत् स्वयमेव विज्ञो मार्गे स्वतन्त्रे स्वगति विधत्ते ॥२८॥
आर्यै पुराणैः सुतरा विभक्तो मार्गश्चतुर्धाथ य आश्रमाणाम्
स एव मार्गोऽत्र मथानुसार्यं क्रमाच्चलन्नेव समेति लक्ष्यम् ॥२९॥
सुरापगाया रमणीय तीरे भव्ये निवासाय कुले-ऋषीणाम्
स विज्ञवर्यो हरनामदत्त. ययौ हरद्वारमतो वदान्य. ॥३०॥
ज्वालापुरस्थेऽपि महाप्रशाते विद्यालये वा नरदेववर्यैः
सम्प्रार्थित शास्त्रिवरै र्वेदान्त्यै र्गाव्यामृत विज्ञवरो ववर्ष ॥३१॥
साक्षात् कृतार्थै र्भुवनस्य धर्मा शान्तिश्च येषा मनसि स्वभावात्
सन्यासिनस्तत्त्वविवित्सया ते मुमुक्षवोऽप्यस्य जहुर्न पार्श्वम् ॥३२॥
त शुद्धबोध स्वयमेव तस्मिन् सविग्रह सन्ततमासिषेवे
कस्येह काल स न वदनीय शास्त्रीय चर्चा निरतस्य तस्य ॥३३॥
धन्या स्मृति स्तत्समयस्य पुण्या तत्त्वार्थमालोचनतत्पराणाम्
प्रतिक्षण यत्र विचारवीची मथ्नाति नित्य नवनीतमर्थम् ॥३४॥
प्रतीपगा एव वहन्ति धारा विधिश्च भिन्न सुधिया हि येषाम्
समेत्य ते तत्र महासमुद्रे एकार्थतायामभवन् कृतार्था ॥३५॥
श्रुत्वा विसम्वाद-विचारचर्चा मध्येस्थितोऽय विहसन् तटस्थ
नानाश्रयाणा स्वरमूर्छनानां साम्य मनोहारि चकार नित्यम् ॥३६॥
सिद्धाश्रमे तस्य पवित्रवासे चचाल चर्चा च सदेयमेव
किं ब्रह्म शब्दस्य च किं स्वरूप कथ जनानां सफलश्च जन्म ॥३७॥
किं जीवन कुत्र वय भ्रमाम कथ च लोके प्रगतिर्विधेया
योऽय प्रपञ्च प्रतत समन्तात् केनप्रकारेण निरस्य एष ॥३८॥
अद्वैतसिद्धान्तपथानुयायी तस्यैव नित्य परिपोषकश्च
विशुद्धमानन्दमय यतीशम् निज गुरु भावयतेतरा न ॥३९॥
सर्गेषु सर्वेष्वपि सन्धिमिच्छन् विसर्गमध्यत्रापि नोऽत्र तत्रे
स्वरेण नित्येन च सधिमिच्छन् न व्यञ्जनै सविमनौ व्यधत्त ॥४०॥

क्वचिद् विविक्ते गिरिपार्श्वदेशे गंगातटे वा स्थिर चित्तवृत्ति
निनाय काल स सुखेन शान्तो भ्रमन् प्रदेशेषु सुख गिरीणाम् ॥४१॥
सौन्दर्य राशेश्च विभीषिकायाः सद्वैव येषा वसति शरीरे
ये दूषिता हिंसकवृत्तिवासै रपि प्रिया सन्ति मुनीश्वराणाम् ॥४२॥
नोष्मा कदाचित् शिरसीह येषा ये चासमाश्चापि सुधीरधुर्या
येभ्यश्च पाषाणकठोरहृद्भ्य स्वच्छा सदा सत्सरितो वहन्ति ॥४३॥
नक्षत्रमालाः सतत नवीनम्प्रतिक्षण यत्र च यामिनीषु
रम्येषु सधापयते प्रसन्ना स्कन्धेषु हार रमणीयतायाः ॥४४॥
छाया तरूणा शिशिरा न्यसेवि क्वचिन्नदीना मृदुसैकतञ्च
क्वचित् प्रिय शीकरशीतवायु क्वचिद्गिरीणा शिखराधिरोह ॥४५॥
एव स वाग्मी विहरन् स्थलीषु स्वभावरम्यासु सह स्वशिष्यै
व्यलोकि ता ता रचना विधातु र्गुणै विचित्रामिह निर्गुणस्य ॥४६॥
एषैव मायास्य विलक्षणस्य ग्रस्ता विरोधै र्विविधै समस्ता
ज्ञाता न कैश्चिद् विदुषा वरेण्यै र्नचापि वेद्या पुनरत्र कैश्चित् ॥४७॥
पदे पदे तेन पद नवीन कथा च काचित् कथिता नवीना
तत्तत्स्थलानामितिहास - चर्चा सश्राविता सच्चरितैरुदारा ॥४८॥
मुखेऽवनद्धा रजतेन यष्टि करे परस्मिंश्च सवारि पात्रम्
विभूषयामासतुरस्य हस्ता वाचारपूतस्य सदैव तस्य ॥४९॥

हृदयसरसिज विकासयन् सन्
दिशिदिशि मौर्ख्यमय तमो निरस्यन्
सुकृतपथि नियोजयन् समस्तान्
रविरिव विजवरश्चरन् बभासे ॥५०॥

इति हरनामामृते परिसमाप्तो एकादशः सर्गः



हरनामामृते द्वादशः सर्गः

(निःसत्त्वमद्यतनं युगम्, प्रहृष्टा संस्कृतसंस्कृतिः, ऋषिकुल-महाविद्यालयादि विद्वन्मण्डली, कुरुक्षेत्रम्, विप्रसम्मेलनम्)

सौम्ये सुरसरित्तीरे तस्मिन्नेव विहारिणि
आसीने ध्यानमग्ने वा शान्ते सिद्धाश्रमे सुखम् ॥१॥
दुर्गापाठरते मौन तत्तच्छास्त्रानुशीलने
विद्वद्गोष्ठीपरे प्रीते शिष्यवर्गानुशिक्षणे ॥२॥
युगेऽस्मिन्नपि नि·सत्त्वे स्वेच्छाचारपरायणे
पतिते भौतिकावर्ते तत्तत्कुव्यसनावृते ॥३॥
भौतिकैरैन्द्रियै र्भोगै रात्मशक्ति - विनाशकै·
स्वातन्त्र्यमन्त्रपोषेण स्वातन्त्र्यस्यापहारके ॥४॥
सत्यज्ञान - तपोदान - श्रद्धा - सत्कर्म - शत्रुभि
तैस्तै रन्यैश्च दुर्भावै रभिभूतात्मवृत्तिभि ॥५॥
नित्यमन्तस्तमोग्रस्तै र्बहि र्विद्युद् विमोहितै
दिक्षु सर्वासु निस्सारै र्निर्मूलै सर्वतोगतै ॥६॥
वाक्शूरै र्मन्त्रशूरै र्वा मिथ्याचार - विहारिभि
कृत्रिमे जीवने व्यस्तै रापूर्णे च दुरात्मभि· ॥७॥
कलौ काले महाघोरे सर्वसंस्कार - वर्जिते
ज्ञानभानुप्रभा - ध्वंसि - धूलिभि सर्वतो वृते ॥८॥
सगेनास्याभवद् हृष्टा भूय सस्कृत संस्कृतिः
आर्याणा च महो दिव्य स्थले तस्मिन् बभौ पुन ॥९॥
महर्षीणा तपोभूमे र्जात साक्षाच्च दर्शनम्
निन्दिता पापिनी वृत्ति र्धार्मिकी च समादृता ॥१०॥
यज्ञधूमै पुन सर्वम् सव्याप्तम्परितो नभ
देवा सर्वेऽपि सन्तुष्टा· सर्वे लोकाश्च संस्कृता· ॥११॥
सदाचार - सदाधार - ज्ञान - तेजो - विभासुरै
प्रख्यातैश्च बुधै पूर्णो साक्षात्कृतपरात्परै· ॥१२॥

गगा तरगसंगीते वेदध्वनिनिनादिते
घृतेन पयसा तृप्ते हविर्गन्धै सुगन्धिते ॥१३॥
नानाखगमृगाकीर्णे नानारामैर्विभूषिते
घनैर्वनै· समाच्छन्ने पर्वतै परिवेष्टिते ॥१४॥
आर्षे कुले सरित्कूले महाविद्यालये पुन.
पुण्ये ·कनखले भव्ये नव्ये गुरुकुले तथा ॥१५॥
विदुषा ज्ञानतीर्थाना श्रेणयस्ता विराजिरे
ब्रह्मलोकम् परित्यज्य सस्नौ यत्र सरस्वती ॥१६॥
त्रिपुर्या कोऽपि कालोऽय शिक्षातारुण्यसूचक·
ननृतु यत्र गगाया स्तरङ्गैर्ज्ञानवीचय ॥१७॥
मान्या गिरिधरास्तेषु नानाशास्त्रधुरधरा
चातुर्वर्ण्यस्य धर्मस्य प्रत्यक्ष दिव्यमूर्तय ॥१८॥
दृष्टिर्नव्या प्रदत्ता यै दर्शनालोकहेतवे
रक्षायै सस्कृतेर्नित्य कटिबद्धाश्च ये सदा ॥१९॥
साहित्यदर्पणादर्शा शालग्राममहोदया
विद्वद्वरेषु विख्याता टीकया विमलाख्यया ॥२०॥
प्रसिद्धा अद्य नेतारो विद्वद्गोष्ठी - विशारदा
तत्रैवासन् तदा तेषु श्री कालेलकरा अपि ॥२१॥
सिद्धा व्याकृतिससारे मान्या लक्ष्मणशास्त्रिण·
वेदज्ञा पन्तवर्याश्च दुर्गादत्तमहोदया ॥२२॥
कापिलै· पुरुषैस्तुल्या बलरामा उदासिन
ज्ञानदीप्ता अभासन्त प्रशान्ते गुरुमण्डले ॥२३॥
बमुर्ज्वालापुरे तद्वद् दर्शनानन्दमानिन
तेजस्विनो महात्मान शुद्ध - बोधाश्च योगिन· ॥२४॥
स्वाध्यायामृतपानाय यावज्जीव धृतव्रता
वेदवेदागतत्त्वज्ञा नरदेवाश्च शास्त्रिण ॥२५॥
साहित्यारण्य - कुञ्जेषु स्वैर गर्जनतत्परा
समालोचक - पञ्चास्या पद्मसिहमहोदया ॥२६॥

विज्ञा गुरुकुलेऽप्यासन् सर्वशास्त्रदिवाकराः
काशीनाथा महाभागा विद्वत्पूज्या. सतामता ॥२७॥

श्रद्धानन्देति च ख्याता मुंसीराममहोदया
सद्धर्महुतसर्वस्वा निर्भीका ज्ञानदीपकाः ॥२८॥

विद्यालङ्कारसम्पन्ना इन्द्रप्रभृतयो बुधाः
लेखका वाग्मिनो नाना — नवान्वेषणतत्पराः ॥२९॥

दैवादेवम्विधा दिव्या छात्रा अपि तदाऽभवन्
उज्ज्वलानीव रत्नानि द्योतन्ते ये पुरे पुरे ॥३०॥

अद्याप्याशास्यमानैव चर्चा चेत् कापि ससृतौ
श्रूयते सुरभारत्या तेषामेव हि तत्फलम् ॥३१॥

पूज्या गुरुकुलाचार्यां वृन्दावन — विहारिणः
द्विजेन्द्रा मयराष्ट्रस्था. शास्त्रालोक — विभासुरा ॥३२॥

साख्यसत्त्वप्रकाशेन तमोविध्वसने रता
उदयवीर - सन्नाम्ना राजमाना सभास्थले ॥३३॥

निमज्ज्योन्मज्ज्य गङ्गाब्धौ सन्ततं यः प्रहृष्यति
प्रसन्नवदनो वाग्मी दर्शनेन सुदर्शन ॥३४॥

श्री परमेश्वरानन्द - उपाध्यायो महान् महान्
षडम्बुं कुरुते यस्य पञ्चाम्बु शिष्यवाहिनी ॥३५॥

लीलाधरो महाभागो नानाशास्त्र—विचक्षण
कर्मठो ध्यान – सलीनो धर्म – व्याख्यान – भास्कर. ॥३६॥

मनस्वी परमानन्द सत्कवीना विनोदभाक्
माधवो रामदत्तश्च प्रसिद्धो काव्यसंसृतौ ॥३७॥

नित्य शास्त्ररसे मग्ना लेखका प्रेमवल्लभा.
सर्वज्ञा इन्द्रदेवाश्च साहित्यामृतवर्षकाः ॥३८॥

सर्वैरेभिर्महाभागै रत्यैश्च नरपुंगवै.
तत्तद्देशसमायातै नित्य विद्वद्भिराद्दते ॥३९॥

प्राचीनेऽपि नवीनाना भक्तिस्तस्मिन् बलादभूत्
पूजार्हो लभते पूजा यत्र कुत्रापि सविशन् ॥४०॥

नित्य शास्त्ररस नव्य वाणी तस्य ववर्ष ह
य निपीयाप्यल विद्वान् पातुमैच्छत् पुन॰ पुन. ॥४१॥
रसस्य तस्य लोभेन सारस्वततटाश्रिता
मुहु. सम्प्रार्थ्य निन्युस्त महामान्य स्थले स्वके ॥४२॥
कुरुक्षेत्रे महाक्षेत्रे शौर्यज्ञानसमुज्ज्वले
धर्मार्थोत्सृष्टवीरासृग् - रक्तपङ्कज — संकुले ॥४३॥
धर्मराज्याय वीराणा यत्र हुत्वाप्यसून् सताम्
लोकस्थितावधर्मस्य प्रसारोऽद्यापि नो हृत. ॥४४॥
पुराऽस्मिन् भ्रातृ - सघर्षे कुलमेक मनीनशत्
साम्प्रत निखिल विश्व स्वनाशे दृश्यते रतम् ॥४५॥
तस्मिन् किन्तु समुदभूत गीत तन्महदद्भुतम
लघ्वीमपि तनु बिभ्रद् नरो यस्मादभूद् विराट् ॥४६॥
प्रबुद्धा यस्य गानेन सुप्ता सर्वापि संसृति
अज्ञानध्वान्तसरुद्धो ज्ञानमार्गश्च शोधित. ॥४७॥
अच्छेद्यत्वमभेद्यत्व यतो मर्त्योऽपि विन्दति
ध्रुवां कीर्तिं विभूतिञ्च जिगीषुरधिगच्छति ॥४८॥
शाश्वतो यत्र सन्देशस्त्रिकाले चाव्यया मतिः
गति र्यत्रच सर्वापि स्वलक्ष्याधायिनी सदा ॥४९॥
यत्रास्ते सर्वधर्माणां दर्शनानाञ्च पूर्णता
नवोत्साहो नवा स्फूर्ति र्जीवनञ्च पदेपदे ॥५०॥
यत्र चानुपमा काचिद् वहति त्रितटा नदी*
निमज्ज्यैव नरो यस्या ससाराब्धि तितीर्षति ॥५१॥
तीर्थे यत्र च साम्राज्ये श्री हर्षस्य यशस्विन.
युगपद् भासिनी विश्व वाणी बाणस्य गुञ्जिता ॥५२॥
यत्र सर्वान्तकृन् — कालश्चार्याणा भाग्यमग्रसत्
कृतो येनोरुभगेन भगो राष्ट्रकटेरपि ॥५३॥
तस्मिन्नेवेतिवृत्तस्य स्मारके भारताङ्गणे
भारतादखिलाद् विज्ञाः ब्राह्मणा धर्ममूर्तयः ॥५४॥

* ज्ञानकर्मोपासनात्मकत्रयान्विना ।

नव्याः प्राच्याश्च संभूता विद्यावन्तो यशस्विनः
ब्रह्मतेजोभिरादीप्ता. प्रात. पूज्यास्तपस्विन· ॥५५॥

विद्याकोषस्य सम्वृद्ध्यै श्रेयसेऽभ्युदयाय च
समुद्धाराय चातीत – गौरवास्पदपद्धते. ॥५६॥

तत्रासीत् स्वागताध्यक्षः सर्वशास्त्रशिरोमणिः
प्रख्यातो धीरधौरेय. साक्षात् श्रीगरुडध्वजः ॥५७॥

प्रधानासनदानेन सभ्यैरेभि. कृतादर·
शंकर हृदि निध्याय विधाय द्विजवन्दनाम् ॥५८॥

स्थापयन् श्रौतसिद्धान्तं पथानं दर्शयन् सताम्
चूर्णयन् कैतवी नीतिं भ्रान्तिमुत्सारयन् नृणाम् ॥५९॥

वर्णाश्रमस्य धर्मस्य रहस्य चानुवर्णयन्
सञ्चारयन् नवोत्साहं पथभ्रष्टान् नयन् पथि ॥६०॥

जातिम्वा सम्प्रदायम्वा नैकमुद्दिश्य केवलम्
उदारां वाचमाचख्यौ रक्षन् विश्वहिता दृशम् ॥६१॥

सदसि तद् गदित वचनामृतम्
सहृदयै रवधाय निपीयताम् ।
तदनुदर्शित – भारत – सस्कृते
प्रतिजनं रस एष च सिच्यताम् ॥६२॥

इति श्री विद्याधर शास्त्रि विरचिते हरनामामृते कुरुक्षेत्राद्भुत रहस्य प्रकाशकः
परिसमाप्तो द्वादश सर्गः



हरनामामृते त्रयोदशः सर्गः

(अध्यक्षीयं भाषणम्, वैज्ञानिकी वर्णव्यवस्था, ब्राह्मणत्वम्,
विश्व-कल्याण-भावना)

विश्वंभरातोऽखिल विश्वदर्शिन.
विश्वात्मसंतर्पण दत्तचेतस. ।
ससारसिंधोस्तरणादि - मेतवै
पूज्या नतोऽहं चरणेषु व. सदा ॥१॥

नमोऽस्तु वो भूतलभूषणेभ्यो नमोऽस्तु वो भारतभूसुरेभ्यः
नमोऽस्तु वो न्यक्कृतदुष्कृतेभ्यो नमोऽस्तु व. संस्कृतजीवनेभ्यः ॥२॥
कथं हि कश्चिद्भवतां सभाया सभापति. स्यान्ननु मादृशोऽपि
दिवाकराणामुदयाद्रिश्रृंगे खद्योतपोतः किमुपैतु कान्तिम् ॥३॥
प्रभाकरायापि समर्प्यतेचेद् पूजाविधाने यदि कोऽपि दीपः
नाहं हि सोऽप्यस्मि चलप्रकाश· मन्दोऽस्मि तस्मै जगतीप्रवातै. ॥४॥
क्षम्या हि तस्माद् विवशा स्थितिर्मे क्षमावरैः विप्रवरैः सुधीरैः
अभीप्सितार्थ - स्थिरसिद्धि - सिद्ध्यै सर्वत्र संदत्तनिजावलम्बैः ॥५॥
किं नामाभिनवं किञ्चिद् वच्मि तेषाञ्च सम्मुखे
लोकेऽस्मिन् ये स्वयंसिद्धा ज्ञानविज्ञानभासका. ॥६॥
अशान्ता जगती शान्ता कृता शान्तिमयीच यैः
त्रिविधं च जगद्दुःखं क्षणेनैवापसारितम् ॥७॥
सिद्धान्ताश्चापरे ये ये राजनीतिश्च निर्मला
धर्मशास्त्रं च यत्पुण्यं सर्वं तत्तपसां फलम् ॥८॥
आलोकितं जगत्सर्वं ब्राह्मणै र्ब्रह्मदर्शिभिः
बाह्यमाभ्यन्तर सर्वं तमश्चास्यापसारितम् ॥९॥
ब्राह्मणै. स्वार्थसिद्ध्यर्थं ते ते धर्माः प्रचारिताः
सासूयं केऽपि ये नित्यं ब्रुवन्त्येवं ब्रुवन्तु ते ॥१०॥
निन्दन्तु यदि निन्दन्ति विचिकित्सापरायणा.
सत्य सनातनं नित्यं नह्यनित्यं भवेत् क्वचित् ॥११॥

सत्य न स्वप्रकाशाय जातु हेतुमपेक्षते
स्वय चन्द्रस्तमोहन्ति स्वय भानुश्च भासते ॥१२॥
अनार्या अपि चेदार्यं. — शूद्रसज्जातिमाश्रिता.
विप्राणामेव सा शक्तिर्विप्राणामेव सा कृपा ॥१३॥
फलैर्मूलैश्च जीवद्भि क्वचिदेकान्त-कानने
कस्यापि क्वचिदेभिश्चे त् हृत किञ्चित् हृत हि तत् ॥१४॥
कृषकेभ्योऽखिला धात्री शिल्पिभ्य. शिल्पसहृति.
क्षत्रियेभ्योऽखिल राज्य विप्रैः सर्व समर्पितम् ॥१५॥
धन धान्य धरा सर्वा यदन्यद् वृत्तिसाधनम्
दत्त तत्सर्वमन्येभ्य स्वय भिक्षाश्रितै द्विजै. ॥१६॥
छद्मना किन्तु पाश्चात्यै र्नीतिरेषोररीकृता
'ब्राह्मणा भारतप्राणा दूषणीया यथातथा ॥१७॥
ब्राह्मणे निन्दिते जाते स्वयं निन्द्ये त सस्कृति
कारणे विकृते जाते कार्यं विक्रियते स्वयम् ॥१८॥
ब्राह्मणै रक्ष्यते नित्य ब्राह्मणस्वार्थसाधिनी
वर्णाश्रमव्यवस्थेयम्'' वदन्त्येतच्छ्र छलेन ते ॥१९॥
किन्तु नाविष्कृता विप्रै रिय स्वाभाविकी स्थिति
धर्मार्थकाममोक्षाणा शाश्वती कापि साधिका ॥२०॥
सामान्यश्च विशेषश्च द्वौ पदार्थौ सनातनौ
साम्ये सत्यपि सर्वत्र विशेषोऽपि सनातन ॥२१॥
न च कार्याणि सर्वेषा तुल्यान्येव हिताय न.
भिन्नभिन्नार्थ-सम्पत्त्यै वैशिष्ट्य हि कणे कणे ॥२२॥
कैश्चिच्चेद् ब्राह्मणै स्थेय ज्ञानविज्ञानरक्षकै
राष्ट्ररक्षापरै कैश्चित् क्षत्रियैरेव सर्वदा ॥२३॥
साकर्ये वर्णवृत्तीनामेकत्रापि स्थिते क्वचित्
कर्मक्षेत्रेऽपि साकर्य भवेन्नित्य भयावहम् ॥२४॥
क्षत्रियो युद्धभूमौ चेत् ब्राह्मणी वृत्तिमाश्रयेत
त्यक्तशस्त्रो विरक्तोऽय राष्ट्रपाताय जायते ॥२५॥

सर्वैस्तस्मादनुष्ठेयं स्वस्वकर्म द्धात्मभिः
स्वधर्मः श्रेयसे नित्यं परधर्मो भयावह ॥२६॥
शूद्रा द्विजत्वकामाश्चेत् तेषामेषा मतिः शुभा
अखिलैरेव सम्पोष्यो लोकेऽस्मिन् सात्त्विको गुण. ॥२७॥
सदाचारपरैः स्थेयं सर्वैस्तैः किन्तु सन्ततम्
विना सत्त्वस्य सशुद्धिम् द्विजत्वं नैव वर्धते ॥२८॥
दुर्वृत्ता नैव जायन्ते ब्राह्मणा अपि ब्राह्मणाः
शान्तो दान्तः क्षमाशीलो ब्राह्मण इति पूज्यते ॥२९॥
स्वाभाविकी भवेद् भक्तिः सत्यरक्षापरा मतिः
दिव्या सारस्वती शक्तिः ब्राह्मणे समपेक्ष्यते ॥३०॥
निर्भीतिः सत्यवक्तृत्वं सभाया स्पष्टवादिता
सर्वेषां यत्र विश्वासः ब्राह्मण. स समर्च्यते ॥३१॥
वेदमूर्तिरयं विप्र. प्रकाशितपरावर
तस्मिन् स्वस्थे जगत्स्वस्थमस्वस्थेऽस्वस्थमेव तत् ॥३२॥
न क्रोधाय न लोभाय स्थान देयं द्विजात्मना
क्वचित्तेन न च स्थेयं वृत्त्यै परवशात्मना ॥३३॥
विप्रैरद्य परित्यक्ता गुणाः स्वाभाविका निजाः
परिक्लिश्यन्ति तस्मात्ते भृशं लोकश्च खिद्यते ॥३४॥
दैन्यवृद्धिकरी ह्येषा स्वात्मसत्त्वविनाशिनी
ब्राह्मणैर्ज्ञानखड्गेन छेत्तव्या हीनभावना ॥३५॥
दुष्टा सर्वेऽपि दग्धव्याः प्रदीप्तब्रह्मतेजसा
क्षन्तव्या न क्वचित् केचित् पापमार्गप्रचारका ॥३६॥
पुण्यावृत्तिः समुद्भाव्या दौरात्म्यक्षयकारिणी
शास्त्ररक्षा च कर्त्तव्या शिक्षा देया च शाश्वती ॥३७॥
गर्हितश्चेत क्वचिद विप्रैः कृत वा क्रियतेऽधुना
न केनापि प्रशस्य तत् गर्हित गर्ह्यमेव हि।
सर्वे देशा स्वदेशा न. हिते लोकस्य नो हितम्
व्यापिनी नो महावृष्टिः कस्य क्षेत्रे न वर्षति ॥३८॥

कले· कालस्य घोरस्य प्रभावो धर्मनाशक·
विश्व-दृष्टिर्विलुप्ता यत् ब्राह्मणे ब्रह्मदर्शिनि ॥३९॥

क्षुद्रा दृष्टि· सदा हेया विधेया विश्वहर्षिणी
यत्र कुत्रापि यत्सत्यं ग्राह्य तच्च ततस्तत· ॥४०॥

सत्यं न स्वविकासार्थं जातु जातिमपेक्षते
यत्र सत्यं स्वयं तत्र जाति स्याद् गुणशालिनी ॥४१॥

द्विजद्रुह सन्तु सहस्रशोऽपि द्विजे न तेभ्य परिशङ्कनीयम्
द्विजस्वरूपे प्रकृतिप्रशान्ते विद्वेषवह्नि स्वयमेतिशान्तिम् ॥४२॥

ओजस्विनी तस्य निशम्य वाचम्
कर्तव्य – बोधेन विचारमग्ना·
प्रोत्साहितास्तेन विपश्चितस्ते
दीप्ता बभूवुर्निजगौरवेण ॥४३॥

स्थित्वा यथेच्छ कतिचिद्दिनानि स्नात्वा च पुण्ये सरसि प्रसन्ने
पुनर्न्यवर्तिष्ट निजे निवासे ततो मनोहारिणि सिद्धपीठे ॥४४॥

इति श्री हरनामामृते विप्रवैभवो नाम परिसमाप्तोऽयं त्रयोदशः सर्गः



हरनामामृते चतुर्दशः सर्गः

(यज्ञशाला, वैदिकी हिंसा न हिंसा, हिंसाविरोधः,
स्वार्थग्रस्तः साम्प्रतिको जनः)

पदे पदे तीर्थशतैरुपेते राज्ये ततोऽथ त्रिहरे कदाचित्
सद्भिः स नीत त्रिहरि विशालाम् पुरीम्प्रसन्न-प्रकृति-प्रसन्नाम् ॥१॥
सुस्वागतै पौरजनैरसख्यै विज्ञैश्च सर्वैरभिनन्द्यमान
भव्यामसौ कामपि यज्ञशाला ददर्श यस्या हुतदिव्यगधाम् ॥२॥
शास्त्रीयचर्चाञ्चितचारुभावा तास्ता कथा यत्र बभूवुरार्या
नानाविधै कर्मभिरातिथेयै स्वाहेति मन्त्रध्वनिभि सहैव ॥३॥
अहो बुधाना हि समागमेषु प्रतिक्षण के न नवा विभावा
हासेऽपि येषा रुचिरैर्विलासै सरस्वती नृत्यति यत्रमत्ता ॥४॥
तदत्र यज्ञाङ्गबलिप्रसङ्गे चर्चाथ काचित् प्रचचाल रम्या
मान्यै वेदान्यै हरदत्तसज्ञै विद्वत्समाजप्रथितप्रभावै ॥५॥
आस्ते न लोको हि सदैक बुद्धि नैकश्च पक्षोऽपि बुधस्य वादे
यमेव पक्ष श्रयते हि वाग्मी सर्वात्मनाऽसौ हि तमेव पुष्येत् ॥६॥
मासाशिनः केचन मासभक्ष्या सम्प्रेर्यमाणा जगतश्च गत्या
हिंसा न हिंसा यदि वैदिकी सा शास्त्रप्रमाणैरिति साधयन्ति ॥७॥
हिंसेति नाम्नापि विकम्पमाना कृपालव सात्त्विकवृत्ति शीला.
परे च केचिद्धि हतिम्पशूना वाञ्छन्ति न क्वापि विशुद्ध यज्ञे ॥८॥
स्वैर विहङ्गा गगने चरन्तु स्वैर कुरगाश्च वने प्रसन्ना
लोकेऽखिले सर्वहितेऽनुरक्ता नराश्च लोके मुदिता अहस्मा ॥९॥
स्वभावत कोमलवृत्तिवर्ती स्मरत्स्मृतीना वचन स तस्मात्
"यस्यास्ति मास स तमत्ति नून" पुपोष यज्ञे न वध पशूनाम् ॥१०॥
स्वयुक्तिभिः शास्त्र वचोऽनुगाभि सस्थापयस्तत् स्वमत स सम्यक्
स्थिति परेषाञ्च समीक्षमाणो धीरो न केषा न मनासि जह्रे ॥११॥
नाह विरोधी खलु यज्ञबुद्धे र्यज्ञा विधेया सतत विधिज्ञै
यज्ञात्मक चक्रमिद जगत्या यज्ञ विना न प्रगति करोति ॥१२॥

संस्कारमार्यं दधती विशाल सा संस्कृति र्यज्ञमयी द्विजानाम्
सदैव रक्ष्या च सदैव मान्या त्रैलोक्यसतृप्तिपरा स्वभावात् ॥१३॥
विधि प्रसिद्धः प्रकृते विधाने "सर्वैमिथ स्व प्रगति विधेया"
सोमेन तृप्यन्तु सदैव देवा पर्जन्यजन्यैश्च धरा पयोभि ॥१४॥
मोदेत लोको घृतधूमगन्धैरध्यात्मयज्ञै निखिलान्तरात्मा
स्वाध्याययज्ञै र्हि महर्षिसघ सन्मानदानै सुधियश्च सर्वे ॥१५॥
तत्त्व तदेतन् परमद्यनुत्तम् विध्वसबुद्धिर्बलवत् – प्रवृत्ता
लोकै न चेद वत चिन्त्यते यत् परस्य नाशेऽपि निजो विनाश ॥१६॥
जगद् द्रुष्ट्वा दुष्कृतशोधनार्थं निश्चीयता कापि सुयोजना तत्
यज्ञे प्रधान नहि वाह्य रूप विज्ञै विमृश्य खलु तस्य तत्त्वम् ॥१७॥
बलि· पशूना न बलिर्मतो मे बलिस्तु देयो निजदोषराशे.
स्वार्थस्य होमेन परार्थसिद्धि विधीयते यत्र स यज्ञधर्म ॥१८॥
प्रादुर्भवेच्चेदिह यज्ञबुद्धि राष्ट्रन राष्ट्र निगलेत् कदाचित्
दहेन्न लोकं विवश रणाग्निर्धात्रीव शान्तिश्च भवं प्रपुष्येत् ॥१९॥
सर्वश्च सर्वस्य सुखाभिनन्दी सर्वत्र सर्वाभ्युदय विदध्यात्
गुणा यथाऽन्योऽन्यकृतोपकारा त्रयोऽपिसभूय सृजन्ति सर्गम् ॥२०॥
यज्ञाय चेत्ता विदधीत हिसा हिंसा न सा स्यादिति ये वदन्ति
मीमासकास्ते दुरिताग्निदाहे र्मुक्ता नहिस्यु र्विधिरेष नित्य ॥२१॥
वाचस्पतेरुक्तिरियम्प्रसिद्धा पाप हि पापाय न मङ्गलाय
देवा न किं भेजुरक कदाचित् पश्विष्टि - सम्प्राप्त - सुवाधसोऽपि ॥२२॥
हिसा न हिसा यदि वैदिकी सा मान्योऽपि पक्ष क्वचनैव तस्मात्
न सार्वभौमो नच सर्वमान्य स्वार्थस्यभावेन स यन्न हीन ॥२३॥
तन्मानवैरेव निजात्मतुष्ट्यै पन्था वृतोऽय हि विभाति कश्चित्
स्वघातक वीक्ष्य पुर स्थित न हृष्ट पशु कोऽपि कदापि दृष्ट. ॥२४॥
देशेष्वनेकेषु पुरा सुराणा मतापि चेन् चेयमथ प्रणाली
नेय पुराणी नच सात्त्विकीयम् आर्यस्वभावो व्यथते हि यस्या ॥२५॥
शास्त्रेषु पक्षा विविधा विमृष्टा सिद्धान्त-पक्षे नहि किन्तु भेद
भिन्नेषु पक्षेषु बुधै समीक्ष्य समन्वय स्तत्र भवेन् कचिच्चेत् ॥२६॥

विधिः क्वचिद्यः स परत्र चापि स्थितो विधिर्नैष विधिर्हि कश्चित्
देशस्य कालस्य च योग्यताया कषोपलेऽसौ सततं परीक्ष्य. ॥२७॥*
सामान्यधर्मं स्वविशेषधर्मी विशेषधर्मश्च विबाधता किम्
रुद्धेऽपि वाते क्वचनावरोधै सदागति स्तस्यहि केन रुद्धा ॥२८॥
जैनैश्च बौद्धै नं सम सदाह सर्वत्र हिंसावचनै र्बिभेमि
हिंसाप्यहिंसा भवतीह काचित् न ता विना सिध्यति यत्र यात्रा ॥२९॥
रणाङ्गणे सा निजधर्मगुप्त्यै क्वचित् कृताचेत् क्रियता प्रकामम्
दग्धोदरस्यैव कृते कृतेय गृहस्य कोणे न पर समर्थ्या ॥३०॥
स्वार्थी नरो नित्यमहो न क क स्वार्थ सृजत्यद्य नव जगत्याम्
का कां न चासौ श्रयते न नीति पुन सदा तस्य च साधनाय ॥३१॥
हिंस्रस्य जन्तोर्न कदापि कैश्चिद् बलिश्च दत्तो विधिना स्वयज्ञे
न यज्ञबुद्धिर्नच धर्म बुद्धि स्वभोज्य-बुद्धिस्तदिह प्रधाना ॥३२॥
सिंधावगाधेऽद्य न कापि रक्षा न चापि काचिद् गगने दविष्ठे
यतो यतो याति नृदृक् विषाक्ता ततस्ततो वर्षति वह्निराशि ॥३३॥
के के प्रदेशा. प्रकृते सुरम्या नोत्सादिता हन्त न कामचारै
कलात्मक कि न च वस्तुजात तप फल ध्वस्तमहोऽद्य नीचै ॥३४॥
विलोक्य यान् रोदिति रम्यतेयम् विभीषिका नृत्यति दत्तताला
विडम्बनेय जनजीवनस्य काचित्प्रवृत्तिश्च चलैव धातु ॥३५॥
वनानि कृन्तन् विहगान्पशूश्च तन्वन् प्रजा कीटगणानिव स्वा
दुष्पूरणीयोदर-गर्तपूर्त्यै जनो न कि कि कुरुतेऽद्य पापम् ॥३६॥
अहो जघन्या नरसृष्टिरेषा किमद्य सर्वान् यतते विहन्तुम्
कृतार्थता यस्य सुजन्मनस्तु प्रेमात्मना भूतदयैव नान्या ॥३७॥
परस्परं भिक्षितुमुद्यताना मूढात्मनामल्पधिया तिरश्चाम्
कथ हि षड्वर्गजिता नराणा साम्यं भवेद् ज्ञानदृशा कदाचित् ॥३८॥
पशुत्वबुद्ध्यै न मनुष्ययोनिर्यस्या तितिक्षा च शम प्रधान.
दूष्ये न नेत्रे निजपक्षपातैर्भाग परेषामपि रक्षणीय ॥३९॥
दृष्टंमया ताण्डवनृत्यमेतत् स्वार्थस्य वृत्तेश्च निजाधताया.
यज्ञेऽपि नैतत् परिदर्शनीयम् स्वभावतो विश्वजनीनसङ्गे ॥४०॥

* एकत्र यो विधि र्भवति स परत्रापि विधिरेव भवेत्, एवम्विध कश्चित् विधि नास्ति

अपक्षपात वचन तदीय श्रुत्वा समेषा हृदयान्यहृष्यन्
श्रोतुश्च भूयोऽप्यथ तद्विचारान् स्थातु पुनस्तत्र तमन्वरुन्धन् ।।४१।।

अथ स निववृते विधाय तृप्तान्
सदसि पिपासितचेतस समस्तान् ।
निज-वचन-सुधारसाभिषिक्तान्
रुचिरविवेचनया चमत्कृताश्च ।।४२।।

इति श्री विद्याधर शास्त्रिरचिते हरनामामृते काव्ये परिसमाप्तोऽयं चतुर्दशः सर्ग.



१

हरनामामृते पञ्चदशः सर्गः

(परमपावनी सुरसरित्, स्मरणीया संघयात्रा, संरक्ष्या स्वसंस्कृतिः संस्कृते संस्कृतिः शुद्धा, विकृतिः स्याद् विघातिनी, ननिन्द्या बालबुद्धयः, साभाषा सुरभारती, नवः सर्गः प्रवर्त्यंताम्)

पावने जाह्नवीतीरे बुधेऽस्मिन्नित्थमास्थिते
पर्वराट् - सुकृतस्रोतो महान् कुम्भः समागतः ।।१।।
प्रसन्ना दिवि देवाश्चेदेतस्मिन् पर्व समागमे
न हृष्यन्तु कथं ह्यस्मिन् भुवि भारतजा जनाः ।।२।।
देशात् देशात् सुविख्याता विद्वांसो ब्रह्मदर्शिन
कन्दराभ्यो गिरीणाञ्च महात्मानस्तपस्विन ।।३।।
असख्याता नरा नार्यो भक्तिश्रद्धापरिप्लुता.
उपेक्ष्य मार्गज कष्ट के के तत्र न सगताः ।।४।।
एकमेव हि सर्वेषा येषा लक्ष्यमहो महत्
गंगास्नान भवेत्पुण्य आत्माभूयादकल्मषः ।।५।।
युगेभ्यो भारतेवर्षे गगेय सर्वपावनी
धीरा परमगंभीरा मन केषा न कर्षति ।।६।।
गताना वर्तमानाना भूताना भूतिकारिणी
ससृताप्यर्णव नित्यं ससारार्णवहारिणी ।।७।।
उपस्पृष्टा स्तुता स्तोत्रै पुष्पमालाभिरञ्चिता
प्रदोषे प्रत्यह प्रीता प्रतरद्दीपतारका ।।८।।
उच्चै क्वचिद्धसन्तीव नृत्यन्तीव क्वचिच्चला
धुन्वतीवाम्बर याति प्रस्तरेषु स्फुरद्गति ।।९।।
कुञ्जरव्रजसञ्चारे नमद्वञ्जुलमञ्जुला
कूले सद्गीति मग्नाभिर्ललनाभि समाकुला ।।१०।।
शैलकूटादधो वेगात् स्रवन्ती गुञ्जिताचला
न चित्त हरते केषा कलै. कल कल स्वरै ।।११।।

नित्य संसेव्य यत्तीरं निर्निमेषा निमेषतः
असीम्नोऽपि पर पारं सुपश्यन्ति मुनीश्वराः ॥१२॥
तस्या एव शुभे तीर्थे स्थले द्वे एव यात्रिणाम्
जहृतुर्हृ दयं भूरि स्वस्वभक्तिं मनोहरे ॥१३॥
ब्रह्मकुण्डे महापुण्ये सस्नुस्ते तीर्थयात्रिण·
ययुर्वा चित्तशुद्ध्यर्थं हरनामाङ्कित स्थले ॥१४॥
यत्र संगत्य तच्छिष्यैर्गु रोः सम्मानकाङ्क्षिभि·
प्रार्थित संघयात्रार्थं भक्तैश्चान्यै मुंहुर्मुहुः ॥१५॥
नानुमेने मतं तेषां वाह्याऽडम्बरलक्षणाम्
अन्तरायश्च नित्यानामाह्निकाना स्वकर्मणाम् ॥१६॥
प्रकृत्यैव जनो लोके गुणवैशिष्ट्यमर्चति
प्रवृत्तिश्च विशिष्टानां नित्यं मानपराङ्मुखी ॥१७॥
प्रसृतां नाम लोकेऽस्मिन् स्वख्याति को न वाञ्छति
किन्त्वेषा लोकतत्त्वज्ञं स्वात्मारामं न कर्षति ॥१८॥
आग्रह किन्तु शिष्याणा गरिष्ठो हि गुरोरपि
अतोऽयं वारणासीनोनीतस्तै सघयात्रया ॥१९॥
भाष्याचार्यं तमन्वीयु गुं रुगौरवसत्कृतम्
परिव्राजोऽपि सत्पूज्या पुरस्कृत्य जनै.सह ॥२०॥
भवन्ति कारणैस्तैस्तै स्तेषा तेषामनुव्रजा
भयात् केचिन्नरेन्द्राणां लोभाद्धनवतां परे ॥२१॥
केषाञ्चित् स्वार्थसिद्ध्यर्थं कौतुकात् क्रीड़िनामपि
पर सर्वात्मना सर्वे गुरूणामेव तेऽनुगा ॥२२॥
अहो काचिदनिर्वाच्या शिष्यश्रद्धा गुरून्प्रति
उपहृत्यात्म सर्वस्व यत्रात्मासम्प्रसीदति ॥२३॥
स्वप्रभावप्रकाशिन्यो हस्त्यश्व - शिविकायुता
संघयात्रा भवन्त्येव प्रायस्तीर्थेसु पर्वसु ॥२४॥
विरला तादृशी काचित् दर्शकैः किन्तु दृश्यते
दिव्यां यां शोभयामासु र्वेदा· साक्षात् समूर्तय ॥२५॥

प्रोल्लिखन् धर्मसंस्कारान् स्वच्छमानसभित्तिषु
निवृत्तोऽसौ बुधस्तस्या यात्रायाः सत्वर परम् ॥२६॥
अर्च्यानर्चयितु विज्ञान् परिपत्सु समागतान्
सत्कृतो हि भवेत्स्वस्थ सत्कृत्यैव सत परान् ॥२७॥

विदुषा सगमे तस्मिन्नपूर्वे सस्कृतात्मनि
के के न सगता विज्ञा सर्वविद्या दिवाकरा ॥२८॥

सीतारामा महाप्राज्ञा विद्यामार्तण्डभास्वरा
व्याख्यातवेदवेदाङ्गा शास्त्रिणो लोकविश्रुता ॥२९॥
भट्टा श्रीमथुरानाथा काव्यपीयूषवर्षिण·
मञ्जु — गीति — कलाकेलि — कविताकुञ्ज — केकिन. ॥३०॥

प्राच्यनव्यरहस्याना व्याख्याता ऽथ प्रकाशक
श्रीमान् प्राध्यापकश्रेष्ठ सूर्यनारायण सुधी ॥३१॥
अङ्गात् बङ्गात् कलिङ्गाच्च राजस्थानात्तथैव च
मिथिला प्रान्तत प्राप्ता बच्चूझा च विदाम्वरा ॥३२॥
अन्ये च बहवो विज्ञा ये ये तत्र समागता
आचरत् स्वागत तेषा भक्त्या सस्कृत ससदि ॥३३॥

समासीनेषु सर्वेषु प्राज्ञवर्येषु मण्डपे
स्वहार्द स्वागताध्यक्षो व्याञ्जिजद् माध्यभास्कर ॥३४॥

* अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलन स्वागत भाषणम् *

मान्या विद्वद्वरा पूज्या महात्मानो विचक्षणा
अन्ये च सस्कृतात्मान आर्यावर्त — विभूतयः ॥३५॥

कीदृश स्वागत कुर्वे कथम्वा क्रियता हि तत्
विभूना विदुषा यद्व· सर्वेषा वैभवं विभु ॥३६॥

नून भाग्योदय मन्ये कञ्चनाद्य विलक्षणम्
दर्शनं यैश्र मान्याना मन्तरात्मा प्रसीदति ॥३७॥

वय मद्य प्रवृत्ता स्म वेदोद्धार विचारणे
सस्कृतम् सस्कृतैर्भावैः कर्तु लोकञ्च सर्वग. ॥३८॥

स एव हि क्षणो लोके मान्या मान्यतमो मतः
यस्मिन् विगतचिन्तोऽय जन स्वात्मानमीक्षते ॥३९॥

शाश्वत वेत्ति यो विद्वान् यश्चास्ते तदुपासक॰
स एव पण्डितो नूनं सर्वेऽन्ये भ्रान्त — बुद्धय॰ ॥४०॥

विस्मृत सर्वमेवाद्य प्राक्तन हन्त गौरवम्
क्व तद् ज्ञान च विज्ञानम् मौर्ख्ये पाण्डित्य मास्थितम् ॥४१॥

अविद्यैवाद्य सद्विद्या कुनीति र्नीतिरेव च
शिक्षालक्ष्य शुनो वृत्ति र्वित्तं मानाय कल्प्यते ॥४२॥

अहो दुर्मतिरद्येय कीदृशी जृम्भते भवे
यया रत्नानि निक्षिप्य ध्रियते काचमण्डनम् ॥४३॥

विवेको न सदाचारो लुप्ता तत्त्वविचारणा
शुष्कवादरजोव्रातै र्दूषित लोक — लोचनम् ॥४४॥

अनाचारेण घोरेण तेजो राष्ट्रस्य नश्यति
प्रमादालस्यसमोहै राक्रान्तश्चाभिभूयते ॥४५॥

आचार प्रथमो धर्म — आधारश्चार्य — सस्कृते
लोके सरक्ष्यते सर्वम् आचारे रक्षिते सति ॥४६॥

तस्मादद्य हरद्वारे गंगाया पावने स्थले
सस्कार्येव निजा शिक्षा सरक्ष्या च स्वसंस्कृति ॥४७॥

सस्कृते सस्कृति शुद्धा विकृतिः सस्कृते कुत॰
सर्वं – शुद्धोज्ज्वले रत्ने कुतो रेखा मलीमसी ॥४८॥

कुतो वा कल्मष किञ्चित् गागेये निर्मले जले
प्रकाशो न तम॰ सूते सुकृत नच दुष्कृतम् ॥४९॥

एकांशोऽपि क्वचित् कश्चित् नास्ते यस्या निरर्थक
वाक् सेय सस्कृता साक्षात् सर्वशुक्ला सरस्वती ॥५०॥

शब्दे या व्यापिनी शक्ति सा व्याप्ता संस्कृतेऽखिला
तस्या एव परिस्फोटो लोके सर्वत्र भासते ॥५१॥

नादोऽव्यक्तश्च य कश्चित् स व्यक्त॰ सस्कृतै स्वरै
शाश्वती श्रुतिमापन्न श्रूयते सन्तत सुरै ॥५२॥

तत्तद्रूपवती भाषा यथाद्यास्ते तथा पुरा
यावन्मुखानि तावन्तो व्याहाराः स्युः पृथक् पृथक् ॥५३॥
सिद्धः शब्दस्तु सर्वेभ्यः परमेभ्यः परः क्वचित्
स एव भासते नित्ये सस्कृते सुरसत्कृते ॥५४॥
अपभ्रंशो हि भेदाना जनकः पातको नृणाम्
साम्यमिच्छन्ति ये लोके संस्कृत तैः प्रयुज्यताम् ॥५५॥
पृथिव्यामेव नैतेन साम्य सम्प्राप्स्यते तत
सहजो येन सम्बन्ध. सर्वैर्लोकै विपश्चिताम् ॥५६॥
ससर्गान् म्लेच्छभाषाणा तैस्तैरन्यैश्च कारणैः
सर्वत्र प्राकृते लोके वर्धते वाग् – विपर्यय. ॥५७॥
सम्यक् शब्द - प्रयोगेण शब्दोऽसौ लभते बलम्
स एव जायते क्षीणो न चेत् शुद्ध प्रयुज्यते ॥५८॥
दुष्टान् शब्दान् प्रयुञ्जाना दुष्टान् लोकान् प्रकुर्वते
विशुद्धा तद् बुधा वाच नित्यं रक्षन्ति यत्नत ॥५९॥
जायते स्वरवैषम्याद् वैषम्य ', जगति स्वत
विशुद्धै स्वरयोगैश्च सौम्य साम्य समेधते ॥६०॥
रक्षायै वेदतत्त्वाना शब्दशक्तेश्च गुप्तये
शब्दास्तन्मुनिभिर्नित्य सास्क्रियन्ते पुन. पुनः ॥६१॥
स्वगत सूच्यते नित्य काकैरपि पिकैरपि
स्वरतो वर्णतो भेदे भेद किन्तु स भीषण ॥६२॥
वर्णा रक्ष्या. स्वरा रक्ष्या रक्ष्या सार्थकता-मतिः
जाते शब्दे हि निःसारे विकृतिः स्याद् विघातिनी ॥६३॥
क्रियन्ता यत्र तत्रापि-आदेशा. प्रत्ययास्तथा
अक्षरे मौलिके शब्दे विकृति नं पर क्वचित् ॥६४॥
शक्तिरेषा महामाया शाश्वती शब्दरूपिणी
अस्या एव विकासोऽय भवे भावात्मक हि यत् ॥६५॥
अस्या एव स्वरस्फोटे वर्णा सर्वे स्फुटाः स्वयम्
ब्रह्मणि सर्वतत्त्वाना माभासो भासते यथा ॥६६॥

अक्षरस्य प्रपञ्चोऽयं पञ्चातीतः स एव हि
एकैकमक्षरं मन्त्र. तन्त्रसिद्धान्त – सम्मतः ॥६७॥
एकः शब्दोऽपि सुज्ञात. सुप्रयुक्तश्च सज्जनैः
कामधुग् जायते तस्मात् स्वर्गे लोकेऽपि किं भुवि ॥६८॥
सूक्ष्मं तत् शब्दशास्त्रस्य रहस्यं ज्ञातुमक्षमा·
भाषाया वाह्यरूपाणा माभासै हृंतबुद्धयः ॥६९॥
हसन्त्यद्य नवीनाश्चेद् विज्ञाः पाश्चात्यवृत्तय·
मूढात्मानो हि ते क्षम्या न निन्द्या बालबुद्धयः ॥७०॥
येषां हि यादृशी दृष्टि स्तादृश तैं विलोक्यते
कथमन्धै परीक्ष्येत शुक्ले कृष्णे च भिन्नता ॥७१॥
आलोकितं यदालोक्य सर्वं सस्कृत पण्डितैः
केचिद्दिवापि नेक्षन्ते भास्वास्तत्र करोतु किम् ॥७२॥
भाषा भाषेति भाषन्ते का भाषेति न जानते
न जानन्ति तथा मूढा कोऽस्या वक्ता च शाश्वत ॥७३॥
सन्त्यद्यापि जना विज्ञा. कवयश्चाथ मोहका.
किन्त्वालोकेन हीनैस्तै र्नान्तरात्मा सुलक्ष्यते ॥७४॥
पश्यद्भि दृश्यते नैभि शृण्वद्भि श्रूयते न च
जाग्रतोऽपि प्रसुप्तास्ते, पीता गी सस्कृता न यै. ॥७५॥
तेषु तेष्वपि देशेषु दर्शन दर्शकै. कृतम्
दृष्ट कै. किन्तु लोकेऽस्मिन् नित्य ब्रह्म पुर· स्फुरत् ॥७६॥
कतमः स रसो लोके नास्ते य सस्कृते क्वचित्
आविर्भूत तिरोभूत सर्व ब्रह्मणि जायते ॥७७॥
भाषेय सर्वभाषाणा सस्कृतीनाञ्च भूतले
माता मान्यतमा नित्या देवलोकेऽपि पूज्यते ॥७८॥
कीदृशीयमहो विम्वी नित्या संस्कृत भारती
यत्र सकीर्णतावृत्यै नावकाशो हि कश्चन ॥७९॥
शब्दान् सर्वान् समासेन योजयन्ती परस्परम्
तत्तद्विभक्ति - लोपेन नयत्येक – पदे ऽखिलान् ॥८०॥

"सर्वे भद्राणि पश्यन्तु सर्वे सन्तु निरामया
नित्येय भावना यस्या सा भाषा सुरभारती ॥८१॥
लोकस्य परलोकस्य द्वयोर्यत्र च रक्षणम्
यथार्थैरथ चादर्शै रन्विता सुरभारती ॥८२॥
त्रिलोकव्यापिनी यस्या. सस्कृति विश्वबोधिनी
त्रैकालिकाश्च सिद्धान्ता' सा भाषा सुरभारती ॥८३॥
"सर्वेस्यु सस्कृतात्मान सर्वे सस्कृतबुद्धय
करण एकोऽपि लोकेऽस्मिन् नच तिष्ठेदसस्कृत ॥८४॥
पूज्यास्ते संस्कृतात्मानो येषामेषाहि भावना
लभन्ते स्वपद सर्वे विशाले नभसस्तले ॥८५॥
सस्कृतज्ञेऽपि सकोच तुच्छा वा वृत्तिरात्मन
असह्या दूरत स्त्याज्या क्षुद्रकामा न यद्वयम् ॥८६॥
येन केन भवेदुक्त मानवेनेति का कथा
प्रस्तरेणापि यत्प्रोक्त मान्यञ्चेत् मान्यमेव तत् ॥८७॥
सर्वेष्वपि पदार्थेषु चेतनाचेतनेषु च
एक एव विभुर्नित्य विद्यते च विभासते ॥८८॥
"नवीना खलु सन्त्येते प्राचीना सन्ति ते तथा
मतिरेषाल्प-बुद्धीनाम् विज्ञा सर्वैक्यदर्शिन. ॥८९॥
कृत साम्प्रतिकै यंद्यत् क्रियते वा नव नवम्
तस्मिन्नपि शिवाशश्चेत् स्वागत तस्य कुर्महे ॥९०॥
यश्चिन्तयति यो वेत्ति चेष्टते यश्च सन्ततम्
स एवासीत् पुरासर्गे नव्ये चापि स एवहि ॥९१॥
शाश्वत शैशव यस्मिन् शाश्वत यौवन तथा
तत्रास्मिन् भारते देशे वृद्धा अपि सदा नवा ॥९२॥
नह्यत्र किञ्चन प्रत्न नूतन वा क्वचिद् भवे
द्रष्टुरेव हि सा . दृष्टि यंया वैविध्यमीक्ष्यते ॥९३॥
तस्मादुन्मील्य सच्चक्षुरालोको दृश्यता नव
नवैर्भावै नंवोत्साहै नंव सर्गं प्रवर्त्यंताम् ॥९४॥

उन्निद्रता समापन्ना साम्प्रत न सरस्वती
किमप्यभिनव गीत गास्यत्येव नवस्वरै. ॥९५॥
लोकेनापि प्रबुद्धेन ध्रु व तच्छ्रोष्यते पुन.
प्रफुल्लाञ्च मनोलोकाद् वहेन्मन्दाकिनी नवा ॥९६॥
जायते नैवमद्यैव पुराप्येव व्यजायत
नित्या वेदमयी वाणी नित्यं व्याहरते नवम् ॥९७॥
मूकेऽस्मिन् भवकारणे प्रथमतो वाक् प्रादुरासीद्धिका
कस्या शब्दगते स्वरैश्च मधुरै र्मौन जगत्या हृतम्
शब्दार्थौ च निरर्थकावनियतौ जातौ कुत सार्थकौ
सन्तृप्ता च कया गिरा विधिसुता सारस्वत वर्षति ॥९८॥
यस्या शब्दनिधि पर प्रतिनिधिस्तत्तद्युगाना महान्
स ब्रह्मे ति विदन्ति वेदमुनयो यस्या प्रकाशे परे
या नित्या विकृतिर्न यत्र भविता भूता पुरावा क्वचित्
सा शक्तिर्हि कथ विमूढमतिभि र्मर्त्यैर्मृ ता मन्यते ॥९९॥
किं तद्यत्र पदे पदे सुरगिर शब्दे विभो भासते
नित्यो य सतत सुधामपि हसन् भव्यार्थभावोद्गम
आनन्दस्य रसो विलक्षणगुणो विभ्रन्महः शाश्वतम्
रम्यामुन्नयतीह का न लहरी नित्य कवीना हृदि ॥१००॥
दिव्य संसदि सस्कृतात्ममनसा सन्देशमेव दिशन्
सस्याभ्यो विरतोऽपि नित्यनिरतो भाष्यावगाहेपुन
शान्त शुद्धमति परात्मनि भृश युञ्जन्स्वकीय मन
एकान्ते निवसन्निनाय समय मुक्तोऽत्र जीवन्नसौ ॥१०१॥

इति श्री विद्याधर शास्त्रिरचिते हरनामामृते काव्ये परिसमाप्तोऽयं पञ्चदश सर्ग.



अथ हरनामामृते षोडशः सर्गः

(ब्रह्मलोकावाप्तिः, सुधीभिः प्रवर्तिता परम्परा, विविधा विद्वद्वरेण्याः शिष्याः,
प्रकृतिः कृत्रिमायते, अनुपमा संस्कृत-संस्कृतिः)

वेत्ति ध्रुवं कः प्रथमे क्षणाग्रे
परक्षणे भावि किमद्य सद्य ।
अतर्कितं तत् श्रुतमद्य सर्वैः
जातोऽद्य मन्दो वत भाष्य-भास्वान् ।।१।।

अस्वस्थता स्वस्थमतिः स यात श्रुत्वेति शिष्यैस्त्वरयोपनीतैः
कृतेऽपि यत्ने बहुशो भिषग्भिः बाह्योपचारे न रुचिं दधौ स ।।२।।
पिबन् स शास्त्रामृतमेव तेभ्यः तदेव भूयोऽपि पिपासति स्म
स्वाभाविकी यद् विदुषामनास्था विनश्वरे भौतिकदेह-धर्मे ।।३।।
ज्ञात्वागुरोस्ता चरमामभीप्सामार्षाणि वाक्यानि निशामयन्त
समन्ततोऽमु परिवार्य तस्थु सर्वे सशिष्या विबुधाश्चिपुर्या ।।४।।
सन्देशदानाय मुहुर्निबद्धो दिदेश बद्धाञ्जलिभिस्तदानीम्
"द्विजैर्द्विजत्वं हि सुरक्षितञ्चेत् सुरक्षित तेन भवत्यशेषम् ।।५।।
उक्त्वेति वाच विनियम्य विद्वान् मौन मनोब्रह्मणि सनियुज्य
सम्पश्यतामेव च तत्र तेषाम् स ब्रह्मलोके ह्यभवद् विलीन ।।६।।
तस्मिन् विलीनेऽपि भुवो न लीना सनातनी किन्तु गतिस्तदीया
तदात्मनोर्या सुतयो वंहन्ती बभौ सुशिष्येषु नवा नवैव ।।७।।
जहौ शरीर क्षितिमात्ररुद्धम् विम्वीमरुद्धाञ्च गति जगाम
गतोऽपि तस्मान्न गत स विद्वान् ज्ञानात्मना जीवति यो जगत्याम् ।।८।।
विवेकधारा च तनोति येषा जगत्स्वसख्यान् विमलान् प्रवाहान्
कथं मृतास्ते कृतिन कृतार्था यज्जीवनाद् जीवनमेति धात्री ।।९।।
सहस्रश. पुण्यकणान् प्रसूते कचिन्निरुद्धापि गतिश्च येषाम्
शुष्यन्तु शाखा जरता तरूणा शिष्य–प्ररोहा· सरसा सदैव ।।१०।।
प्रवर्तको नैव नृपो युगाना हेतु प्रवृत्तौ बुध एव तेषाम्
यथा यथा तेन विचिन्त्यते यत् प्रवर्त्यते तत्र तथैव लोकै ।।११।।

विवर्धमाना सततं सुधीभिः प्रवर्तिता तेन परम्परा तत्
तल्लब्धभासां विदुषां यशःसु लोके विलोक्या भुवि भासमाना ।।१२।।

वेदप्रकाशेन विभासमाने
ज्ञानेन मानेन च वर्धमाने
षट्शास्त्रनिष्णातमतावुदारे
देवीप्रसादे तनये तदीये ।।१३।।

पौरैस्तथा जानपदैश्च सर्वैः सम्मानिते सम्मतिशासनाय
तत्तन्नृपाभ्यर्चितपादपद्मे तथापरैः स्नेह समुक्षिते च ।।१४।।

कलौ करालेऽप्यथ येन काले के के न देवा ननु तर्पिता न
स्वाहेति धीरध्वनिना न का वा स्थली सदा नैव कृता सघोषा ।।१५।।

धराप्रतप्ता गगनं प्रतप्तम् शुष्काश्च कण्ठाः कतिशो न सान्द्रैः
मेघै र्नभोव्यापिभि राद्रं नीलैः कृता न तृप्ता नवजीवनेन ।।१६।।

धर्मच्युता येन दृढाः स्वधर्मे कृता हताशा अपि पूरिताशाः
बुभुक्षिताः स्वादुरसाभितृप्ता मूढाश्च विद्याविनयैः समेताः ।।१७।।

अपि प्रमथ्नन् सकलान्युदारो भिन्नानि शास्त्राणि मतानि चापि
सनातनीमेव सुधा हि धर्म्या मेने स लोकाभ्युदयाय मान्याम् ।।१८।।

नित्यञ्च शास्त्रार्थपरस्तदर्थम् सद्युक्तिभिः शास्त्रवचोऽन्विताभिः
वादेषु तस्मात्तु विपक्षिपक्षम् हसन् स सद्यो विकलीचकार ।।१९।।

केचिद् विज्ञवरा सुनीतिनिपुणा कालस्थिति – स्थापका
केचिद् ब्रह्मविचारसारनिरता ध्यानेरताः केचन ।
सत्शास्त्रामृतपानमात्ररसिका केचिच्च लोके सदा
अस्मिन् सर्वमिद सुसंगतमहो गेया हि के तद् गुणा ।।२०।।

ग्रामे ग्रामे विमलमनसो यस्य शिष्याः प्रशिष्याः
धर्मश्रद्धा परमसुखिन कर्मकाण्डप्रवीणाः
दैवज्ञाने प्रथितयशसः पाणिनीये च पूर्णाः
आयुर्वेदे विहितगतयो लोकयात्रां चरन्ति ।।२१।।

धीरो भिषक् कर्मणि लब्ध कीर्तिः
तस्यापरोऽभू न्मदन स्तनूजः

य कर्मनिष्ठो गृहनीतिदक्ष
स्वबन्धु — साहाय्यपर सदासीत् ॥२२॥
श्रद्धान्वितो धर्मरतश्च नित्य नित्यञ्च शर्वार्चनदत्तचित्त
सदाशयो यः सुहृदा समाजे निनाय नैजं समय सुखेन ॥२३॥
विद्यादानैर्भुवि परितता येन शिक्षाप्रणाली
शास्त्रज्ञानामृतरसमयी भारतीया विशुद्धा ।
विद्वद्वन्द्यो विमलहृदय शुद्धबोधाभिधोऽसौ
भाष्याचार्यान्निजगुरुवरात् लब्धबोधो वभासे ॥२४॥
रामानन्दा बुधवरनुता शब्दशास्त्र — प्रवीणा
शेखावाट्यां प्रति — जनमता धर्मतत्त्व — प्रकाशा ।
प्रज्ञादीप्तै स्वगतनयनै - प्रेक्षका विश्वभासाम्
विज्ञा शिष्या विमलचरिता स्तेनिरे तस्य कीर्तिम् ॥२५॥
वाग्मी नेता प्रथितविभवो रामदुर्गाधिवासी
वर्धाक्षेत्रे कलितसुयशा ज्ञान — विज्ञानभासा ।
वेदाचार्योऽधिगत — सुरभि — पत्रसम्पादकत्वे
आसीन्मान्य प्रकृतिसुभगो बालचन्द्र प्रसिद्ध ॥२६॥
शास्त्र सुदुर्बोधमभूत् सुबोध स्वतो यदग्रे सुसमीक्षित सत्
श्रीदत्त शास्त्री महनीयमूर्ति गुरुर्गुरूणा स सुगेयकीर्ति ॥२७॥
विपक्षपक्षविच्छेत्ता प्रतिवादिभयकर
शिवनारायण श्रीमान् नानाशास्त्र — विचक्षण ॥२८॥
प्राप्तास्तनू धर्मइवापरोक्षा विराजमाना द्विजगौरवेण
महाप्रभावा गुरुभक्तिभावा महर्षिकल्पा जयदेवमिश्रा ॥२९॥
जामदग्न्यस्य सद्भक्ता नित्य तद्रूपधारिण
ररक्षु द्विज सम्मान शान्त्या शक्त्या च सन्ततम् ॥३०॥
विद्यालयानाञ्च महासभाना सस्थापका व्यासवरा वरेण्या
गीर्वाणवाणी हृदयैकनाथ गणेशदत्ता कवयो विशाला ॥३१॥
सदार्य — सस्कार-कृतप्रसारा वेदान्तनिष्ठा सततम् प्रसन्ना.
प्राचीनभावा अपि नव्य भावा· भव्या कन्हैयान्वित लालवर्या ॥३२॥
शब्दात्मनिष्ठो बहुभिर्वदान्यै र्मान्यैर्बुधै सम्विहितप्रतिष्ठ
नित्य समालोचनदत्तचित्त श्री रामचन्द्रोऽलवरप्रकाशी ॥३३॥

छात्रावासो — निजगुरुयशः सस्मृतौ येन भव्यः
विद्यार्थिभ्यो निरतिसदन स्थापितो भक्तिभाजा ।
शिक्षादीक्षा प्रवणसुमतिः सोऽग्निहोत्री प्रसिद्ध
नित्य नाना हवननिरत पूर्णमल्लो वरिष्ठः ॥३४॥
सौम्यो वदान्यो मधुरात्ममूर्तिर्विपक्षपक्षस्य जवेन भेत्ता
श्री वेगराजो यतिमन्दिरस्थ साहित्यससारविहारशील ॥३५॥
कालेऽस्मिन् विकृते कृतेऽपि कलिना ह्यार्षस्थिते स्थापक
श्रीमानार्यमुनि र्बभूव मतिमान् शास्त्रार्थशूरो महान् ।
विद्वद्भक्तिरतो विशालहृदयः सत्यार्चने सरत
आसीद् विप्रवरः सदा स्थिरमतिः श्रीजीवराजस्तथा ॥३६॥
राजारामो गुणगणनिधि रामनीतिप्रकाशी
दुर्गाभक्त स्तवननिरतो नाटकाना प्रयोक्ता ।
मान्यो धीमान् गुरुजन — शुभाकाङ्क्षिणामग्रगण्य
योगाभ्यासी जलधरगति र्ज्ञानयुक्तो विवेकी ॥३७॥
अपूर्वसिद्धान्तगवेषणार्थी निरन्तर वेदविमर्श — मग्नः
ज्योतिर्विदा मान्यवरो मनीषी श्रीमल्लिनाथोऽयमहानुभाव ॥३८॥
दैवविद् यमुनादत्तो मान्यो देवबने महान्
लब्धनाना महीपालाभ्यर्चन शास्त्रदर्शन ॥३९॥
श्रीमान् धीमान् मधुरवचनै सान्त्वयन् सर्वलोकान्
नित्य दुर्गास्तवननिरतो धर्मशास्त्र प्रवीण ।
वक्ता बीकानगर—जनता—सत्कृतः सौम्यमूर्ति
विज्ञैर्वेद्यै विनततनयै राद्दतो वासुदेव ॥४०॥
विद्वद्भक्त सहजमरसो दत्तुराम कवीन्द्र
पन्नालाल प्रतिपलरतो ग्रन्थसन्दोह — पाने ।
प्रह्लादोऽन्य पठनरसिको ह्लादितात्मा महात्मा
कुम्भारामो गुरुपदरतो नैष्ठिको ब्रह्मचारी ॥४१॥
उद्दण्डाना दलननिपुणो रामदत्तो ह्यखाङ्ग
जीवानन्द शिवजप — परो यज्ञहोमादिसक्तः ।
राधाकृष्ण सरसरचना सर्वसेवानुरागी
शादीरामोऽतिथि परिवृतः सन् हृषीकेशमान्य ॥४२॥

माधुर्यमूर्ति सतत सुधीर: वक्ता वरीयान् गुरुसेवश्च
साहित्यससारबिहारशील स्मिताभिभाषी बलदेव—शास्त्री ॥४३॥

दशाश्वमेधे निवसन् प्रसन्नोमुनिस्वरूपो जयरामदास
प्रीतो गुरूणा गुणवर्णनेन प्रतिक्षण शास्त्र—रसाभितृप्त ॥४४॥

स्वविश्वासस्य रक्षायै हुत येनाखिल स्वकम्
सोऽयं विश्वम्भरोनाथः कुविलावो द्विजाग्रणि. ॥४५॥

विज्ञानशक्तिश्च शरीरशक्तिर्यस्मिन् लभेते परिपूर्णशक्तिम्
स बस्तिरामाद्दतपाठशाला–प्राध्यापक शक्तिधर प्रसिद्धः ॥४६॥

प्रपीय यस्मादमृतं सुबोधम् सचन्द्रभानु भुवि राजमान
सहैव सम्वर्षति सुप्रसन्न सदा सुधे द्वे सुखबोधशीले ॥४७॥

भूतार्थदृष्टा भगवानदास स्वधर्मनिष्ठ सहलाग्रगण्य
बभूव मान्यो नगरस्य विद्वान् पुरन्दरस्यापि तथैव सद्य ॥४८॥

सत्काव्यमाधुर्यरसानुसेवी सगीतभृङ्गो गुरु—कीर्तिगायी
स्वदेशवस्त्रावृतदिव्यमूर्ति मान्यो जनानामनवद्यचर्य ॥४९॥

कन्हैयालालदाधीच शब्दशास्त्र — विचक्षण
नित्य पीत्वापि योऽतृप्त सुधा भागवती पपौ ॥५०॥

वैद्य परशुरामश्च सर्वव्याधि — विनाशकृत्
द्रष्टा परमतत्त्वाना साकृतौच निराकृतौ ॥५१॥

कर्मप्रयोक्ता चतुर सभासु सद्धर्मगोप्ता मधुराभिभाषी
व्यासाग्रणीश्चूरुपुराधिवासी सुधीरधीर शिवदत्तवर्य ॥५२॥

प्रसन्न परमगभीर सत्यवाक् स्थिरमानस
सन्मान्यो ब्रजलालोऽसौ प्राज्ञो गोस्वामिनावर ॥५३॥

हृयवा — राज्यपतिर्विज्ञो विख्यातो बुधपूजक
नानाग्रथप्रकाशीच काश्या सर्वै प्रशसित ॥५४॥

नित्य दीनार्तिविध्वसी नित्यसस्कृति — रक्षक
श्री गौरीशकरो वैद्य खुर्जामण्डल मण्डन ॥५५॥

वार्ता सदा यस्य रहस्यपूर्णा हास्यावतार सुहृदा समाजे
श्री बैजनाथोऽयच गोगराज सुधी सदा धर्मविचारशील ॥५६॥

सम्बन्धिवर्या अपि तस्य सर्वे स्वस्वप्रदेश-प्रतिभूप्रतिष्ठा-
सदा सदाचारपरा वरिष्ठा बोधेन मानेन च ये गरिष्ठा ॥५७॥

युक्तप्रान्ते विदितविभव सर्वशास्त्राब्धिपोत-
राज्ञा नेता प्रवचनपटु श्रीगणेशस्य लाल ।
बारूलाल प्रथितमहिमा शिष्यसर्वैविशालै
पुत्रै पौत्रैरधिगतगुणै ख्यातकीर्ति सुवैद्य ॥५८॥

वल्लीराम प्रतिजनहिते नित्यमासक्तचेता
गागेये य प्रथितसुमतिर्यामुने चापि कूले ।
व्याख्यादक्षः परमरसिको रामलीला – विलासी
मान्यो नेता द्विजजन – सभाशासको विज्ञवर्य ॥५९॥

एते नथाऽन्ये शतश प्रसिद्धा सहस्रशश्चात्मगृहेऽपि सिद्धा
गुरुप्रतिष्ठा परिपोषयन्त परम्परा तस्य विवर्धयन्ति ॥६०॥

ख्यातिर्न वा ख्यातिरिहास्तु काचित् लक्ष्य हि तेषा निजधर्मरक्षा
प्रजुष्यते सस्कृत पण्डितै स्तत् स्वसस्कृति नित्यमतीत्य हेतुम् ॥६१॥

सा सस्कृति किन्तु भुवो भजन्ती संक्ष्यते सम्प्रति भारतीया
प्रत्यर्थिनी कापि नवीन धारा समुच्छ्वलन्तीव विलोक्यते च ॥६२॥

सात्विक जीवन लुप्त लुप्ता धर्मस्य सा गति
कृत्रिमेऽस्मिन् युगे कृत्स्ना प्रकृति कृत्रिमायते ॥६३॥

क्षणिक ज्ञानविज्ञान क्षणिक स्नेहदर्शनम्
सर्वेषु क्षणिक सर्व शाश्वत क्षणिकायते ॥६४॥

नव्य किमेतत् किमुयच्च जीर्णम् किम्वा नव यत्तु पुनर्विशीर्णम्
गति विचित्रा जगतो गतीनाम् ज्ञेया न केनापि जनेन जीर्णा ॥६५॥

स्नेह न गेह नहि वापि मोहम् कस्यापि सरक्षति लोकवृत्ति
सदैव सा याति निगूढतत्त्वा निगूढतरवैव विकासमेति ॥६६॥

गतागतैस्तै समयप्रवाहै क्षम्यन्ति नै ते सुधियस्तु सुधियस्तु किन्तु
लक्ष्य ध्रुव स्वं नियतात्मवृत्त्या समेत्य पारञ्च पर प्रयान्ति ॥६७॥

तेषा हि सृष्टिरिह सानुपमैव सृष्टि
काचित् परैव रजसोऽथ च सस्कृति सा

नित्य स्थिता अपि भवे न भवे स्थितास्ते
रुन्धन्ति यान्न विषया क्वचिदेकदेशे ॥६८॥
य कोऽपि तत् हृदयहारि सरो रिरंसुः
आयातु सोऽत्र सुरवागभिरामतीरम् ।
सिञ्चन्ति यत्र मुनय करुणाकणै. स्वै
स्नेह – द्रवार्द्रसलिलै र्जगती समस्ताम् ॥६९॥
लोके सदा भवतु सस्कृत जीवनं न
श्रद्धामयं श्रुतिपरञ्च तपोऽभिपूतम् ।
निष्कामकर्मरतिभि. सकलार्थसिद्धि
विश्वात्मतुष्टिरथ यत्र पदे पदे स्यात् ॥७०॥
तादृक् क्षणोऽथ नहि यातु वृथात्र कश्चित्
प्रेमप्रवाह-भरितात् हृदयात्तु यस्मिन्
न प्रोच्छ्वलन्तु सततं करुणैकसारा:
विश्वात्मभाव — परिकीर्ण — परोपकारा. ॥७१॥
दिव्येयं संस्कृतावाणी दिव्य सस्कार सस्कृता
साक्षात् सारस्वती शक्ति· रक्षेत् सर्वान् सुसंस्कृतान् ॥७२॥
श्रीकालिदासभवभूति — रसाभिषिक्ता
सम्पोषिता कविवरै र्भवमगलाय ।
श्री मालवीयतिलकादि — महानुभावै
ससेविता नवयुगे च नवोदयाय ॥७३॥
भागीरथी –· कनखले रमणीय — तीरे
सजातया प्रकटितो द्रुपदस्य पुत्र्या ।
देवीप्रसादतनयो विदुषाम् पदाब्जे
विद्याधरोऽर्पयति काव्यकृति किलैनाम् ॥७४॥

इति विद्यावाचस्पति श्रीदेवीप्रसाद शास्त्रितनय विद्याधर शास्त्रि-विरचिते संस्कृत जीवने हरनामामृते सस्कृत संस्कृति-क्षेत्रमुद्भासयतां विद्वद्वरेण्यानां सत्स्मृति-समलंकृतः परिसमाप्तोऽयं षोडशः सर्ग.

ॐ शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्य. ॐ



॥ श्री ॥

नवसर्गात्मकम्

अथ विश्वमानवीयं काव्यम्

विस्मृत्य विश्वगतमात्म—विभुस्वरूपम्
लोके क्वचिन्मनुसुतो न भवेत् लघीयान्
इत्येव किंचिदिह यद् विनिवेदितं तत्
मान्यै बुंधै. शुभदृशा सुसमीक्षणीयम् ।

॥ श्रीः ॥

अथ विश्वमानवीये काव्ये प्रथमः सर्गः

(विश्वव्यापिनी दृष्टिः, नवीनं यत् पुराणं तत् पुराणं च पुनर्नवम्, सर्वेऽन्योऽन्यं समाश्रिताः, नवीनं जीवनं नित्यम्, प्रसुप्ता साम्प्रत मतिः)

यस्यलीलायितं सर्वं सर्वं यस्मिश्च भासते
विशुद्ध ज्ञानमेकं तद् विज्ञानं सत्तनोतु मे ॥१॥
व्यापकं तन्महो दिव्य सच्चिदानन्द सुन्दरम्
अज्ञान – तमसाच्छन्न जायता नो नहि क्वचित् ॥२॥
व्यापिनी च शुभा दृष्टि र्वर्तता नो निरन्तरम्
प्रेक्ष्यता न यया कश्चिद् भेदोऽभेदे वृथा क्वचित् ॥३॥
नच भेदो यथा मिथ्या विधीयेत क्षणे क्षणे
काले नित्य – प्रवाहेऽस्मिन् नूतनेऽथ पुरातने ॥४॥
क्षण· कोऽसौ नवः कश्चित् पुराणो यो न जायते
पुराणो वा क्षण· कोऽसौ नवो यो न पुन र्भवेत् ॥५॥
नवीनं यत् पुराण तत् पुराणं च पुन र्नवम्
शाश्वती ससृतावेषा प्रक्रिया प्रकृते प्रिया ॥६॥
निरुक्तस्य निरुक्त्याऽयम् पुराणोऽभूत् पुरा नव
नवो भाविनि कालेऽपि ध्रुवमेष पुन र्भवेत् ॥७॥
विलीनं चेह्नि रात्री रात्रिश्चाप्यन्हि लीयताम्
फले बीजं समुद्भूतम् बीजेभ्यश्च फलम्पुन ॥८॥
विश्वरूपे हि लोकेतद् विश्वबुद्धि हितावहा
विधेया खण्डिता नेय स्वार्थदृष्ट्या हि कर्हिचित् ॥९॥
परार्थे निहित स्वार्थं प्रेक्ष्यता सूक्ष्मया दृशा
परेषा साधिते साध्ये स्वसाध्यं साध्यते स्वत ॥१०॥
मानवाना समाजेऽस्मिन् कृतघ्ना नैव मानवा·
साध्यते कर्म येषा तै स्तेषा तत् तै· प्रसाध्यते ॥११॥
स्वसाध्यस्यैव - सिद्धचर्थ दुरीप्सा यत्र चैधते
अन्योऽन्यापकृतिर्नू न सद्यस्तत्र प्रवर्तते ॥१२॥

परेषां कार्यं – संसिद्धौ सौख्यं यच्चानुभूयते
नह्यस्याशोऽपि संवेद्य' केवलं स्वार्थसाधकैः ॥१३॥
स्वसाध्यानां हि सत्सिद्ध्यै सर्वेऽन्योऽन्यं समाश्रिता
ऋते पंचीकृत तत्त्वम् सर्वेभूता निरर्थकाः ॥१४॥
क्व वा कश्चित् कणो लोके क्षणो वा भुवनेऽखिले
स्वतन्त्रा ह्यैव काचित् स्यात् गतिर्यस्या सनातनी ॥१५॥
स्थिता यावद् गुणा भिन्ना सर्गेऽस्मिन् त्रिगुणात्मनि
प्रसुप्ता प्रकृतिस्तावत् हन्त वन्ध्यैव तिष्ठति ॥१६॥
मानवीया हि संघर्षा निखिला' स्वार्थमूलका'
शोधिता स्वार्थलिप्सा चेत् स्वय शान्ता भवन्ति ते ॥१७॥
अहिंसा सत्यमस्तेय त्यागदानादयस्तथा
सर्वेऽप्येते हि धर्माङ्गा सर्वेषा हित – साधकाः ॥१८॥
व्यापके स्नेह – ससारे सर्वेषा हित – चिन्तके
विश्व – मैत्री हि सर्वेभ्यो वर्धते स्वयमात्मनि ॥१९॥
स्वार्थसिद्धौ रत नित्यम् परार्थस्य च घातकम्
कलिप्रवर्तक भावम् प्रवदन्ति विपश्चितः ॥२०॥
यस्मिन् भावे च सौहार्द सर्वेस्य. परिपुष्यते
सद्भिस्तस्यैव सद्वृद्ध्यै लोके नित्यम्प्रयत्यते ॥२१॥
भावै संकुचितै ग्रंस्ते भौतिकेऽस्मिन् युगे . बुधै
व्यापकायात्मबोधाय प्रयत्यं तत्समाहितै' ॥२२॥
कलौ काले न शक्योऽयं नैव विज्ञैर्विचिन्त्यते
युगाना जनका यत्ते न च नित्यो युगक्रम ॥२३॥
युगाना वर्तमानोऽय क्रमो नित्योऽय न क्रम
कर्मणां बाधको नाय वस्तुत' क्वापि वर्तते ॥२४॥
एकस्मिन्नेव कालांशे क्वचित् सत्य क्वचित् कलिः
दृश्यते वर्तमानो यद् राजा कालस्य कारणम् ॥२५॥
नित्ये काल प्रवाहेऽस्मिन् भेद कश्चिन्न संभव.
कलौ सत्य कलि. सत्ये जनैरानीयते स्वयम् ॥२६॥

नैराश्येन दुराक्रान्ते नोत्साहः संस्फुरेत् क्वचित्
नैराश्यं कर्मणा शत्रु तदेव प्राक् निरस्यताम् ।।२७।।

नरो नारायण. साक्षात् सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्
जयो विजयश्चास्य प्रसिद्धौ पार्षदौ मतौ ।।२८।।

नित्यो दशरथश्चाय जन्मसिद्धः स्वभावत.
गति र्लोकेऽस्य कस्मिंश्चित् नास्ते प्रतिहता क्वचित् ।।२९।।

नैषा गति र्मनुष्याणा यत्ते सन्तु पराजिताः
विजयोऽभिनवः कश्चित् सन्ततं तै र्विधीयताम् ।।३०।।

इच्छा बलवती शक्ति र्विधेया सा न निर्बला
चिकीर्षा जीविता येषा सशक्ता एव ते सदा ।।३१।।

उपादान स्वतः सर्वं निमित्त चाखिल स्वत.
स्वशक्त्या रहितैस्तस्मात् कथं भाव्यं मृषा जनै. ।।३२।।

मानवानामयं धर्म प्रकृत्यैव सनातन
नवाशाथ नवो यत्नो नवा बुद्धि र्नवो जय. ।।३३।।

नवोत्साहो नवोमार्गो नवा दृष्टि र्नवा कृति.
नवीन जीवनं नित्यं जना नित्यं नवा नवा ।।३४।।

रुद्ध यत्तदनारोध्यम् अप्राप्यस्प्राप्यतां तथा
सन्तत ज्ञेयमज्ञेयं नेह किञ्चिदसम्भवम् ।।३५।।

स्वयम्भू र्विदधे नित्यं भवे सर्वं स्वयम्भुवम्
मूलमस्याह "भेतत् स्याम् तस्मात् स्याम्" इति भावये ।।३६।।

चैतन्यस्य महान् पुञ्जो मानवः "स्याम्" विधायकः
तस्यैषणा न तत् काचित् निष्फला स्यात् क्षणम् क्वचित् ।।३७।।

नचेहाचेतनं किञ्चित् न बुद्धिश्चेदचेतना
सरक्ष्या चेतना तस्मात् बुद्धिरेवाखिलै. पुरा ।।३८।।

चैतन्य शुद्धमस्याश्चेत् रक्ष्यते नित्यमाहितै.
त्रैलोक्ये नास्ति तत् किंचित् तथा यन्न प्रकाश्यताम् ।।३९।।

निःसत्वा सा न कार्या तत् तामसीभिः प्रवृत्तिभि.
दिने विद्योतमान यत् तच्चाप्यस्यै विघूमिलम् ।।४०।।

युगस्यास्य मनुष्याणां विकृतैवास्ति यन्मतिः
दृश्यते हन्त वैकल्यं जीवनेऽस्य पदे पदे ॥४१॥
मूर्छितेयं मतिर्दीना न वेत्तुं चाद्य मक्षमा
वर्तमानात् परा काचिद् भूतां वा भाविनी स्थितिम् ॥४२॥
प्रबुद्धाऽस्य प्रसन्ना या स्वस्था नित्य सुनिर्मला
आत्मनः प्रतिबिम्बोऽस्यां दर्शयेन्निखिल - स्वत. ॥४३॥
विद्वेषानल—दुर्दग्धा संकीर्णा संशयान्विता
अस्थिरा चास्थिरै र्भावै र्भीना काल्पनिकै र्भयै ॥४४॥
चिन्ताभि सन्तत ग्रस्ता क्षीणा भोगैश्च भौतिकै.
निद्रया तन्द्रयाक्रान्ता प्रसुप्ता साम्प्रत मति. ॥४५॥
स्वशक्ति किन्तु वेत्तीयं सर्वोत्कृष्टां भवेऽखिले
किञ्चित् सत्यमसत्यं वा निर्वाय नानया परम् ॥४६॥
समाक्रान्तोऽनया मत्या तामस्या क्षुद्रया जन.
क्षुद्रो जन्तु रहो जातो युगाधीनस्तथा वृथा ॥४७॥
वस्तुतोऽयं युगस्वामी दासश्चैषां न कर्हिचित्
विमुरेष महान् कश्चिद् विधाता देशकालयोः ॥४८॥
स्वशक्ति विस्मृताऽनेन व्यापिनी किन्तु साम्प्रतम्
काव्येऽस्मिन् तां समुद्धर्तुं यत्न. कश्चिन्मया कृत. ॥४९॥
कथा नेयं नवा काव्यं ममेय काऽपि दुष्करी
अनुगृह्णन्त्विमां विज्ञा विद्याधर कृतां कृतिम् ॥५०॥
विधैषाऽभिनवा काचित् साहित्ये चास्तु नूतने
पूर्यतां चेत्सदुद्देश्यं दोषो नान्विष्यते बुधै ॥५१॥
अस्मान्मानवदर्शनाद् बुधवरा लोकत्रये व्यापकम्
रूपं पार्थिवमानवस्य निखिलम् पश्यन्तु विश्वात्मकम्
लोके किञ्चन तन्न यन्मनुसुतै साध्यं नयत्नै र्भवेन
क्षुद्रैः स्वार्थरजः कणैः कलुषिता तेषां न चेत् स्यान्मति ॥५२॥

इति श्री विद्यावाचस्पति श्री देवी प्रसाद शास्त्रि–तनय विद्याधर शास्त्रि
रचिते विश्वमानवीये विश्वबुद्धि विभासक परिसमाप्तः प्रथम सर्गः

विश्वमानवीये द्वितीयः सर्गः

(ब्रह्मर्षिदेश , देवीप्रकाशः, ऐश्वरं दर्शनम् लक्ष्यहीनाः शिक्षालयाः)

वन्द्यो न केषां क्षितिजन्मभाजा ब्रह्मर्षिदेशो जगती प्रसिद्ध
कश्चिन्नवो भूतलमध्यवर्ती यो ब्रह्मलोक – प्रतिमूर्तिरास्ते ॥१॥
प्रवर्तको धार्मिक – पद्धतीना विश्वस्य केन्द्रोऽथ सुसंस्कृतीनाम्
श्रुतिस्मृतीना कुलजन्मभूमि दुर्गश्च धर्मस्य महानजय्य. ॥२॥
यस्मिश्च दिव्या सरित पवित्रा तीर्थान्यसख्यानि पदे पदे च
तपोवनस्था मुनयश्च यस्मिन् प्राचीचरन् शाश्वतविश्वधर्मम् ॥३॥
विचारमग्नेव शनै सरन्ती व्यक्ता क्वचिद् गुप्ततमा कचिच्च
[illegible]स्वती खेलति यत्र खेला काचिन्नवा नित्यमहोऽद्वितीयाम् ॥४॥
स्वच्छप्रवाहा समद नदन्ती दृषद्वती त सरस विधत्ते
सगम्य या सूर्यसुता – तरगै प्रयागराजे मिलति द्युनद्या ॥५॥
अद्यापि यस्मिश्च सरोवराणा तीरे स्थितो नव्यविचारमग्न.
व्यासाश्रमे व्यासमुनिर्विशालो नव हि किञ्चित् रचयन्निवास्ते ॥६॥
तत्रोद्भवाना द्विजपुङ्गवाना यज्ञाहुति – प्रीत – समस्तदेवे
गेहे स्वभावात् सुधियो विशाला प्रादुर्बभूवु र्भवमुक्तिशीला ॥७॥
तेष्वेव मान्यो महनीयमूर्ति सदार्षभा – भासित – भव्यभाव.
उवास विज्ञो विमलात्मकीर्ति र्देवीप्रकाश श्रुतिभि समृद्ध ॥८॥
तद्दर्शनार्थ शतशो विनम्रा नराश्च नार्य समुपागतास्तम्
विज्ञाय जिज्ञासितमात्मतुष्टा स्तत्कीर्ति—गीतानि भृश जगुश्च ॥९॥
एवं सुख यापयता स्वकाल तस्मिन् स्थले पुण्यफले प्रशान्ते
सहस्रशस्तेन कृता कृतार्था पौरास्तथा जानपदा स्वभक्ता ॥१०॥
अथैकदोच्चै मिथ आलपन्त केचिद्युवान. स्वविवादमग्ना
उपेत्य तम्प्रश्नगतैर्विचित्रै आस्कन्द्य सोत्प्रासमिद त्वपृच्छन् ॥११॥
क ईश्वर कुत्र च तस्य वास. फल च धर्मस्य किमत्र लभ्यम् ?
ययो प्रचारेण भवान् विमूढान् विधाय लोकान् लुठने प्रवृत्त ॥१२॥

प्रश्नप्रणाल्या नवया क्षणाय स्थित्वा स तूष्णीं निजगाद धीमान्
जिज्ञासितं सम्यगहो भवद्भि र्नातः परं ज्ञेयमिहास्ति किञ्चित् ॥१३॥
भिन्नो भवद्भ्यो नहि दूरवर्ती कश्चिज्जगत्यामयमीश्वरो न·
शान्त्या विशुद्धेन हृदावलोक्यः स चिन्मयोऽन्तर्भवता निगूढ· ॥१४॥
युष्मासु यत् किंचन वर्तमानं हिते परेषां सततम्प्रवृत्तम्
कारुण्यपूर्णम्प्रकृति—प्रसन्नं तस्यैव तद्रूपमिदं भवत्सु ॥१५॥
ज्ञानात्मको भात्यथ यः प्रकाश· सर्वत्र सर्वेषु विभुस्वभाव
उपासनीय· स न कैरुपास्यः ऋते हि तं यत् तम एव सर्वम् ॥१६॥
उपास्यते यै र्न च कापि शक्ति· स्वखण्डिताहंकृति-भावभिन्ना
कूपस्थभेकै र्लघुबुद्धिभिस्तै र्भाव्यं कदाचिन्न विभुप्रकाशैः ॥१७॥
तर्केण वेत्तु गहन रहस्यं न चेष्टनीय च निजात्मगर्वात्
बुद्धिर्न शुद्धा भवतीह काचित् क्षणे क्षणे या परिवर्तमाना ॥१८॥
निशम्य विद्वद्वचन ससार क्षण विचार्यापि निरुत्तरैस्तै·
तिरोदधाने हंसितेन मौर्ख्यं विद्वद्वरेण्य पुनरेवमुक्त ॥१९॥
एवम्विधै कैश्चन तर्कजालै प्रतारणीया न मति र्जनानाम्
अन्यच्च यत्तत्परिजल्प्य धृष्टा धूर्तास्ततस्ते सहसाऽपगच्छत् ॥२०॥
तेषामिमामार्यजन—प्रवृत्तो र्वृत्ति विरुद्धामवलोक्य यूनाम्
उद्विग्नचेता अपिबोद्धुमैच्छत् विकारहेतो प्रथम निदानम् ॥२१॥
अशिक्षिता· सन्ति न केचिदेते विद्यालयान्नापि बहिष्कृताश्च
असौ तथाप्येषु मतिभ्रमश्चेद् गुप्त क्वचित् कश्चन हेतुरन्यः ॥२२॥
शिक्षालयाश्चेत्सुतरा स्वलक्ष्य सर्वात्मना पूर्णमहोऽकरिष्यन्
अधीतिनामाचरणे विकार· कदापि नाय स्वपद न्यधास्यत् ॥२३॥
दोषस्यमूल निहित क्वचिद् वा शिक्षाविधेरद्यतने हि लक्ष्ये
स एव सर्वप्रथमं गवेष्य· लक्ष्य सदोष हि रुणद्धि सिद्धिम् ॥२४॥
लक्ष्यस्थितिश्चेत् कुटिला सदोषा साऽनेकश स्यात् प्रतिघातकर्त्री
वेधस्तथा वेधकमेव हन्यात् आवर्तमान· प्रतिकूलदेशम् ॥२५॥
ऊहापरेऽस्मिन्ननया हि रीत्या गणेशदत्तः सुधिया वरिष्ठ·
सुहृद्वरस्तस्य कुतोऽप्यकस्मात् तत्रागतो हृष्टमिमम्प्रकुर्वन् ॥२६॥

शिक्षाविमर्शे प्रथितात्मकीर्ति विद्वद्वरः शान्तमतिः स आसीत्
परस्परालाप – कथा – प्रसगे यूनाम्प्रसङ्गोऽप्युदियाय मध्ये ॥२७॥

श्रुत्वा समस्यां स्वसखस्य चैनाम् प्रसन्नचित्तः प्रहसन् बभाषे
नवं विचित्रं वत भाति यत्ते पश्याम्यहं ताण्डवितं सदैतद् ॥२८॥

न साम्प्रतं किन्तु विचिन्त्यमेतद् विद्यार्थिनां चेह न कोऽपि दोष.
शिक्षालयानाम्प्रगतेः प्रकारः क्षणे क्षणे चेत्परिवर्तमानः ॥२९॥

नवे युगे भौतिकलक्ष्यमुख्ये नाध्यात्मिकी छात्रगतिः परीक्ष्या
न मानवे मानवता च मृग्या यन्त्रीकृता यस्य गति. समस्ता ॥३०॥
नित्यं नवाविष्करणप्रसक्तै नं प्राक्तन किचन रक्ष्यमेभिः
शिक्षापि सैवाद्रियतेऽद्य तस्मात् यया भवेद्यान्त्रिकशक्ति–वृद्धिः ॥३१॥
अर्थाश्रिता- किन्तु यथा जनानां गति' समस्तापि वताद्य जाता
अर्थावरोधे सति खण्डिताशा अतृप्तकामा' कुपिता युवानः ॥३२॥
अथाद्य भावाश्च यतो जनानां सत्वेन शून्यास्तमसाभिभूताः
विलोक्यते तै जंगती समस्ता दु.खेन पूर्णाथ विकासशून्या ॥३३॥
पश्यामि नाटयं सततं वतैषा विद्यालये नित्यमहं नवीने
स्वप्नं पुराणश्च भवान् वनस्थो नाद्यापि तं विस्मरतीति चित्रम् ॥३४॥
अधीतिनामद्यतनीम् प्रवृत्तिम् तास्तान् गुरूणां च मनोऽभिवेशान्
निशम्य धीरोऽपि स खिन्नचेताः स्वमित्रवर्य पुनराह सौम्यः ॥३५॥
अस्मात् निकृष्टो वत चिन्तनीयः को नाम लक्ष्यस्य परोऽस्तु दोषः
आग्रह्य सर्वार्थविभासकोऽसौ करणायते येन जनोऽद्य दीन' ॥३६॥
तरादविधेयस्य विशिष्टसिद्ध्यै पूर्त्यै च तत्तत्–स्थितिसाधनानाम्
यन्त्रस्य कीलेन समो हि कश्चित् तस्योपयोगः क्रियतेऽद्य लोके ॥३७॥
अचेतनश्चाप्यथ यन्त्रकीलो जनात् वतास्मात् शतशो वरिष्ठ
क्षुधा पिशाची नहि यस्य काचित् प्रतिक्षण हन्त विवर्धमाना ॥३८॥
सर्वान् प्रदेशानधिकृत्य तेभ्यो जीवान् समस्तानितरान् स्वभिन्नान्
समूलमुन्मूल्य गतो न तृप्ति–भुवो विनाशेऽद्य जनः प्रवृत्त. ॥३९॥
वृक्षेषु नास्तेऽद्य वियच्चराणा क्षेत्रेषु केषाचन वा पशूनाम्
नाब्धौ क्वचिज्जलजीविना वा धातुश्च कश्चिद् भुवि वाधिकारः ॥४०॥

गर्ह्या प्रवृत्तिर्यदि मानवानाम् नैषा निरस्ता क्रियता हि सद्य:
नित्ये स्वभावे सुदृढा भवन्ती नेयम्पुनः स्यात् सुकरापनेतुम् ॥४१॥
न गृह्यते यावदनादिसिद्धो महर्षिभिर्दर्शित एव पन्था:
तावन्न शिक्षालय – लक्ष्यसिद्धिर्भवेत् कदाचित् सुलभा स्वराष्ट्रे ॥४२॥
मिथो हि कल्याणरता: समस्ता यथापि बुद्धया निखिला भवेयु.
यथा च सर्वे सुखिनो जगत्या तथैव विज्ञैरधुना प्रयत्यम् ॥४३॥
न मानवो भूतलमात्रवर्ती न वान्यजीवप्रकृति. स हिंस्र:
नरो हि नारायण एव साक्षात् विश्वस्य वैश्वानर एष भर्ता ॥४४॥
नारायणे व्यापकता स्वसिद्धा समा च सर्वेषु निजात्म – वृत्ति:
सर्वेषु लोकेषु गति. स्वतन्त्रा मर्यादिता चात्मगति: समस्ता ॥४५॥
मनोऽनुकूल सृजत: स्वसर्ग न तस्य लोके क्वचनैत्यभाव.
मतिश्च काचिन्नहि सशयाना स शक्तिकेन्द्रो भवति स्वभावात् ॥४६॥
एभि समस्तै स्वगुणैरुपेत सृष्टो विधात्रा मनुज. स्वयम्भू:
न भिन्नमार्गे नयनीय एष धर्मो विरोधी न हिताय कश्चित् ॥४७॥
न खण्डनीयोऽस्य विभुत्वभावो लघुत्वबुद्धया लघुभिश्च लक्ष्यै.
देशोऽस्य लोके नहि कश्चिदेक क्षेत्रं नवैक निजकर्मसिद्धे: ॥४८॥
येन प्रकारेण यया च वृत्या निराक्रियेतास्य विकारमूलम्
तदेव पूर्व सुविमर्शनीय विधेयमन्यच्च पुनर्विधेयम् ॥४९॥
त्रयो हि सर्वत्र मता. प्रधाना समाज–सचालन–सूत्रधारा.
गुरु र्नृपो वा जनकश्च मुख्यो धुरं समाजस्य वहन्ति नित्यम् ॥५०॥
तत्रापि मुख्यो गुरुरेव पूर्वं यत समाजस्य स एव नेता
न त विना कोऽपि नृप पिता वा भवेत् कदाचित् निजकर्म योग्य. ॥५१॥
विहाय मोहं नगरस्थितेस्तत् निर्धार्य कर्तव्यपथ च सम्यक्
व्यासाश्रमोऽय भवतापि सेव्यो राष्ट्रस्य धर्मश्च सुरक्षणीय. ॥५२॥
निमील्य नेत्रे निजधर्मनाशात् समाजनाशो विदुषा न सह्य
समीक्ष्य निर्धारितमात्म–साध्य तत् साधनीय दृढनिश्चयेन ॥५३॥
वृत्तै मन क्षोभ करै रसारै र्दंश्यैश्च पूर्णे नगरोपदेशे
साध्या न शिक्षालय–लक्ष्यसिद्धि शान्त तदर्थं स्थलमीक्षणीयम् ॥५४॥

व्यासाश्रमे तत्सुविविक्तदेशे शान्तेन वातावरणेन युक्ते
शिक्षालयोऽयं निजलक्ष्यपूर्त्यै संस्थापनामर्हति शुद्धबोध ।।५५।।
यत् सात्विक शांतिमय स्वभावात् चेत समुल्लासकरं च शुद्धम्
भूलोकसारं किमपीह तत्त्व तदेव तस्मिश्च भवेत् प्रकाश्यम् ।।५६।।
सुशिक्षकास्ते च भवन्तु तस्मिन् शिक्षैव येषा सहज स्वधर्मः
स्वाध्यायमग्ना निजचिन्तनाद्ये स्तन्वन्तु नव्यं च मति–प्रकाशम् ।।५७।।
शिक्षार्थिनश्चात्र विनीतभावा· जिज्ञासवः सद्गुरुभक्तिभाजः
येषा विशुद्धाचरणै. प्रसन्ना स्वयं स्वहार्दं गुरवो दिशन्तु ।।५८।।
ब्राह्मे मुहूर्ते सततम्प्रबुद्धं धीरे समीरे परिवाति शान्ते ,
स्फूर्ति नवीनाऽभिनवानुभूतिर्लभ्या सदा तैः प्रकृति – प्रदत्ता ।।५९।।
ज्ञेयस्य लोके नहि कापि सीमा सर्वैश्च सर्वे विषया न वेद्या.
तथापि भाव्यं मनुजैः समस्तैः साहित्यविज्ञान–नयप्रवीणै. ।।६०।।
साहित्यवित् वेत्ति मनोगता न· गति विशुद्धा विकृता च सर्वाम्
वैज्ञानिको भौतिकशक्तिसिद्ध· सृष्टि च नव्या सृजति स्वकीयाम् ।।६१।।
विज्ञाय तत्तत् निखिल हि वेद्य जनो जगत्यां व्यवहार–शून्यः
न जीवने स्यात् सफल कदाचित् नयस्य मार्गो न समाश्रितश्चेत् ।।६२।।
कालानुसारं ह्यथ सर्वमन्यत् प्रशिक्ष्यमेवेह बुधैः प्रवीणै·
भवान्प्रसिद्धोऽनुभवी मतो न. तस्मात्‌ भवानेव कृपालुरास्ताम् ।।६३।।
लब्ध्वा गणेशानुमतिं स्वसाध्ये सतुष्टचित्तो निजलक्ष्यसिद्ध्यै
अपेक्षित भूवलय धन च स्वभक्तवर्गादचिरादवाप ।।६४।।
प्रधानलक्ष्याधिगमः कृतश्चेद् गौणं हि साध्य स्वयमेव सिध्येत्
पुष्पोदयार्थं विफल प्रयासो द्रुमेषु जातेषु फलान्वितेषु ।।६५।।
शिक्षोद्देश्ये स्वकीये गतवति सजुषा योगतः सिद्धिमेवम्
शिष्यैः कर्तव्य–बुद्धया विकसिति–जनकें स्वीकृते सर्वभारे ।
सम्यक् शिक्षा प्रसारे प्रकटित–विभव स्थापयित्वा गणेशम्
शिक्षा केन्द्रान् प्रसिद्धान् भरतभुविपरान् द्रष्टुमेप प्रतस्थे ।।६६।।

इति विश्वमानवीये काव्ये आदर्श शिक्षालयस्थिति-स्थापकः परिपूर्णोऽयं द्वितीयः सर्गः

अथ विश्व मानवीये तृतीयः सर्गः

(उज्जयिनीपुरी, इष्टदेव-स्मरण सामर्थ्यम्, अज्ञेयाकालगति· त्वमेव माता च पिता त्वमेव, क्षणे क्षणे हन्त कृतोऽयमन्यः)

ततः स सर्वप्रथमं विशाला विद्याप्रकाशेन विभासमानाम्
ययौ पुरीमुज्जयिनीम्पुराणी शिप्रावृता विक्रम–राजधानीम् ।।१।।
पुण्येन शिप्रासलिलेन सर्वं पूतं चिकीर्षन् स्वगतं समस्तम्
संविश्य तस्याः पुलिने विशाले संध्याविधौ ध्यानरतो बभूव ।।२।।
ततः सुराणा शुभदर्शनेन स्वान्त प्रकाशं विशद च कर्तुम्
सिद्धि–प्रदाया हरसिद्धिगौर्याः पुरा ययौ मन्दिरमेष विज्ञ ।।३।।
देवान् नमस्कृत्य जन. स्वभावात् निजात्मशक्ति परिवर्धमान·
प्राप्नोति मुख्य बलमिष्टलभ्य नान्येन केनाप्यवहेल्यता यत् ।।४।।
भावाच्च भक्ते मधुरो हि लोके, भाव परो रम्यतरो न कश्चित्
साधीयसी येन समाधि–सिद्धि. स्वेष्ट–प्रसादश्च सुखेन लभ्य. ।।५।।
शक्तिः स्वकीया यदि विद्यमाना देवा न ता कस्यचिदाहरन्ति
कुप्यन्ति तेभ्योऽपि न ते कदाचिद् भक्त्या न ये तान् कुहचित् स्मरन्ति ।।६।।
लाभश्च तेषामिह नित्य–सिद्धो देवान् हृदा ये सततं स्मरन्ति
यथाविधान् देवगणान् स्मरामस्तथाविधा एव वयं भवाम ।।७।।
सरस्वती चेत् समुपास्यमाना सारस्वतास्तेऽपि भवन्ति भूय·
शिवं स्मरन्तश्च शिव–स्वभावा ये भैरव भैरववृत्तयस्ते ।।८।।
ये नास्तिकास्तेऽपि फलान्विताश्चेत् ये चास्तिकास्ते यदि निष्फला स्युः
तत्रास्ति हेतु· पृथगेव कश्चित् विश्वासरूपा हि सुरा· समस्ता ।।९।।
यो नास्तिक. सन्नपि रक्षताच्चेत् कचित् स्व–विश्वासमभीष्टपूर्त्यै
ततोऽपि सिद्धि लभते स नून न विस्मरेत् तद् यदि सशयात्मा ।।१०।।
विश्वासशक्ते रथ सत्यशक्ते र्बलीयसी कापि परा न शक्ति
सत्यं हि सत्य न भवेदसत्यं सीमा च काचिन्नहि तस्य शक्ते ।।११।।
ये श्रद्धधाना अथ देवमूर्तौ हार्द तदग्रेऽपि निवेदयन्ति
प्रत्यक्ष–सिद्धा वरदा भवन्ती सा तान् विधत्ते परिपूर्ण–कामान् ।।१२।।

गौर्या जनन्याश्च कृपा प्रसादो लभ्यो न सद्यो भुवि कैर्नु भक्तैः
हार्दम् पयः पाययति स्वतो यत् माता स्वभावात् स्वसुतानजस्रम् ॥१३॥
लब्ध्वा प्रसादं मुदितात्मनासौ तुष्टाव गौरी निखिलार्थदात्रीम्
प्रसीद मातर्जगदादिशक्ते ? रक्ष सदाऽस्मान् शुभकर्म लीनान् ॥१४॥
रक्षेस्तथा नित्यमिमाम्प्रदीप्ता यशस्विनी भारतमातृ–शक्तिम्
खलो न कश्चिन्निज–दृष्टिदोषात् क्वचिद् विधत्तां कलुषां वर्तनाम् ॥१५॥
अस्या सुता सन्तु शरीर–शक्त्या तथात्मशक्याऽनुपमाश्च लोके
अत्नः प्रतापोऽथ विभातु भूयो यतो विनश्येदखिलं हि दैन्यम् ॥१६॥
आर्ष – प्रकाशेन विभासितेन स्मृति पुन र्नश्च भवेत् प्रदीप्ता
यया प्रणश्येदधुनातनं नो ध्वान्तं वतान्तः प्रसृतं समस्तम् ॥१७॥
स्तुत्यानया स्तोत्र पदै स्तथान्यै. स्तुत्वाथ भूत्वा नवशक्तिशाली
अग्रेसरन् विघ्नहर गणेशं बुद्धेर्निधानं विनतो ननाम ॥१८॥
प्रणम्य सम्प्रार्थितवाश्च तस्मात् जगद् हितार्थं स सता हि साध्ये
निर्विघ्नसिद्धि त्वरयोपलब्धा सिद्धौ हि येषां निखिलार्थ सिद्धि. ॥१९॥
विघ्नोऽनिवार्यो यदि कश्चिदास्तां कार्य स कार्येषु सदा खलानाम्
विघ्नोऽपि विघ्नो नहि वस्तुतोऽसौ साध्यम्परेषा हि सुसाधयेद्य ॥२०॥
सिद्धिर्गणेशस्य कृपावशाच्च स्वय जगत्यां सुलभा न कै स्यात्
नायाति विघ्नो हि कदापि कश्चित् मति विशुद्धा पथदर्शिका चेत् ॥२१॥
तत स यावद् गणनाथ–धाम्नः प्रसन्नचित्तो बहिराजगाम्
सूर्येण नारायण–संयुतेन व्यासेन तावद् विदुषा स दृष्ट. ॥२२॥
तत् क्षेत्रवृत्त च निशम्य तस्मात् पुण्यां महाकालकथां च तां ताम्
तेनैव सार्धं हरदर्शनार्थी विवेश भव्ये हर–मन्दिरेऽसौ ॥२३॥
आचम्य पूत शिवकुण्डनीरं शृण्वन् श्रुतीना मधुरं च घोषम्
प्रभावितोऽन्त सरसै स्वरैस्तै र्मेने कृतार्थ दिवस शुभं तत् ॥२४॥
अभ्यर्च्यमानं सतत विधिज्ञै र्विभासितं त भसितै र्विशुभ्रैः
पूजोपचारै. परिपूज्य शम्भुम् स्तोतु महाकालमसौ प्रवृत्तः ॥२५॥
उवाच हे शकर ! रुद्रमूर्ते ! हे हे महाकाल ! विशालशूलिन् !
ईडे कथं त्वामहमल्पबुद्धि र्वेद्यै हि रूपै रहितं समस्तै. ॥२६॥

अनादिकालाद् बुधवर्य-धुर्यै स्तुतोऽपि तत्तत् स्तुतिभिः सदैव
नाद्यापि कैश्चिद् विवृतं रहस्य रहस्यमेतच्च रहस्यमास्ताम् ॥२७॥
विभुर्भवानल्पमति-प्रकाशै-र्मन्दै हि कैश्चित् कथमस्तु वेद्य.
विभु हि विद्यात् विभुरेव कश्चित् वय च शून्येन समास्तवाग्रे ॥२८॥
रूपं तथैक यदि तेऽस्तु किंचित् तदापि तत् स्यात् किमपीह वेद्यम्
क्षरणे क्षणे यत् परिवर्तमान ज्ञात स्थिरत्वेन कथ तदास्ताम् ॥२९॥
न वा स्वतंत्रोऽसि विभो ! स्वभाने रूपाणि ते सन्ति पराश्रितानि
क्वचित् क्रियाभिः परिवर्तसे त्व क्वचिच्च खेटैः क्रियसेऽभिभूतः ॥३०॥
क्रिया-प्रधानं परिवर्तन चेत् कर्ता स्वतन्त्रो नर एव लोके
तस्माच्च लोकेऽस्ति स एव मुख्य. कालस्य कर्ताथ युगस्य भर्ता ॥३१॥
सम्प्रेरितो वा भवतैव मर्त्यः करोति तत्तद् विवशं स्वकर्म
प्रवृत्तिमूल यदि नस्त्वमित्थ त्वमेव किं तस्य फल न भुंक्षे ? ॥३२॥
अतोऽपि लोकव्यवहार - वृत्ते विभासि मूलं नियत त्वमेव
कृतेऽपि यत्ने बहुधा न सिद्धिस्त्वमेव दातासि फलस्य तस्य ॥३३॥
ग्रह प्रभावोऽस्त्यथवाऽत्र मुख्य. सुखस्य दु खस्य च मूलचक्रे
काल-स्थितिश्चेयमहो बलेन प्रतिक्षणं येन भवेद् विभिन्ना ॥३४॥
दशा ग्रहाणामपि वाऽत्र काचित् कर्माश्रितैवास्ति सदा जनानाम्
ग्रहाः स्वतन्त्राः फलदा न तस्मात् वय स्वय तद् गति-कारका स्म ॥३५॥
तवैव माया ह्यथवाऽत्र मुख्या ग्रहेषु चास्मासु विलक्षणेयम्
रक्षे सदैना कृपयैकरूपा वृत्ति तया नोऽत्र सदा पवित्राम् ॥३६॥
नियंत्रिता वा जगती व्यवस्था भवेत् सदैषा भिदयैव साध्या
विना विभिन्नान् विकृते विकारान् विकासमेति प्रकृति न सुप्ता ॥३७॥
उद्भेदन चेत् क्रमिक न भूयात् बोधस्त्वदीयोऽपि भवेन्न कश्चित्
ज्येष्ठे कनिष्ठे च परत्व-बुद्धि सत्ता त्वदीया विशदीकरोति ॥३८॥
क्षणात्मकस्त्व यदि तर्क-सिद्ध. क्षणा अनेके सततं स्वभावात्
क्षणे क्षणे तत्त्वयि भिन्न बोधे रूपाण्यनन्तान्यपि किं न भान्तु ? ॥३९॥
यद् दृश्यते चेह विवर्तमानं नवो नव. स प्रकृते विकास
एकात्मके शून्यमये न किञ्चित् ज्ञान, न शक्ति विविधा. क्रिया वा ॥४०॥

वेद्यश्च वेत्तृत्त्वमिदं समस्तं ह्रासो विकासोऽथ लयोद्भवौ वा
भेदा अभेदाश्च तत समस्ता अद्वैतभावे त्वयि विद्यमानाः ॥४१॥
हरो भवान् वा प्रथमं हरि र्वा सहैव वासौ युवयो विकासः
नाद्यापि कैश्चिद् विदितं बुधैस्तत् तत्त्वात्मना तन्न च वेत्स्यते वा ॥४२॥
स्त्री वा पुमान् वाथ भवानुभौ वा कालश्च काली च समानशीलौ
त्वमेव माता च पिता त्वमेव धाता त्वमेवासि च तस्य योनि. ॥४३॥
वीजेऽथ वृक्षे, तमसि प्रकाशे, पुंसि स्त्रिया वा प्रथमानुवृत्ति.
केनाऽपि नाद्यावधि निश्चयेन प्रमाणिता नापि पुनः प्रमाण्या ॥४४॥
अनादिकालादनिरुद्ध – वेग' त्वमस्यनन्तो भगवानखण्ड.
अनन्तरूपो मनसाप्यगम्यो विभुः प्रभुः सर्वविधान–दक्ष ॥४५॥
सर्वात्मक. सर्वगतोऽथ नित्यो क्षणेष्वनित्येषु मृषा विभक्तः
क्षुद्रो जनै र्हन्त कृतोऽद्य मूढं क्षणे क्षणेऽन्यो भगवन्नकाल ? ॥४६॥
तत् क्षम्यतामेष हि नोऽपराध. कृपार्द्रं दृष्टिं च सदैव रक्षेः
काले विरुद्धेऽप्यथ दृश्यमाने कृपा त्वदीयास्तु सदाऽनुकूला ॥४७॥
स्तुत्यानया त्वात्मगतं हि किंचित् निवेद्य तैस्तै र्विविधै. स्तवैस्तत्
स्मरन् महाकालगतिं ह्यगम्यां मौन ततोऽसौ स्वजपे निमग्न ॥४८॥
क्षणे क्षणेऽज्ञेय – गतिर्विचित्र कालश्च मध्याह्नमुखो वभूव
देवार्चका मन्दिर दर्शकाश्च प्रारेभिरे तत्समयां सपर्याम् ॥४९॥

प्राप्तेऽथ दर्शन–फलेऽभिनवे हि बोधे
नत्वा पुन र्बुधवरो भगवन्तमीशम् ।
व्यासस्य मान्य विदुषोऽतिथि–सत्–क्रियायै
तद् – भारती – भवनमेष विवेश हृष्ट. ॥५०॥

इति श्री विद्याधर शास्त्रि-विरचिते विश्वमानवीये
सूक्ष्मकालगति-विवेचकः परिसमाप्तस्तृतीयः सर्गः



अथ विश्वमानवीये चतुर्थः सर्गः

(वीर प्रशस्तिः, शक्तिप्रबोधनम्, वैयक्तिकी सामाजिकी च मानवीया महाशक्तिः, यो ददाति यो भुंक्ते तत्र लक्ष्मीः प्रसीदति)

भारत्या भवने भव्ये वाणी – वीणा – निनादते
तत्तच्चर्चान्वितं चारु स्वागतम्प्राप्य हर्षित. ॥१॥

दुर्गादास महावाहो. आर्यवीर – शिरोमणे.
सत्कीर्ति – मन्दिरं द्रष्टुं ययौ व्यासान्वितस्तत. ॥२॥

संस्मरत् पूर्वमैतिह्यं तच्चरित्र – प्रभावित .
उज्जगार गिरं ह्येनां यत्रायं वुधमण्डन. ॥३॥

अहो धन्यास्य वीरस्य स्मृति. सा पावनी यत.
नवरंगोऽपि दुर्दान्तः सद्य प्राप्नोदरगताम् ॥४॥

राष्ट्रभक्तो महान् वीरः पूज्यः कै नैंषभूतले
रक्षिता मारवी भूमि येंन धर्म्या विधर्मिभिः ॥५॥

आदर्शो वीरवर्याणां राष्ट्रोद्धना महामति.
रक्षकः क्षात्रधर्मस्य प्रतिष्ठातायं – सस्कृते. ॥६॥

सद्वीराणाम्प्रसंगेऽस्मिन् व्यासवर्यो महामति.
खिन्नः पप्रच्छ विद्वासम् निर्बला अद्य किं वयम् ॥७॥

पाश्चात्याना हि राष्ट्राणा सम्मुखे का स्थिति हिं न.
वर्तामहे पराधीना वर्षैरद्य परः – शतै ॥८॥

नि.शक्तो हि जन. कैश्चित् क्वचिन्नाद्रियते परम्
परायत्तस्य राष्ट्रस्य प्रतिष्ठाऽस्तैव चाखिला ॥९॥

अशक्तै हि करणैः कैश्चित् लोके किंचिन्न सृज्यते
कर्तृत्वं शक्तिसापेक्ष तत्तामद्य प्रवोधये. ॥१०॥

अस्माभि विस्मृत शक्ते. स्वरूपं तात्त्विकं हि यत्
क्वचिदर्थे क्वचिद् राज्ञां नीतौ तन्मृगयामहे ॥११॥

विदुषोक्तं वयं शाक्ता भारतीया. स्वभावत.
नित्याऽस्माकं महाशक्ति व्यापिनी. या जगत्त्रये ॥१२॥

एकयापि तया शक्त्यानन्तानन्तं – विभाव्यते
भ्रान्ते चानिश्चिते लक्ष्ये नचैवेषा विखण्डयते ।।१३।।
स्वधर्मे वर्धते शक्तिः क्षीणा साथ विधर्मिणि
स्वधर्मस्तत्सदा रक्ष्य: परधर्मो भयावह: ।।१४।।
शक्ति र्या भौतिके वर्गे भ्राजते च पृथक् पृथक्
स्वगुणैस्ते विहीनाश्चेत् न सा तेषु प्रकाशते ।।१५।।
विगुणानां गुणैस्तस्मात् रक्ष्यैषा सन्ततं बुधै:
गुणाना सति साकर्ये गुणो नैकोऽपि भासते ।।१६।।
यत्रैते च विशुद्धा स्यु: स्वस्वशक्ति–समन्विता:
तत्रैषा हि तया शक्त्या लोके किं किं न सृज्यते ।।१७।।
तेषामेव च योगेन सृष्टेयं महती मही
यस्यां सर्वे रसास्तेषां मधुरूपेण संस्थिता: ।।१८।।
पाता येषां मनुष्योऽयं मधुप: कोऽप्यलौकिक:
अन्तर्हिता रसास्तेऽस्मिन् विभाव्यन्ते तपस्विभि: ।।१९।।
त्यक्त्वा तत् सर्वशक्तीनां वर्णनं हि पृथक् पृथक्
मानवस्यैव शक्तेस्तत् कश्चिदंश: समीक्ष्यते ।।२०।।
द्विविधा ∙ ∙मानुषी शक्ति – द्विविधे तस्य जीवने
शारीरे भौतिके बाह्ये दिव्ये चान्तरिके तथा ।।२१।।
शरीर तत्र सम्पोष्यं पूर्वं सर्वे: स्वशक्तये
नह्यात्मा निर्बलै र्लभ्यो नापि भोगश्च रोगिभि: ।।२२।।
शारीराच्चात्मिकादन्यत् रूपं ∙ ह्यप्यस्य दृश्यते
दिव्यं वैयक्तिक रूपं भव्यं सामाजिकं तथा ।।२३।।
व्यक्तिशक्ति: पुरोपास्या व्यक्तिमाश्रित्य यद्भवे
स्वस्वकर्मानुगं सर्व फलं सर्वैरवाप्यते ।।२४।।
सर्वे: सर्वविधै र्यत्नै पुरा तद्व्यज्यतामत:
व्यक्तित्वे समभिव्यक्ते भासतेऽन्यत् स्वयम्पुन: ।।२५।।
ज्ञाते गुणे समुन्नीते दोषे चाथ निराकृते
मानवाना हि सर्वेषा व्यक्तित्वं सुप्रकाश्यते ।।२६।।

भारतेऽद्य परं काचित् महतीयं विडम्बना
असमीक्ष्य निजान् दोषान् परेषामीक्षका वयम् ॥२७॥

न यावद् विकृतिः स्वीया जनैः कैश्चिदपास्यते
न तावत्तो समाजस्य क्षेमं किंचिद् विधास्यते ॥२८॥

निःसारात् कारणात् किंचित् सत्कृत्यं नैव जायते
कारणस्य परिष्कारः तस्मात् पूर्वमपेक्ष्यते ॥२९॥

पुरा व्यक्ते भवेद् दीक्षा समाजस्य ततः परम्
एष क्रमः सदा रक्ष्यः सर्वेषां हित–सिद्धये ॥३०॥

वैयक्तिक्यै समुन्नत्यै भाव्यं सर्वैः विवेकिभिः
सामर्थ्यैरखिलै युंक्ता स्वयं सिद्धा विवेकिनः ॥३१॥

शक्तिरेषा विवेकस्य क्षीणा किन्त्वद्य भारते
नेतृत्वं तस्करैः धूर्तैः सम्प्राप्तुं च प्रयत्यते ॥३२॥

मत–संख्याश्रित सर्वं शासने जनतान्त्रिके
विज्ञानां तद् भवेद् मूल्यं दूषितं च खलैः कृतम् ॥३३॥

कलौ संगठने शक्तिः सिद्धान्तोऽयम् सनातनः
दुर्जनै स्तद् सतां स्थाने क्रियते किन्तु साम्प्रतम् ॥३४॥

दुर्धियां घटनं ह्येतत् प्रोत्साह्यं नैव कर्हिचित्
भवेत्तद् राष्ट्रसम्पत्ते लुंण्ठनायैव केवलम् ॥३५॥

शासनापेक्षया मुख्यं लक्ष्यं चैषाम्प्रतिक्षणम्
असत्यस्य प्रसारेण प्राकृतानाम्प्रतारणम् ॥३६॥

गुणा राज्ञां मनुप्रोक्ताः सर्वेऽप्यद्य दिवंगताः
जनतन्त्रे समुद्धार्या पुनस्तेऽद्य हितैषिभिः ॥३७॥

जनतंत्रस्य शोच्येयं वर्तमाना परिस्थितिः
राष्ट्रसच्छक्ति – रक्षायै सद्यः शोध्या बुधै र्जनैः ॥३८॥

राष्ट्रशक्तिः सदा रक्ष्या प्राणैरपि धनैरपि
क्षीणेयं यत्र यत्र स्यात् सर्वं तत्र विशीर्यते ॥३९॥

दिव्या शक्ति र्महालक्ष्म्या आर्थिकी च नयाश्रिता
नैषा दूष्या जनैर्धूर्तै विधिज्ञैः साभिनन्द्यताम् ॥४०॥

नयज्ञैः सन्ततं स्थेयं देशकाल-परीक्षकैः
शत्रूणां हनने सिद्धै वीरवर्यैं मं कातरै ॥४१॥
आर्थिक्यै च समुन्नत्यै दुर्गोक्ता नीतिरुत्तमा
यो ददाति च यो भुंक्ते तत्र लक्ष्मीः प्रसीदति ॥४२॥
साम्प्रतं हन्त संजाता धनिकाश्चाधिकारिणः
प्रसादार्थं महालक्ष्म्या भुंक्ते-मात्र-परायणा ॥४३॥
गतिर्नेयं शुभोदर्का निद्येऽर्थ-संग्रहे रता
स्वार्थं सिद्धयै परार्थानां निर्दयं च विघातिका ॥४४॥
सुखिनस्ते सदा लोके नाधिक यैरपेक्ष्यते
नच यै वित्तमन्येषा कदाचिद् गृध्यते मुधा ॥४५॥
व्यर्था-भोगैषणा-वृत्ति - र्यत्र यत्र समेधते
तत्र तत्रार्थ - शक्तीनां भवेत् नूनमपव्यय ॥४६॥
राज्येनापि व्ययो व्यर्थो नैव कार्यः कदाचन
कृते यस्य करै ग्रस्ता विधीयन्ते मुहुर्जनाः ॥४७॥
मधुपस्य न शक्तीनां विधेयो दुर्व्ययः क्वचित्
निःशक्तै मधुपैः कश्चित् रसः पातुं न शक्यते ॥४८॥
प्राप्ते वैयक्तिके तोषे तोष्यः सामाजिकोऽप्ययम्
एषान्योऽन्याश्रिता पुष्टि - र्नैकं कश्चित् समाश्रिता ॥४९॥
व्यर्थमद्य विवादै नं — तत्तद्वादगतैरियम्
मानवीया महाशक्ति — र्मानवैरेवमन्यते ॥५०॥
नहि पारोऽस्य शक्तीनां नरो नारायणः स्वयम्
तथैवायं सदा शिक्ष्यो मानवो विश्वमानवः ॥५१॥
शक्तीनां मनुजस्य कापि गणना कैश्चिन्न कर्तुं क्षमा
यद्यत्तेन विचार्यते भवति तत् साकार - मत्र क्षणे ।
विज्ञानेऽद्य च सेयमस्य महती कां कां दिशं गाहताम्
नेदं किंचन निश्चितं तदधुना स्थेयं सतर्कै सदा ॥५२॥

इति विद्याधर शास्त्रि रचिते विश्वमानवीये मानवशक्ति-
प्रबोधकः परिसमाप्तश्चतुर्थः सर्गः

अथ विश्वमानवीये-पञ्चमः सर्गः

(अन्तर्दृष्टि-विकला अहम्भावग्रस्ता आधुनिका वैज्ञानिकाः, साधुवादैः सत्करणीयाश्च, न हिताय शाश्वतं धावनम्, क्षणं विरम्य चिन्त्यताम्

अथाद्य वैज्ञानिकशक्ति भृज्जनो नव स्वसर्ग रचयन् निरन्तरम्
विधि समुल्लङ्घयितु समुत्सुकस्तमात्मभिन्न मनुते न साम्प्रतम् ॥१॥
अचेतन सर्वगत विलोकयन् तदेव मूल जगता च घोषयन्
अचेतनाच्चेतनमुद्गत वदन् नहीश्वरं स क्वचिदद्य पश्यति ॥२॥
विचारसिन्धूर्मिशतैस्तरंगित सुखेन दु खेन सदा समन्वितम्
मतेऽस्य नित्य स्फुरतीह चेतन स्फुटं प्रकृत्या सहित गुणैस्त्रिभि ॥३॥
विवर्तवादिष्वपि नात्मन. पृथक् विराजते तत्त्वमिहाऽपरं क्वचिद्
तथापि भेदोऽत्र महान् दृशोर्द्वयो विभाति लोकव्यवहार दर्शने ॥४॥
एका हि यन् पश्यति केवलं जड स्फुरत् प्रकृत्या परिणामि सन्ततम्
परत्र सर्व भवतीह चिन्मय सदा शिव सुन्दरमत्र निष्क्रियम् ॥५॥
अहम्मति भौतिकवादिसंगिनी विकासिनी व्यष्टिदृशोऽल्पभाविनी
परत्र चास्तिक्यमतिर्द्दृढस्थिति कणे कणे चेह समष्टिसाधिनी ॥६॥
प्रतिक्षणं सर्वमिदं बहि स्थित निरीक्ष्य विज्ञानदृशाद्य मानव.
न लेशतोऽप्यान्तरिक समीक्षते क्षण तदर्थ यतते क्वचिद् वा ॥७॥
अनन्तपारस्य विलक्षणस्थिते स्थितिर्हि कान्तरिकस्य सम्मुखे
कणायितस्याखिलबाह्यवर्तिन — तथापि तन्मोहयतीह मानवम् ॥८॥
तदेव नानाविध वस्तुसग्रहैर्नवैस्तथाविष्करणैश्च पोषयन्
नवा स्वशक्ति नवनिर्मितिस्थले प्रदर्शयत्यद्य च न का नवो बुध ॥९॥
स्वबुद्धिशक्त्या प्रकृते कणे कणे नवं समुद्दीप्य बल विलक्षणम्
गुणान् विचित्रानथ तत्र भावयन् किमद्य नोद्भावयतीह मानव ॥१०॥
क्षणेन विज्ञानबलेन सर्वतो नभस्तलं सर्वमिद विगाहिभि
इदं हि विश्वम्परितस्तत वृहत् नवै कृत सम्प्रति नूनमल्पकम् ॥११॥
कि किं न लोकैरधिगम्यतेऽधुना सुख हि सर्वै स्वशरीर सौख्यदम्
यशस्विनेऽस्मै सुखशान्तिदायिने समर्प्यते साधुवचो हि यत्कृते ॥१२॥

यदा तदाऽकिञ्चन – साधनैरपि प्रचण्डतापाकुल – देहमानसै
हिमाद्रिशीतं यदि पीयते जलं निषेव्यते वा प्रियशीतलोऽमिलः ॥१३॥

चिकित्सकै श्चेदथ जीवन – प्रदा ह्यभूतपूर्वा प्रगति. प्रदर्शिता
श्रमापनोद श्रमिकस्य साधनै प्रतिस्थलं वा क्रियते स्वचालितैः ॥१४॥

निरीक्ष्यते वा शशिमण्डल–स्थिति मुं विस्थितैरेव जनै· खवर्तिनी
इय कृपा भौतिक तत्त्व वेदिना कथ कृतज्ञै रखिलै नं भूयताम् ॥१५॥

न्हणां गतिर्नूनमियं जयप्रदा किमद्य दूरे किमुवेह दुर्लभम्
यत् साम्प्रतं स्वप्नसम मनोगत करस्थितं तद् भवति क्षणेऽपरे ॥१६॥

तथापि हेया न निजायतिर्जनै नचापि भाव्य नितरा मदान्वितै
महद्धि लक्ष्य जनजीवनाश्रितं नवैर्न तद् विस्मरणीयमादिमम् ॥१७॥

न चापि तैरेव समस्तससृति नवै पदार्थै परिपूर्यतामियम्
पुरातनैश्चापि भृतेयमादितो न तत्समस्त ह्यवमूल्यता गतम् ॥१८॥

पुरातनी कामपि पद्धति हृदा क्वचिन्नवीनो यदि नानुमोदते
बिभाति यत्सम्प्रति रोचकं नवं परक्षणे तन्न तथैव रोचते ॥१९॥

नवेऽथ कश्चिद्यदि नूतनो रसः पुरातने चापि पुरातनो रस.
नव न सर्वं हितकारि सर्वथा न चाप्यसारं सकलम्पुरातनम् ॥२०॥

स्वभावत· शान्तिमय हि सात्विक सदा हृदुल्लासि सचेतसां सताम्
अतो हित सात्विकशक्तिवर्धक न तामस नव्यमपीह सुन्दरम् ॥२१॥

नव च नित्यं किमहो सुरच्यतां पुरातनं किंच सदैव नाश्यताम्
उभे समेत्यैव रते सुसर्जने न कार्यमुद्गच्छति कारणाद्दते ॥२२॥

नवाभिलाषा नवमेव साधन नवाभिपूर्तिर्न नवा पर धृति
नव नव किंचन सृज्यता नव नवेयमुन्मादगतिर्युगे नवे ॥२३॥

समीक्ष्य तच्चेत् स्वगति विधीयते जगद् विहार क्रियतां यथामति
नगृह्यता भ्रान्तगति· पर मुधा शुभाय सर्वा गतयो न संसृते. ॥२४॥

चलश्चलन्नेव निरन्तर चलन् गभीरगर्ते यदि कोऽपि निष्पतेत्
न लक्ष्यते सप्रति रक्षक क्वचित् जनोऽद्य यस्मात् नहि निश्चल क्वचित् ॥२५॥

जनैरिय नास्तिकबुद्धिभिर्वृथा समाश्रिता शान्ति विरोधिनी गति.
क्रिया हि काचिद् विरसा वलाद् वृता मन समुल्लासिगुणै र्वियोजिता ॥२६॥

सदैकमार्गेण पुरातनैरथै निरन्तर याति नभस्तले रविः
किमत्र तद्यन्त्रगत हि दुर्गंत किमत्र वा तेन भुवो विदूषितम् ॥२७॥
पुरातनं भारतवर्ति तच्छिव हविः स्वरूप यजनक्रियात्मकम्
सदैव लोकत्रयपुष्टिकारक किमद्य नोज्जीव्यत आदि साधनम् ॥२८॥
विहाय तं सर्वहितावह क्रतु सदा स्वसम्पोषणमात्र सरतै.
विधीयते कि किमहो न साम्प्रतं जनैरमीभि र्वत सर्वनाशकम् ॥२६॥
न पञ्चभूतानि जनाय केवल विकासितानीह भवे विरञ्चिना
न तद्विना यत् पशवस्तथा खगा वसन्ति लोके सुखिन क्षण क्वचित् ॥३०॥
कथम्विधा हन्त विडम्बनामयी नवाऽथ विज्ञानदिशेयमद्य न
समर्पित सर्वमिदं ययाधुना मनो सुतायैव यथेच्छमर्कितुम् ॥३१॥
स्वयोनिभिन्नानखिलान् वियच्चरान् समुद्रमग्नानखिलाश्च जीविन
निहत्य नित्य नहि चिन्त्यते नवै पिता स तेषामपि य' पिता हि न. ॥३२॥
इमाः प्रवृद्धा हतिवृत्तयो नृणा समस्तभूलोकविनाश-तत्परा
विधेर्विधानादपि साम्प्रतम्पुरा समुद्यता किम्प्रलयाय सन्ति न ॥३३॥
स्वयं स्वनाशाय सदाग्रगामिभि र्जनैः नवीनै परिणामनिस्पृहै.
नभ. समस्तं सरित समस्ता. कृपिश्च सर्वाद्य कृता विषान्विता ॥३४॥
कृत च दुर्गन्धमय भुवस्तल परत्र गत्वा क्रियता च तत्तथा
विचार्य तन्मे हृदयम्प्रकम्पते भवेत् क रुद्धा कुगतिर्नृणामियम् ॥३५॥
निशा हि या श्रान्तिनिरासिनी शुभा व्यधायि शान्ता विधिना स्वभावतः
न साधुना शान्तरवा क्वचिद् भुवि प्रतिक्षण यन्त्रशतैर्विराविता ॥३६॥
प्रतिक्षण धुक्षितवह्नितापिता विपाक्तधूमोष्मविगालिता तथा
कृताद्य मूर्खे प्रलयोन्मुखी स्वय ध्रुवस्थिता, हन्त हिमावृतिर्घना ॥३७॥
अथापरा दोषपरम्पराऽवरा समस्तसाराहरणे रताऽनिशम्
यया रसान्तः – खनितस्तलावधि प्रत्यर्प्यते नागुलिमात्रमेव च ॥३८॥
स्वय सदा ससरतीह ससृति प्रसार्य तामद्य चतुर्गुणा नवा.
नवै. स्वपाशै सतत स्वजीवन दृढ हि बध्नन्ति विशेषतोऽधुना ॥३९॥
अहर्निश विश्वगताम्परिस्थिति निशम्य तच्चिन्तनमग्नमानसैः
क्षण न कैश्चित् स्वगत विचार्यते विलोक्यते किचन वाग्रत. स्थितम् ॥४०॥

स्वयं न सर्वत्र विधेर्विधौ हठात् मुधैव धात्रा मनुजेन भूयताम्
स्वधर्मकर्मानुगतं च यद् भवेत् तदेव पूर्वं सुविचिन्त्य पूर्यताम् ।।४१।।
निसर्गतो यत् समये समुद्भवेत् सदैव तत् सोमरसान्वित भवेत्
तस्याहुति र्यज्ञफलाय सद्य नूनं भवेच्चेह सदा स्वभावात् ।।४२।।
अपेक्षित यन्न – कदापि – पूर्वजै स्तदेव सम्प्रत्यनिवार्यमाधृतम्
कृतं हि नव्यैर्जटिलं स्वजीवनं तृणाब्जजापूर्णं वनावलीसमम् ।।४३।।
क्षणं विरम्याद्य सखे निशम्यता न धाव्यतामेवमहो प्रतिक्षणम्
उपास्यता चेत् स्थिरचेतसा क्षणं त्वयापि तद्दिव्यमवाप्यता मह: ।।४४।।
एकान्त देशे सरिता तटे क्वचित् स्थेयं ह्यतो ध्यानरतै प्रशान्तै.
शान्तो विधि. सर्गविधौ विधातु सर्वै: स्वसत्कर्मसु चानुसार्यं ।।४५।।
नरोऽपि नारायणशक्तिमाश्रित स्तया स्वयोगो नहि तेन हीयताम्
मनोऽनुकूल सृजतापि सन्तत जगत्पते नं क्रियतां तिरस्क्रिया ।।४६।।
अहो स शान्तो रचनाविधिर्विधे नं यत्र कश्चित् श्रुतिदूषको रव.
नवास्ति धूम्यै· पटलैर्वृता क्षिति नं वा सदा सा क्रियते परिक्षता ।।४७।।
क्रिया हि सा शान्तिमयी विलक्षणा विकासिनी स्वात्मभवा कणे कणे
निरुध्य निम्नस्थितिदा तमोगति समुन्नयेद्या पथि सात्विके जनान् ।।४८।।
सुखं क्षणस्थ बहुमन्यतेऽद्य तै· सुखं न नित्यं किमपीह काम्यते
स्वय सदा ते क्षणमात्रवर्तिनो न तेषु मृत्युञ्जयभावना क्वचित् ।।४९।।
अय क्रम क्रान्तिकृते न शकर समूल माद्याश–विशेष–नाश कृत्
यदुत्तम तत् परिरक्ष्यता सदा पुरातनं स्यादथवास्तु नूतनम् ।।५०।।
हिताय नस्यादसमीक्ष्यकारिणा कृत हि किञ्चिच्चिरमत्र ससृतौ
विचार्य नित्य निखिल विधीयते बुधै हि तस्मात्सुखमीप्सुभि स्थिरम् ।।५१।।

विज्ञान – शक्ति – मदमीलितबुद्धिनेत्रै
वैज्ञानिकै नंवतमै क्रियतेऽद्य यद्यत् ।
तत्प्रेक्षणीयमखिल शशि दुर्दशायाम्
यद्यद्यथा विहितमत्र विधास्यते वा ।।५२।।

इति श्री देवी प्रसाद शास्त्रितनय–विद्याधर शास्त्रि–रचिते विश्वमानवीये काव्ये भौतिक विज्ञान दिशानिर्देशक: परिसमाप्त: पञ्चम: सर्ग·



अथ विश्वमानवीये षष्ठः सर्गः

(मादिनी चन्द्र चन्द्रिका, अभिनवो विध्वसनशीलो दशमो मनुजग्रहः
कठिनव्रती सुधाकरः, कुरुत नैव सुधां विषमिश्रिताम्)

सुसृजता विधिना सकल भवे व्यरचि किं किमहो न विलक्षणम्
विरचिते शशिनीह पुन पर नहि किमप्यपर रचित नवम् ॥१॥
युगपदेव गुणैरखिलैर्युतो भवविभूषणमेष सुधाकर·
य इह निस्पृहधूर्जटिना धृत· सपदि त व्यदधात् शशिशेखरम् ॥२॥
प्रियतमा सरसा पयसा सृतिम् प्रतिदिशं विकिरन्त्यखिले भवे
अनुपमा शशिशीतलचन्द्रिका सहृदय भुवि -क नहि मादयेत् ॥३॥
हिमगिरे· शिखरै समरूपिणी विदधती जगतीमखिला सिताम्
स्थितिमपास्य विभेदविवर्धिनी सततमेकगुणा कुरुते महीम् ॥४॥
शिशुगणैं कविभिर्मुनिभिस्तथा कृपिफलैः कृषकैश्च समीहिता
सममहो सकलैरभिनन्द्यते बुधजनैरबुधैश्च विलक्षणा ॥५॥
रजतकान्तिमती विमलद्युति गगनपारकरीयमहो तरी
परिनिमज्जयतीह कवीश्वरान् सपदि कान्नहि भावसरोवरे ॥६॥
जगति सम्प्रति किन्तु मनो सुते भवति केवलमर्थ परायणे
परवशस्य दशा शशिनोऽधुना भृशमिय दमनीयगतिं गता ॥७॥
समुदिते मनुजे दशमे ग्रहे नरदशास्य तथा विकृताऽधुना
अणुशरैर्विषमै सविषैरसौ भवति हन्त मुहुर्निहतो यथा ॥८॥
नव परीक्षणमत्र भवेदणो रहसि कश्चन यत्र विलोक्यताम्
अथ विहायसि गन्तुमित पर विधुरय स्थितयेऽस्तु नव स्थलम् ॥९॥
इतर–खेटगति सुगमा भवेत् ग्रहगतिश्च तत सुपरीक्ष्यताम्
भव विकास–रहस्य विकासिनी मतिरिय च विभासता नवा ॥१०॥
अथ निरीक्ष्य परीक्ष्य च तत्पद फलमभीप्सितमद्य हि यत्परम्
नहि सुधा नच तद् रमणीयता मनुसुतैरधुना वत काम्यते ॥११॥
ध्रुवमिय मनुजस्य समुन्नति नव पराक्रम–कीर्ति–समुज्ज्वला
भवतु किन्तु तया स गर्वितो नच जहातु शुभा सरणी निजाम् ॥१२॥

किमपि सैनिकशक्ति–विवर्धकं नव पदार्थगतं बलमीप्स्यते
सपदि येन भवन्तु विपक्षिणो विनिहता निभृत गगने चरैः ॥१३॥

किमपि नव्यतम सतत जनै विजयतामिति वीरजनोचितम्
विजयिना न जयोऽपि शुभ परम् परिणतिर्यदि नास्य शुभावहा ॥१४॥

क्षितितले बहु तेन कृत न यत् तदिह तेन पुरा परिपूर्यताम्
भवतु चेदधुना तदुपेक्षितम् नवरुचि नै गतम्पुनरीक्षताम् ॥१५॥

अवनिजीवनमद्य विषावृत विकृतमन्न विधाय पदे पदे
नहि करोतु जनो गगने चरन् तदपि सम्प्रति हन्त तदन्वितम् ॥१६॥

नहि कदापि महीतलवासिना – महितमाचरित शशिना क्वचित्
यदधुना मनुजैः कृतघातकं स्वयमपि क्रियता क्षतविक्षत ॥१७॥

भवतु खेदकर किमत: परं यदि खलै: खनितोऽद्य कलानिधि:
अपहृतो निजरत्नगणामया भवतु चन्द्रिकयापि हृतोऽधुना ॥१८॥

शतसहस्रयुग वहताऽनिशम् तपनतापगति शिरसाऽखिलाम्
शशभृता कठिनव्रतधारिणा न पवनो न च वारि निषेवितम् ॥१९॥

उडुपतौ विजितेऽपि नृवानरै र्नरमतिर्यदि दुर्मतिमाश्रयेत्
बहुमतोऽपि मतो न भवेदसौ स्वयमहो स्वविनाशरतः पुमान् ॥२०॥

हृदि भवेद् यदि कापि कृतज्ञता स्मरसि वास्य गुणान् क्षितिपोपिण
द्विजनृपस्य पदे स्वपद न्यसन् शशभृते प्रथम नतिमर्पये ॥२१॥

तदनु पञ्चभिरार्यजनामृतै सुरभिदुग्धघृतैरभिषिच्यताम्
सितसुमैर्घनसारविलेपनै सुरभितो मुदितश्च विधीयताम् ॥२२॥

शशिसमो धरणीहितकारको नृपवरो न परो द्विजसत्कृत
नहि च रम्यतरोऽपि भवेत्परो भवति येन निशापि विभावरी ॥२३॥

क्वचिदसौ सरिता सलिलेऽमले क्वचिदथ द्युतिभृद रजमां स्थले
विटपिना छटनेषु तत क्वचित् नवनवा सुषमामभिवर्षति ॥२४॥

प्रतिदिनम्पथिकैस्तमसावृते पथि पथि प्रतिपादितदर्शन
विजयते जगतीपथदीपक: स्थिरतमो रुचिर [illegible] शशी ॥२५॥

यदि विषान्वितधूमपरीक्षणं स्वयमपि क्रियता [illegible]
परिणति र्भविता बत [illegible] स्तदपीह पुन [illegible] ॥२६॥

श्रुतिषु विश्वरहस्य–विभासकै ऋषिवरैर्बहुशो विशदीकृतम्
यदिह वर्षति सोमरसामृतं शशिकरै भुवि तत्परिकीर्यते ॥२७॥

विषमयी यदि वृष्टिरिहापतेन् क्वचिदियं सरसा न भवेत् मही
नहि जले चपला शफरी स्फुरेत् ~~क्वचिदियं सरसा न भवेत् मही~~ ॥२८॥

भृशमसौ च कृत परिकम्पितो गुरुतमै जंविभिर्विशिखैरणो
नहि न कि कुरुता क्षपिणो जनान् हृदयकम्पविकारसमन्वितान् ॥२९॥

स्मृतिविलोपकमारुतपूरिता भुवि जनैर्विहिता विषकन्दराः
भ्रमवशादपि यत्र विशन् जनः क्षणमपीह नहि श्वसितुं क्षमः ॥३०॥

यदि तथैव विधोर्मभुकूपकाः अपि कृता मनुजैर्विषनिर्भरा
न विदितं भविता वत कीदृशी दिवि तथा भुवि सा विषमा स्थितिः ॥३१॥

भवतु भौतिकशक्तिगतिच्युति सपदि भीषणनाशकरी भृशम्
वियति तामसतत्त्वपरीक्षणम् कुरुत नैव निमील्य विलोचने ॥३२॥

कुरुत सात्विकमेव परीक्षण यजनकर्म–हुतं भवपोषणम्
उभयमेव सहैव फलान्वित भवति येन धरा गगन तथा ॥३३॥

शशिगुणा अमिताः श्रुतिवर्णिता अधिगता न नवै परमार्थतः
क्षितिगुणानत एव सुधाकरे नहि विलोक्य भृश चकिता इमे ॥३४॥

प्रतिकण शतशोऽभिनवा कणा प्रतिगुणं च नवा शतशो गुणाः
शशधरे स्वपृथग्–गुणशालिनि क्षितिगुणा अपि सन्तु न सन्तु वा ॥३५॥

व्यवहृतैरिह नैवः यथा भुवि व्यवहृत बहुशो विनियन्त्रितम्
न सकला जगती क्षितिधर्मिणीः न च तथाविधजीवनपोषिणी ॥३६॥

निवसितुं यदि चन्द्रतले स्पृहा प्रथमत स्वमन कुरु निर्मलम्
प्रभुमनोजनितो विमल शशी जनमनोऽपि तथैव समीहते ॥३७॥

कुमुद–बाधव–सख्यमभीप्सुभि परमुख प्रमुखं सुखमीक्ष्यताम्
भवति सोमनिधेरखिला सुधा जगति तत् परितृप्ति–रताऽनिशम् ॥३८॥

शशिवदेव जनोऽस्तु परार्थभृत् शशिवदेव तपोनिरतस्तथा
त्रिविधकष्टसहिष्णुगणाग्रणी. समुदितः सतत परमोदक. ॥३९॥

सुरगणैः पितृभिश्च सुधाकर. प्रतिदिनम्परिपीतरस क्षयी
हृतकलोऽपि पुनर्यजता वरो भवति पूर्णकल परतृप्तये ॥४०॥

शशिपदे यदि काचन सभ्यता नवतमा मनुजै रभिकाङ्क्ष्यते
क्षितिगतो बत दोषलव. कश्चित् लवमितोऽपि न तत्र निधीयताम् ॥४१॥
भवतु साऽखिल–विश्वविमोहिनी–क्षितितलाखिल–दोषनिवारिणी
वियति चान्यपदेष्वपि सानिशं किरतु सोमयी प्रिय चन्द्रिकाम् ॥४२॥
यदि तलेऽस्य महीतल–जीवनं बहुमत च सदैव विशेषतः
वियति दूरतरो विधिना कृत. कथय किं धरया–वियुतोकृत. ॥४३॥
शशिनि मानसतत्त्वविकासके बलवती क्रियता मनस. स्थिति.
नहि जनाः स्वमनोबलनिर्बला भुवि भवन्ति सुधांशुसुधाभृत· ॥४४॥
अथ विलोक्य शशांकमुखं भृशं विविधगर्तमय निखिल नवै·
शशिमुखी क्रियतां न तिरष्कृता सुकवयो न च केऽपि निराहताः ॥४५॥
वहति गर्तशतं यदि तत्तनू· अपि च सा विषमा बहुधा यदि
कविदृशा यदि तत् सुसमीक्ष्यतां हृदयमेव तदस्ति शिवद्युतेः ॥४६॥
इह खलै. प्रणय–प्रलयकरै र्यदपि हृच्छतमत्र विदीर्यते
सपदि तत् कुरुते क्षतविक्षतं मृदुतमं शशिमानसमाकुलम् ॥४७॥
प्रतिपदं मनुजै· कृतघातकैः प्रतिदिनञ्च यदद्य विदूष्यते
अनुमितुं सुकरं नहि तद्बुधै. किमह तत् कुरुतेऽद्य सुधाम्बुधौ ॥४८॥
मनुजपाद – रजोमलिनीकृते शशिनि देवगुणाश्च कुतोऽधुना
कथमहो ननु भवन्तु विभासिता इति मनागपि न तै र्विचिन्त्यते ॥४९॥
अयमिहैव यथाद्य विभासते पुनरपीह तथैव विभासताम्
कुरुत किन्तु जना न सुधाकरं निजकलङ्कितकर्म–विदूषितम् ॥५०॥
ऋषिवरैरिह पुण्यतमे स्थले क्षितितलांशविभूषित–वेदिषु
शतपथानुगत यजन कृत पुनरपि क्रियतामिह तत्तथा ॥५१॥
भवहिते निरता भुवि यद्दिने शुचिधियो मनुजा· ऋषिजीवनाः
दिवि सदा विहरन्तु सुख हि ते प्रतिदिन नवलोकविहारिणः ।५२॥
कुरुत नैव सुधाकरमन्यथा नवनवामय – संक्रमणस्थलम्
निज दुरीप्सितलक्ष्य–विलक्षितं न मलिन च विधत्त निजैर्मलैः ॥५३॥
अवनिजीवनमेव न केवल शशधरादमृत लभते सदा
इतरलोक निवासिभिरप्यसौ प्रतिपल नितरामुपजीव्यते ।५४॥

इमा हि चान्द्रीमवलोक्य दुर्गति विपोऽप्म–भीतोऽस्तु शशांकशेखर.
धुनोतु राका च मुहुर्मुहु शिर शरद्–विलासैः सकलैरपाहृता ॥५५॥

शशधरगतिमेना चिन्तयश्चिन्तनीयाम्
पितृगतिमपि बोद्धु श्रद्धया संस्मरंस्तान्
परम विनतवाचा प्रार्थयामास विज्ञ.
प्रकटयत रहस्य मे गुरूणां गतानाम् ॥५६॥

इति श्री देवी प्रसाद शास्त्रि तनय - श्री विद्याधर शास्त्रि - विरचिते विश्वमानवीये समाप्तः चन्द्रलोक निरूपकः षष्ठः सर्ग.



अथ विश्वमानवीये-सप्तमः सर्गः

सदैवसुपोष्याः, स्वकुलकीर्ति-प्रदीपका गुणाः, मनः कोषमया. भावामात्रानु प्राणिता विभुगतय' पितर', न केवल काल्पनिकः परलोक सुरक्ष्यं सदैव वैचारिकं शरीरम्

स्मरन् शोभां चान्द्रीं शयनसुखमग्नो बुधवर.
ययौ लोकं स्वप्ने तमिह नहि जीवन् यमयते ।
न यस्मिन् देहो वा तनुविषयक. कोऽप्यनुभव
न वा मृत्योर्भीति' क्वचिदपि कदाचित् प्रभवति ।।१।।

समस्तै भेंदैर्ये भुंवि परिगता मानवजनि'
न तै भेंदै – र्व्याप्ता स्थितिरिह भवेत् कस्यचिदपि ।
न भेदो जातीनामिह नहि च वादाद्यनुगतो
न चास्ते धर्माणां विघटनकर. कोऽपि कलहः ।।२।।

न वृत्तीनां द्वन्द्वम्प्रचलति मन. क्षोभजनकम्
न वावस्थाभेदो जरयति तनूं कस्यचिदपि ।
न कश्चित् शोष्योऽस्मिन् क्वचिदथ न वा शोषकजनः
स्वभावादेवास्ते पितृषु समभाव प्रतिपदम् ।।३।।

पृथिव्यामप्येष प्रकृतिकृत – भेदो न सहजो
यदस्या सर्वे स्मो जनिमरण भावै र्हि सहिता. ।
तथैवास्ते नात्मा क्वचिदपि पृथक् प्राणिषु नव.
अभेदे भेदास्तत् मनुसुतकृता एव बहुधा ।।४।।

तथाप्येष प्राज्ञ स्थित इह पल यावदगति
विशिष्टैका तावत् प्रतिकृतिरिहाभूत् प्रकटिता ।
प्रशान्ता, ध्यानस्था, परिसृतमहोर्मि परिवृता
विनीतोऽपृच्छद्वा क खलु भगवन् मे स्थितिरियम् ।।५।।

उवाचासौ दिव्यो बुधशिरसि धृत्वा निजकरम्
नराणामेवाहं वियदुपगत. पूर्वपुरुष'
निराधारां या च स्थितिमिह मे पश्यति भवान् ।
विशिष्टस्तद्धेतु – र्विधिरचितलोकोऽयमपर ।।६।।

सदा सर्वे सूक्ष्मा जगति गतिमाप्तुम्प्रयतते
गतिं चाप्त सूक्ष्मामिह पुनरसौ सूक्ष्मतरकाम् ।
निजैः स्थूलैर्देहै क्षितितलभव ह्यन्द्रिय-सुखम्
चिरं भुक्त्वेदानीं वयमिह मन कौष – तनुगा ।।७।।

न देहो न स्थूलो न च भवति भारेण सहित
स आस्ते भावानां दिवि परमसूक्ष्मो विभुगतिः ।
सुसूक्ष्मत्वादस्य स्थितिगतिनिरोधो न कुहचित्
अयम्पोष्यो भावैरभिलषति नान्यत् किमपि यत् ।।८।।

वय व्याप्ता भूमौ दिवि च विशदायामनिलवत्
स्वभावात् किन्तु स्यु – निज कुलगता नः परिश्रम ।
कुलेनासौ योगो भवति दृढ आसप्तमकुलम्
स्वतो न स्यात् पश्चात् सुखपरिणति – दिव्यतनुषु ।।९।।

कुले चेद् भद्रं नो वयमपि भवामः कुशलिनः
तथैतस्मिन् तापोऽतिशयमिह सन्तापयति न ।
भवेज्जिज्ञास्यं यत् तदिह सुतराम्पृच्छतु भवान्
अकस्माद्योगोऽयं तत्र मम च जातो विधिकृत ।।१०।।

सुख, शान्ति, कीर्ति निजकुलजनेभ्यः प्रतियुगम्
समीहन्ते शश्वत् प्रकृतिकरुणार्द्रा हि पितर ।
कुले कीर्त्या दीप्ते वयमपि भवामो द्युतिमया
अकीर्त्या चोल्लासः परिणमति खेदे सपदि न ।।११।।

अहम्भावग्रस्तः स्मरति यदि कश्चिन् नहि पितॄन्
कुलस्रोतो – नेतॄन् महितजनकादीनपि निजान् ।
कृतघ्नस्तत्तुल्यो भवति खलु नान्यो भुवि पुमान्
न यः स्यात् स्वीयाना भवतु स परेषामिह कथम् ।।१२।।

अथास्माकं कश्चिन् स्मरति यदि काश्चित् शुभगुणान्
विधायात्मीयां – स्ताननुसरति सद्भावितधिया ।
सुतुष्टास्तेनापि ध्रुवमिह वयं स्याम नितराम्
कृतार्थं कृत्यं तत् दिशति सरणिं यत् परकृते ।।१३।।

स्वसंस्कारैर्हीना बहुतरमिदानी यदि नवा:
निलीना नित्य ते निजकुलगुणानामवमतौ ।
गुणा. सस्मर्तव्या: स्वकुलसहजा आत्मबलदा.
न हेयास्ते मौर्ख्यात् पतित – चरितै भ्रान्तमतिभि: ॥१४॥

गुणा नित्यं नव्या भुवि न सुलभा जीवनभृता
तपस्तप्त्वा प्रत्नै: प्रयतमनसा ये ह्यधिगता ।
प्रमादादक्षय्य: स न खलु निरस्य: कुलनिधि:
करस्थं स्यान्नष्टं ध्रुवमिह च नव्यं न किमपि ॥१५॥

न तेभ्यो भिन्नाना मतमनुसरेत् तद्धि सहसा
तिरस्कार्यो यत्नोऽयमपि च तथा धूर्तमनसाम् ।
दृढो विश्वासस्तै नृं मनसि यतोऽद्य जनित:
"पृथक् कोचिल्लोका जगति न पृथिव्या: परतरे" ॥१६॥

जगद्धात्री नून परममहनीया त्रिभुवने
मुहुर्जन्मास्या न: सततमभिनन्द्य च नितराम् ।
समेषा लोकानामियमनुपमा ज्ञानजननी
प्रकृत्या पुत्रोऽस्या मननगुणयुक्तश्च मनुज ॥१७॥

विशेषात्तत्रापि श्रुतिमतिमयी भारतधरा
प्रदीप्त यस्या तद् भवति परिपूर्ण श्रुतिमह
धराप्येषा किन्तु प्रभवति न तावत् विकसितुम् ।
न यावल्लोकेभ्यो बलमिह परेभ्योऽपि लभते ॥१८॥

उपेक्ष्या नो लोका भुवि तदितरेऽप्यल्पमतिभि
विभिन्नेष्वेतेषु स्फुटति जगती भिन्नविषया ।
न च स्रष्टु सर्गे विकसितिकृते कोऽपि विरह:
तरङ्गाणा भङ्गी भवति विविधैव प्रतिगति ॥१९॥

मिथ सम्बन्धेऽस्मिन् प्रकटमिह सिद्धेऽपि सुतराम्
अहोऽज्ञाना मोहो जगति नहि लोका इह परे ।
न वैविध्य लोके भवतु यदि तत्तत् प्रकृतिजम्
कथ जीवोऽप्येषोऽनुभवतु जगत्या नवगतिम् ॥२०॥

हठान्धा मन्येरन् पुनरपि न लोकान् यदि परान्
स्वविश्वासैरेभि विचलितधियस्ते मुहुरहो ।
मुहुर्जाता जाता वत भृशमिहैव क्षितितले
तमोभ्रान्ता स्वल्पे स्वजगति चरेयु र्वंहुतिथम् ॥२१॥

परे ये च ब्रूयु "मंरणमनु किञ्चिन्नहि भवे,,
न निर्मूंला चैना मृतकगति – चिन्ता कुरुत तत् ।
स्फुरत्येतत् विश्वं निखिलमिह जीवज्जन – कृते
गतासूनां सर्वं व्रजति सह तैरेव विलयम्" ॥२२॥

असारोक्तिस्तेषा कथमपि पर नेयमुचिता
न नित्यत्वाद् द्रष्टु॰ क्वचिदपि लयस्तस्य भवतात् ।
भवे साक्षात्कार॰ पुनरिह भवेत्तेन नहि वा
विकल्पोऽय किन्तु क्वचिदपि न रुन्धेऽस्य हि गतिम् ॥२३॥

भवेद्यस्मै देयं यदपि च यतो ग्राह्यमथवा
समस्तं लोके तद् भवति सतत कर्मफलितम् ।
न सम्बन्ध रुन्धे स्वकृतपरिपाको यदि गतै
अवश्यं स्यात्तेषा निजकुलजनै. संगम इह ॥२४॥

न भेतव्य मृत्योरवनितलजातैरपि जनै–
र्नं मृत्यु केषाचिद् नियतसमयात् प्राक् प्रभवति ।
स्वकर्तव्य कार्य भवतु भुवने यद्धि भविता
अनिष्टं नाकस्माद् भवति नहि चेत् पापमुदितम् ॥२५॥

प्रभुर्ध्येयस्तस्मात् सततमिह सद्बोधजनक
न नश्यातु पापात् प्रभवति पर कश्चन भवे ।
परो लोको यादृग् भवतु, भवतान्नाम स तथा
न हि त्याज्यो धर्म्यो निजनियतमार्गोऽत्र मनुजै॰ ॥२६॥

चलच्छ्वासे देहे नहि च विषयाणामनुभवे
परिच्छेद्य न्दृणा भवति सकल जीवनमिदम् ।
यशो – देहाद् भिन्न तनुपरिमिताच्चाप्यथ परम्
पृथक् तन्नो नित्य भवति विभु वैचारिकमपि ॥२७॥

प्रयाते पञ्चत्वं क्षणिक इह देहेऽप्यनियते
विचारात्मा जीव. सततगतिमान् तिष्ठति भवे ।
तरङ्गन्यायेन क्रमवति विकासे परिणता
न सद्यो लुप्यन्ति स्थिरतरविचारा हि जगत· ॥२८॥

विचाराणा शक्ति र्भवति सबला विश्वजयिनी
क्षणे स्यात् सा व्याप्ता भुवि नभसि सर्वत्र युगपत् ।
न चेदस्माकं सा बलमिह लभेत स्वकुलजात्
स्वशिष्याद् वा तस्या भवति दयनीया बत गतिः ॥२९॥

विरुद्धैः केषाचिद् दृढतरविचारैः प्रतिहता
भवत्येषाऽशक्ता गणयति न कश्चित् पुनरिमाम् ।
प्रभावेणैतस्या भुवि सुकृतिभिर्यच्च विहितम्
विलुप्तं तत् सर्वं क्रियत इह धूर्तै र्गतभयैः ॥३०॥

सदा शुद्धान् भावानुपनयत न. सत्वगुणजान्
रजश्चाश्चल्य नोऽपनयति भृश शान्तिमखिलाम् ।
अशान्तेष्वस्मासु प्रकृतिलहरी क्षुभ्यति पुन·
विभिन्नाश्चोत्पातास्तत इह भवन्ति प्रकटिता· ॥३१॥

इहाखण्डा शान्ति वयमभिलषामस्त्रिभुवने
सुख यस्या सर्वे निजनिजविकासेन सहिता· ।
लभन्तां लक्ष्य स्वम् मनुजजनियोग्यं भवहितम्
न चेयाद् विध्वस सुकृतमथ केषाचन भवे ॥३२॥

अतः सौम्यैर्भावैर्भवतु परिपूर्णं जगदिदम्
तमोग्रस्त किंचिद् भुवि नच विधीयेत बत यैः ।
विचारोत्थ ध्वान्त भवति विभु दीर्घावधि ततम्
सहस्राणा सद्यो विमतिजनकं संभ्रमकरम् ॥३३॥

पवित्रेऽस्मल्लोके वियति विमले सत्त्वजनिते
नराणा कृत्याना प्रतिफलति बिम्बोऽत्र सहज ।
यथा स्यात् यत् कार्यं परिणमति तत् तादृगि फले
विलम्बाश कश्चित् क्षणमपि न तच्चान्तरयति ॥३४॥

सदादर्शाचारा नरतनुषु येषा सुकृतिनाम्
न चोद्वेग नीता सहजरिपुकामप्रभृतिभि ।
परेषां दु:खैस्ते द्रवितहृदया शुद्धमतय
भवेयु र्देहान्ते दिवि परिणता दिव्यपितृषु ॥३५॥

दिवो भूमेर्मध्ये प्रकृतिकृतवासास्तत इमे
त्रयाणा लोकानामपि युगपदेव स्थितिदृश ।
अभीक्ष्णम्पश्यन्तो जगति घटिता जीवनगति
सुकृत्यैस्तुष्यन्ति व्यथितमनस स्युश्च दुरितै ॥३६॥

दशा निम्नस्थाना विविधगतिका दृश्यत इत:
स्वयं या चास्माभि र्बहुलमनुभूता बहुविधा ।
भुवो गर्भे केचिद् समधिगतनिद्रा निपतिता
परे चैषामीषद् वियदभिमुखं गन्तुमनस ॥३७॥

अयोग्याश्चेदन्ये द्युतलमधिरोढु व्यवसिता
पतन्तो दृश्यन्ते भुवि पुनरिमे कर्मवशगा ।
गतिर्नीचैरेषा भवति सतत पापजनिता
प्रभु र्ध्येय - स्तस्मादवनि - तलजातै - रघहर ॥३८॥

अकीर्तिर्या लोके प्रसरति नृणा साप्यसुकृतै
न दुष्कृत्यैस्तन्नो यश इह विधेय कलुषितम् ।
यशोदेहो नित्यो भुवि खलु समेषा शुचितम
अनित्यश्च स्थूलो गदित इह देहो विशृमर ॥३९॥

यशस्तेज साक्षात् सुकृतसरणि निर्दिशति यत्
समाजेभ्योऽन्येभ्यो निजकुलभवेभ्यश्च सततम् ।
प्रकाशोऽस्माभिर्यो भुवि निजकृतै कोऽपि वितत
यशोनाशे सोऽय सपदि तमसा स्यात् निगलित ॥४०॥

प्रियेय न पृथ्वी वयमिह सदा पर्वसमये
तथा प्रावृट्काले जलधरजलै - र्नर्तनपरा ।
सदैवागच्छामो खगमृगजनेभ्योऽथ विपुलम्
प्रयच्छन्तस्तत्तद् भवति धरणी येन सरसा ॥४१॥

निर्जैर्योगोऽय नः प्रचलति सदैवादि-समयात्
इमे द्यावाभूमी सकल सुखपूर्णे हि भवत. ।
मिथः सद्भिर्भावैः कुरुत जगती हृष्टचरिताम्
कुभावैश्चाकृत्यै कुरुत वत नेमा हि विकृताम् ॥४२॥

विकारश्चेत्समुत्पन्नो नृचित्ते प्रकृतौ तथा
जायते दु खित सर्व जगत्यां वत जीवनम् ॥४३॥

उभावेतावदोषौ तत् रक्ष्यौ विश्वहितैषिभि.
सद्धर्मानुगतै. कृत्यैः तोषणैश्च जगत्पतेः ॥४४॥

तस्मात् स्वपूर्वपुरुषाग्रयवरादपूर्वात्
भावानिमान् नवसुबोधभृतो निशम्य ।
उन्मीलितार्ष-विभुदृक् स बुधाग्रगण्यो
दिव्यान् दिदृक्षुरभवत् दिवि नव्य लोकान् ॥४५॥

इति श्री देवीप्रसाद शास्त्रितनय-श्री विद्याधर शास्त्रि-विरचिते
विश्वमानवीये समाप्तः सप्तमः पितृसर्गः



अथ विश्वमानवीये अष्टमः सर्गः

(न सर्वे देवलोकाधिकारिणः, श्रौता मानवैः कल्पिताश्चद्विविधा देवाः, मानवीया देवा मानवस्वभावा, पितरो महर्षयश्च न देवत्वाभिकामाः)

एव स्वपूज्यैः पितृभिः कृपार्द्रैः कृतः कृतार्थः पितृलोक–वृत्तैः
रम्यान् दिदृक्षु दिवि दिव्यलोकान् तमाचवद्य स पुन जंगाद ॥१॥
हे आर्यवर्या ! भवताम्प्रसादात् कि कि भवे नेह मयानुभूतम्
विवेदिषा कापि नवा दिदृक्षा तृप्तिम्परां नैति परतु काचित् ॥२॥
क्लेशैरनेकै नंच कुण्ठिता कै–र्वसुन्धराया हि सुखानुभूति
अशोऽपि कश्चित् न यत्र तेषा नाक. स काम्यो न भवेन्न केषाम् ॥३॥
इच्छाविघात. प्रमुखं हि मूल दु खस्य सोऽस्मानखिलान् धरायाम्
कदा न भूयो विकलान् विधत्ते सत्कर्म–सिद्धावपि हा हठेन ॥४॥
विचारमात्रेण च कल्पवृक्षो मनोरथान् यत्र करोति पूर्णान्
अलौकिक त कमनीयलोकं विलोकितु को न समुत्सुक स्यात् ॥५॥
निर्दिश्यता काचन सा सुरीतिः कुर्या ययाहं हि दिवो विहारम्
युस्मद्–गति नं क्वनापि रुद्धा गुप्तं रहस्य न दिवश्च किञ्चित् ॥६॥
श्रुत्वा वचस्तस्य विचित्रमेतद् विचिन्त्य पूर्तिञ्च जनैरशक्याम्
सस्नेहमेन स उवाच मान्य सुखेन साध्या न तवेयमीहा ॥७॥
पुराप्यनेकै र्यतित वतास्मै न पूर्णकामा ह्यभवन् पर ते
क्रतु विना तत्र न कोऽपि गन्तु मर्त्या क्षमते क्षितिजा कदाचित् ॥८॥
त्याग कृतश्चेन्नहि कोऽप्यपूर्व सर्वस्वदान च कृत न चद्वा
रणागणे वीरवरै र्हसद्भि प्राणाहुति श्चेन्नहि कापि दत्ता ॥९॥
नैवम्विधाः केचन दिव्य लोकान् गच्छन्ति पश्यन्त्यथवा कदाचित्
तथापि यद् वेद्मि रहस्यमेषा तदेव ते किञ्चन वर्णयामि ॥१०॥
नून पृथिव्या पृथगेव केचित् लोका हि दिव्या. खलु ते सुराणाम्
न तत्र भीति किल कापि मृत्यो नं तत्र केचित् जरसा च जीर्णा ॥११॥
देवाः परं येऽत्र वसन्ति केचित् श्रौता न ते वास्तविका न वाऽद्या.
स्वकर्मणां सौख्यफल हि भोक्तुम् क्षणस्थिरता स्तेऽत्र हि केऽपि भीमा ॥१२॥

आद्याश्च वेद्या यदि सन्ति देवा वेद्यः पुराद्यो जगती–विधाता
विश्वस्य विश्वस्य स नाथ एको व्याप्तो हि सर्वत्र कणे कणे यः ।।१३।।

परात्परोऽसौ नहि वेदवेद्यो नवाऽपरैः कैश्चन तर्कशास्त्रैः
स दर्शनीयो विमलात्मबोधै र्विश्वस्त दृष्ट्या हृदि वर्तमानः ।।१४।।

पृथक् स्वरूपेण महान् स देवो विज्ञै–र्व्यलोकि प्रकृते विकासे
तस्यैव सर्वेऽनलानिलाद्या अशात्मकाः सर्ग–विकासलग्नाः ।।१५।।

श्रौताः समस्ता ऋषिभिः स्वमत्रैः स्तुता इमे सत्स्तुति–पूर्णभावैः
यज्ञात्मका यज्ञरताश्च नित्यं तत्वन्ति दिव्य खलु विश्वयज्ञम् ।।१६।।

प्रतिक्षणं तत्र परस्परं ते गृण्हन्ति यत्तत् पुनरर्पयन्ति
दाने तथाऽदान विधौ प्रसक्ताः चरन्ति चर्या नियत–क्रमेण ।।१७।।

प्रभाकरश्चेत् सलिल समुद्रात् गृण्हाति तद्वर्षति भूरि सद्य
आदीयते क्षारमपीह यत्तैः प्रदीयते तन्मधुर पुनस्तैः ।।१८।।

दानप्रवृत्ति हि हिताय तस्मात् महर्षिभिर्नित्यमिह स्तुतेयम्
मेघोऽपि चेत् गर्जति दद्देव ब्रूते सदाय श्रुतिभिः श्रुतं तत् ।।१९।।

विडम्बनेयं विषमा वरण्या वैज्ञानिके साम्प्रतिके प्रसारे
संखन्य गर्भान्निखिल हि तस्याः कणोऽपि नास्यै पुनरर्प्यते तैः ।।२०।।

प्रवृत्तिरेषा वत दानवीया देवानुकूला न भवेत् कदाचित्
बिभेमि कश्चित् त्वरयैव भावी स्वय कृतोऽयं भुवि सर्वनाश ।।२१।।

संचारिणः प्राणगतेस्तथेमे प्रवर्तकाः प्राणिषु चेतनायाः
ज्ञानोज्ज्वलो दिव्यतमः प्रकाशो भर्गो वरेण्ये सवितुश्चकास्ति ।।२२।।

नैषा हि गत्या क्वनावकाशः स्वर्गस्य सभोग–परायणस्य
तेषा हि साध्य परमेव किञ्चित् सृष्टिः समस्तापि नियम्यते तैः ।।२३।।

सूर्यादयो ह्येव पुनः प्रकृत्याः गुणस्वरूपैं र्विविधैः समेता
श्रद्धामयैः सत्स्तवनैः स्तुतास्ते विष्ण्वादिरूपेण हि मन्त्रदृग्भिः ।।२४।।

पौराणिका ये ह्यपरे च देवाः प्रायोऽखिला मानवकल्पितास्ते
जनः स्वभावान्निजभावभिन्न नास्मिन् भवे पश्यति किंचिदन्यत् ।।२५।।

तेषा चरित्रं ह्यपि तत् समस्त व्यनक्ति सर्वत्र जनस्वभावम्
दुःखम्पर तेषु न मानवीयम् न सन्ति ते वा तमसाऽभिभूताः ।।२६।।

ग्रस्ता न ते वस्तुगतैरभावै रोगैरसाध्यै रथ दैहिकै र्वा
स्वकामनानाम्प्रतिरोधजन्यै. क्लेशै र्न वा मानसिकैश्च कैश्चित् ॥२७॥
भिन्नेषु देशेषु विभिन्नरूपा भीमा क्वचित् क्वापि दयानिधाना.
सभ्येषु सभ्या नियमानुवृत्ता क्रूरा असभ्येषु च हीनभावा ॥२८॥
युगे युगे तेऽभिनवैः प्रकारै स्वसंस्कृति ह्येव विभावयन्त
रूपेण भिन्ना अपि कर्म-भिन्ना लोक-प्रवृत्तौ न भवन्ति भूरि ॥२९॥
आर्येषु देवा परमा उदारा भक्ता स्वभावाच्च नृपुंगवानाम्
युद्धाङ्गणे तानभिनन्दयन्त साहाय्यमीप्सन्ति सदैव तेषाम् ॥३०॥
प्रायो हि सन्मानववृत्तयस्ते न राजनीति प्रबला भवेच्चेत्
तयाऽभिभूताश्च सुरा न नृभ्य. क्वचित्समुत्कृष्टतरा हि दृष्टा ॥३१॥
ईर्ष्या परोत्कर्षकृते सदैषा जागर्ति चित्ते विकटैव काचित्
राजर्षिभि ह्युग्रतप प्रवृत्तै स्तिष्ठन्ति ते सन्ततमेव भीता ॥३२॥
इन्द्रादिकै राजसवृत्ति शीलै र्नित्य. स्वधर्मोऽप्यवहेल्यते तत्
यस्मादकृत्येष्वपि सनिमग्नाः पौराणिकै केचन वर्णितास्ते ॥३३॥
ऐन्द्र पदं रक्षितुमेव वामा सृष्टि र्विचित्राथ नवैव काचित्
भव्याप्यभव्याप्सरसा चलोना कयासु धर्म्या न सदैव भाति ॥३४॥
उप स्वरूप श्रुतिषुप्रशस्त मनोहर यद् ऋषिभि र्व्यलोकि
अलौकिक तत्सदृशमेव किंचित् रूप समुद्भावितमस्ति तासौ ॥३५॥
इन्द्रस्य दास्योऽपि सदा स्वतन्त्राः स्वेच्छानुसार दिवि सञ्चरन्त्य
स्थिरा क्वाचित्ता नहि चित्रितास्तै स्थिरश्च तासा दयितो न कश्चिन् ॥३६॥
यथाकथचिन् तपसां विघात मुख्य हि तासा भवतीह साध्यम्
तपस्विवृत्ति-स्वकटाक्षपातै र्नृत्यै स्वगानैश्च विचालयन्त्य ॥३७॥
वीरानुरक्ता अपि तासु काश्चिन् चिर न कैश्चिन् सह ता रमते
सद्यस्त्यजन्ति प्रतिकूलमेन न रक्ष्यते चेत्समयो हि तासाम् ॥३८॥
अपूर्वसौन्दर्यमयी प्रसूति – र्दिव्यैव नित्य भवतीह तासाम्
मातृस्वभावास्वपि किन्तु तासु प्रसूतिमोहो हि सदा बलीयान् ॥३९॥
अनार्यदेवाश्च भवन्ति सर्वे भोगेरताह्येव सदा स्वभावान्
स्वर्गेऽपि तेषामतएव सर्वा प्रवृत्तिरास्ते विषयानुसक्ता ॥४०॥

एतादृग भोगमय हि लोक वाञ्छन्त्यनार्या नहि केचिदार्या.
काम्यो न कामात्मक एव लोको तेशा हि कश्चिन् स्थिर योगभाजाम् ॥४१॥
आर्येषु कैश्चिद् ऋषिभि र्न तस्मात् स्वर्गो हि तादृक् क्वचिदादृतोऽयम्
तपस्विभि सयमिभिस्तथान्यै समीहितो नैव स भूतिकामै ॥४२॥
सारस्वते ते विहरन्ति लोके सदा स्वकीयैऽखिलदु खमुक्ते
सुधा विहायाथ पिबन्ति नित्यं विद्यामृत सर्वसुधातिशायि ॥४३॥
सौख्य सुराणामथ वस्तुतस्तै-र्न मन्यते सौख्यमिहाद्वितीयम्
स्थिति र्यदेषां नवकर्महीना नवानुभूत्या रहिता न हृद्या ॥४४॥
गतिः सुराणा दिवि शोचनीया चिर न ते तत्र वसति केचित्
मुक्ते स्वसत्कर्मफले च यत्तो सद्य क्षितावेव पुन पतन्ति ॥४५॥
गति किलैशा दयनीयवृत्ता नित्या न काचित् सुखशातिदात्री
यद्यद् – भवेदैन्द्रियमत्र सौख्यं तत्तच्चिरं नेह सुखाय नूनम् ॥४६॥
स्वर्गो हि कोप्यैन्द्रिय एव लोक स्तस्माद् बुधाना हि मते मतोऽयम्
इन्द्रश्च तस्याधिपतिः प्रसिद्धः सहस्रनेत्र प्रथित कथासु ॥४७॥
त्वचापितद् किनु दिदृक्षुरस्य प्राप्य त्वया तत्र हि कि नु नव्यम्
वसुंधरायां सुलभ न कि किम् धात्री स्वभावात् निखिलार्थ-पूर्णा ॥४८॥
स्वर्गस्वरूप भुवि कल्पितं यत् निरूपित तन्निखिल मयैवम्
अत पर कि खलु वच्मि तुभ्य ज्ञानात् पर ज्ञातृगति र्न काचित् ॥४९॥
शास्त्रेषु यादृक् खलु नाकवृत्त मह्यं हि तद् वर्णितमेव मान्यै
नाद्यापि तल्लोक-विहार-वाञ्छा तथापि पूर्णा वत पूर्णतो मे ॥५०॥
दृगिन्द्रियं मे नहि तेन तृप्तम् विवर्धमानैव च मे दिदृक्षा
स्वर्गस्य दृश्यं धरणीतलस्थै र्यथाहि दृश्येत विधिः स बोध्य ॥५१॥
तत्प्रेक्ष्यतामांतरिकै हि नेत्रै रुपास्यता वाऽस्य कृते सुर्रापि.
प्रीत स एवाखिल-दृश्यमेतत् क्षणेन ते दर्शयतादितोऽपि ॥५२॥
तत्प्रीतये तत्स्मरणं च भक्त्या विश्वस्तचित्तेन विधेयमेवम्
जपाय मंत्र च सुसिद्धिसिद्ध निर्दिश्यत स्मै स दधार मौनम् ॥५३॥
प्रबोधयन्नेवमिम स दिव्यो महर्षिकल्पो जनकाग्रगण्य
अतर्दधे क्वापि रहस्यदेशे निराकृति सन् सहसा निगूढ. ॥५४॥

शून्यं नभः शून्यतरं हि जातं कर्तव्यमूढश्च बुधः स्थितोऽयम्
स्मरन् पुनः पूज्यगुरोः प्रबोधम् देवर्षिवर्य-स्मरणे प्रवृत्तः ॥५५॥

निखिलमपर – दृश्यं मज्जयन् ध्यानलोके
दिवि सुरमुनिवीणा केवलं श्रोतुकामः ।
सुमधुरमधुरं खे दिव्यनादं हि शृण्वन्
बहुतर – मयमासीद् वीक्षणेऽस्यैव लीनः ॥५६॥

इति श्री विद्याधर शास्त्रि-रचिते विश्वमानवीये देवलोक-
स्थिति निरूपकः परिसमाप्तोऽयमष्टमः सर्गः



अथ विश्वमानवीये नवमः सर्गः

(सुर्षि दर्शनम्, नवसर्ग सञ्ज्ञकः पुमान्, निखिलार्थ-सिद्धिप्रदायिनी
वसुन्धरा, भोगमात्रनिरतादभुता नाकगति, पार्थिवं वैशिष्ट्यम्
दिव्यं मानव - जीवनम्

अथ यावदसौ पितृलोकपरम् सुरलोकमवाप्तुमित चक्रमे
स्थिरमासनमास स योगरत. स्थिर चित्तगतिश्च बभूव भृशम् ॥१॥
हृदि नारदमेव जपन्ननिशम् स सुरर्षिमृते किमपीह परम्
नहि पश्यति न स्मरत्यथवा दृढ निश्चय एष च तेन कृत ॥२॥
अचिरात् खलु दर्शनमत्र भवेत् सुरपूज्यवरस्य मुने. फलदम्
नियत हि मनोरथ–पूर्तिकरम् दिवि तस्य ततश्च भवेद् गमनम् ॥३॥
अथ भास्वति मदगतौ भवति स्मरणैकरत. स किलैकदिने
श्रुतवान् मधुरा हरिकीर्तनजाम् स्वर–सल्लहरी नभसो रहसि ॥४॥
जगदीश्वर सद्गुणगानरतो – भुवन – त्रय–दिव्यगतिश्च मुनिः
गगने विहरन् सहसाविरभूत् महसानुपमेन वभौ च वियत् ॥५॥
स्थितवानथ यावदय गतवाक् स्वयमेवमुनि–स्तमपृच्छदिदम्
किमहो प्रतिभाति भवान् विकल क्वच सम्प्रति गन्तुमितो यतसे ॥६॥
विशद तव हार्दमिदं निखिलम् वद निर्भयमत्र पुर खलु मे
भुवनेष्वखिलेषु मही महती रमणीयतमाथ च पूज्यतमा ॥७॥
निवसन्नवनीतल–पुण्य पदे – सकलार्थ–सुसिद्धिमति प्रथिते
सुलभ नहि ते किमु जातमहो विमना वत यस्य कृते भवसि ॥८॥
रचित विधिनेह जनाय न किम् न च किं स्वयमेव सृजेदिह स
मनुजैं हि दिवोऽपि पर परमम् पदमाप्तुमित स्वधिया सुशकम् ॥९॥
निजकल्पनया ह्यथ कल्पयितुम् क्षमसे नहि किं रमणीयतमम्
तवकल्पनया नवकल्पतरु – र्ह्यपि सत्वरमत्र भवेदुदित ॥१०॥
इदमस्त्यखिल ध्रुवमेव परम् भुवनेषु कथाऽनुपमैव दिव
नहि क कुरुते सतत तरसा नवकौतुकपूर्ण–महो जगति ॥११॥

मरणम्प्रकृति. क्षितिजन्म-भुवाम् अमराश्च सदाऽमरलोक-गता.
सततं मधुमासमयी सुषमा शिशिरा च सदात्र समीर-गति ॥१२॥
नियताऽथ च मानववृत्तिरियम् स सदा नवलोक विहार-रुचि
मनसश्च रथेऽत्र यतेऽपि पुरा सुगमा न गतिर्वत किन्तु नृणाम् ॥१३॥
विकला क्षुधया शतशोऽत्र वयम् वितरेन्नच कि दिवि कल्पतरु
अवनी गतयो विविधाधि-भृतो न नुदन्ति च कान् परिहातुमिमाम् ॥१४॥
तदितो हि गति सुगमास्तु यथा सरणी सरला दिश काचन मे
भवताऽनुदिन बहुशो ह्यथवा दिवि गम्यत एव मुने ! सुतराम् ॥१५॥
इति तद् वचन सुरपूज्य-मुनि-र्नवमेव निशम्य जगाद सखे !
नहि सभवमत्र हि यत् तदहो कथमिच्छति विज्ञवरोऽपि भवान् ॥१६॥
बहुसाधनवद्भिरपीह जनै-र्न पुरा यदि कैश्चन तत्र गतम्
कथमेतु कदाचन तत्र भवान् किमु तर्कयते न पल वत तत् ॥१७॥
अथ नैव तप कठिन न जप न पराक्रम एव तवानुपम:
न च काचन योगज-सिद्धिरहो सुखमेतु दिवि कस्य बलात् ? ॥१८॥
मनुजै. समवेत्य सुरैरथ का क्रियता वत तत्र नवा प्रगति.
अवलोच्य हि तत् परिपूर्णतया न वृथा क्रियता समयापगति ॥१९॥
दिवि दैवगणैरथ सन्निधये कतमा त्वमहोऽत्र बिभर्षि कलाम्
पितृवन्न सुरा मनुजै. सुयुज. न च वृत्तिगति क्वचनैकविधा ॥२०॥
परिहाय जगत् अय सौख्यधरा धरणीम् निखिलार्थ-सुसिद्धिमतीम्
क्व यियासुरहो निज-मोहवशात् भवसीह मुधा वत तत् कथये ॥२१॥
प्रकृति हि यथा भुवि रम्यतमा विकसेन्न परत्र तथैव हि सा
दिवसे दिवसेऽत्र नवा सुषमा-मुषसि प्रतिसाध्यमथानयति ॥२२॥
उषसीह यथानुपमा च विभा नवकान्तिमयी नव-शातिमयी
सुलभा न रजोगुण-शालिनि सा तव देवपदेऽनुदिनं भवति ॥२३॥
नव यत्र रसा अथ सा हि रसा कुरुते सरस तरसा न हि कम्
सुरलोक-गतो न नवानुभवम् लभते कमपीह जनश्च पुन ॥२४॥
प्रभु-भक्ति-सुख ह्यपि नाथ पुमान् लभता दिवि भोगरत सततम्
नहि येन सम हि किमप्यपरं सुखमत्र भवे न च शान्ति रहो ॥२५॥

भुवनत्रयवर्ति – समस्तसुखं तव पादतले लुठतादखिलम्
निखिला अमराश्च महर्षिवरा –तव सौख्यमिमं स्पृहयन्त्वनिशम् ॥२६॥
अथ यत्र भवेत् क्षिति–जीवनतो निखिलोऽपि गवां विषयोऽभिनव
वद कस्य मनागपि तत्र मन क्षणमेव कथ कुहचिद् रमताम् ॥२७॥
रुचयेऽभिनव न च वै निखिलमुपरिचित्य मनो मुदमेति सदा
स्मृतयो यदि तत्र गता न सन्तु नवा रुचयोऽपि भवन्त्यखिला.शिथिला. ॥२८॥
न नवाभिरुचि यदि चेतसि ते न च कर्म मनोऽभिमत क्रियताम्
समय. स निरर्थकता हि गतो न कथंचन पूर्तिमिहैति सुखम् ॥२९॥
दयनीय–दशाविषमे दिवि तद्–रहिते निखिलै हि नवानुभवैः
यतसे वत किं ननु यातुमित प्रकृति सदृशी मनुजेऽथ सुरे ॥३०॥
अवलोकयितुं ह्यथ यानमरान् त्वमहो विकलोऽसि भृशं मनसि
नहि पूर्णतया मनुजै. खलु ते जगतीह पृथक्–गतयो नितराम् ॥३१॥
अधिरुह्य विमानमनन्त चरै – नेर कीर्ति – मनोमुदितैरमरै
अभिनन्दनमत्र कदा हि नृणाम् प्रबलस्य बलस्य च नैवकृतम् ॥३२॥
भुवि दिव्य–सुखाप्ति–कृते मुदित सतत कुरु कर्म निजं निखिलम्
नहि खिन्नमतिः कुहचिल्लभते सुखमंशमित ह्यपि नाकभवम् ॥३३॥
शिवमस्तु मन' शिवमेव वच शिवमेव च कर्मभवेदखिलम्
अशिवा न मति नं गति यदि ते शिवलोकमिहैव भवानयति ॥३४॥
रहितो भ्रमजैरखिलैश्च भयै' स्थिरताम्प्रति – वृत्तिमिहानुभवन्
स्वत एव जनोऽनुभवेत् जगति स्वगति सुखशांतिमयी नितराम् ॥३५
स्मर वा सततं प्रयतो नियत प्रियदेववरं हि तवेप्टतमम्
स्वयमेव भवन्तमितो नयतात् स दिवं खलु तेऽभिमत कृपया ॥३६॥
कुरु वाऽनिशमेव हरि स्मरणम् कृपयाऽस्य भवेदखिल सुलभम्
न हरि हरितोऽह्यधिकोऽक्षिहरं न च नाकतल कमलाभवनात् ॥३७॥
अथ मानस सृष्टिरियं निखिला किमिहैष न तन्मनुषे स्वदिवम्
निजमानस–हसविहार–रत –सुरलोक–सुख नहि कामयते ॥३८॥
रमता मनुजस्य च यत्र मन सुखमेति स तत्र दिवोऽप्यधिकम्
न च किं नु मनोरतये विधिना रचित क्षितिरम्यतलेऽनुपमे ॥३९॥

परिवर्णितमेव पुरा भगवन्-गुरुभि श्रुति-सम्मतरूपमिदम्
पठित च मयापि मनोऽभिरुचि-र्नहि शाम्यति किन्तु विनाप्तिमियम् ॥४०॥
स्वदृशा-परिदृष्ट-सुदृश्यसुखेऽथ परे परिवर्णितजे च परम्
परमं महदन्तरमत्र भवे भवतीति न कोऽनुभवेत् नु-बुध ॥४१॥
भुवि दिव्य सुखानुभवाय च ये विविधा विषयो भवता विहिता.
निखिला खलु ते शुभसिद्धियुता स्थिरयोगमृते न पर सुलभा ॥४२॥
भवतोऽपि हृता नहि तत्र गति. क्वचनेति न मामपि किं नु नये
नय दिव्यपदे ह्यधुनैव हि तत् परिदर्शय वा तदितो निखिलम् ॥४३॥
न निराकुरुषे यदि बाल - हठम् स्वदिव तदितोऽप्यवलोकय ते
कथयन्निति तच्छिरसि स्वकर निदधेऽत्र सुरर्षिवर कृपया ॥४४॥
नव दृश्यमिदं सहसाऽस्य पुर परमाद्भुत-माविरभूद् गगने
निखिला च महीतल-सरचना परितोऽप्यभवत् नवलस्यमयी ॥४५॥

भव्य चित्रपट - दृश्यदर्शिनी
चित्रितेव रचनाथ काऽप्यलौकिकी ।
सम्मुखे द्युतिमयी नभस्तले
प्रादुरास सहसा विमोहिनी ॥४६॥

दिव्यभा-परिवृत नभोऽखिल भासमानमथ तद् बभौ भृशम्
यद् विलोक्य चकितो विमोहितो सद्य एव च सुधी बभूव स ॥४७॥

शीतल सुखमय समीरणो
मादक परिमल समन्तत. ।
सचरन् - मृदुमृदग - वादनम्
तेन सार्धमथ - नर्तन ध्वनि ॥४८॥

मण्डली सपदि देव योषिता - मप्सरोगण - विभूषिता तत
हावभावमधुरा चक्रमान्विता सद्य एव समभूत् विभाविता ॥४९॥

सत्वर ह्यथ कटाक्ष - सायकै
सा समारभत तं निपीडितुम् ।
सनिमील्य नयने यथा यथा
यात्ययम् परतरस्तथा तथा ॥५०॥

संस्पृशन्त्यथ करैं मुंहुर्मुहुः चक्रुरेनमति – भीत – मानसम्
शान्त – सांध्य – समयेऽपि नीरवे एक एव परितः श्रुतो रवः ॥५१॥

एहि एहि मम पार्श्वतः क्षणम्
यासि धावसि वृथा क कम्पितः ।
पश्य पश्य कमलेक्षणा क्षणं
मां स्वतस्तव किलाभिलापिणीम् ॥५२॥

किं न मूर्ख पिवसि प्रियामिमाम् मादिनीमधर – पान – माधुरीम्
किं न वा मम करोषि मौर्ख्यतः सत्वरं नु परिरंभणं दृढम् ॥५३॥

आचकर्प च हठतो बलेन तम्
सुन्दरी वत यदैन – माकुलम् ।
प्रार्थितो मुनिवरस्तमाशु रक्षितुम्
हर्तुमस्य विपदं च सत्वरम् ॥५४॥

हे हे सुरर्षिवर संहर संहरेमाम्,
वीभत्स – दृश्य जननीं तव नाकमायाम् ।
द्रष्टुं ह्यतोऽधिकमिमां न खलु क्षमोऽहम्
नाको ह्ययं न नरकः परमो जघन्यः ॥५५॥

वाणीं निशम्य करुणस्वर – विह्वलां ताम्
दिव्यो मुनिस्तमतिभीतमुपेत्य सद्यः ।
हस्तं निधाय वृषमूर्ध्नि भयं निरस्यन्
पप्रच्छ तं वत विभेषि कथं च कस्मात् ? ॥५६॥

त्वं वस्तुतः प्रियसखे नहि राजसोऽसि
स्वाभाविक – स्त्वमसि सात्विकवृत्तिशील. ।
तत् सात्विकं कमपि ते धरणीतलस्थम्
स्वर्गं हि हृद्यतममत्र समाश्रयस्व ॥५७॥

भूलोकतः परतरो नहि कोऽपि लोकः
नित्यैंर्हि सौख्यजनकैः सुगुणै–रुपेतः ।
दिव्या मही प्रियतमा परिपूजनीया
सर्वार्थ – सिद्धिरिह यत्र न कैरवाप्या ॥५८॥

वृन्दावने विहर कुंज निकुंज रम्ये
पश्यन् क्वचित्रविसुता – रमणीयतीरे ।
रासं सुधाकर सुधामय चन्द्रिकायाम्
शृण्वन् क्वचिच्च मुरली मधुरं निनादम् ॥५९॥
विष्णुः स्वयं समवतीर्य पुनः पुन र्याम्
नानावतार – कृतिभिः कुरुते कृतार्थाम् ।
तत्तुल्यतां जगति कोऽल्पतरा हि कांचित्
कर्तुं क्षणम्प्रभवति क्वचिदत्र लोके ॥६०॥
रामादिभि सह च या जरथुस्त्रख्रिष्टौ
दिव्यो मुनि – जिनवरोह्यथ बुद्धवर्य. ।
मोहम्मदश्च जगदीश्वर – मात्र – भक्त
प्राद्योतयन्नतितरा गुरवश्च सर्वे ॥६१॥
यस्यां विलक्षणतमाऽखिल – विश्ववंद्या
योनिश्च भाति महती मनुतोऽवतीर्णा ।
नान्या हि योनिरिह काऽपि ततोऽनवद्या
पूज्या सुरैरपि पराक्रमतः पुराणी ॥६२॥
यत्रापि मानवविभूतिरियम् प्रदीप्ता
तत्र स्वयम् प्रभुकृपामृतमेव वर्षेत् ।
नारायणेऽथच नरे नहि कोऽपि भेदः
ज्ञानोज्ज्वलै स्वनयनै रवलोक्यता चेत् ॥६३॥
तन्मानवाभ्युदय एव सदेह कार्यः
कार्या नचात्मगतय क्वचनापि मन्दा ।
उच्च हि मानव – मनोबल – मत्र नित्यम्
साध्यस्य सिद्धिमखिला नियतामुपेति ॥६४॥

ॐ सूर्य इव दिवमारुह्य विकृत्या बाधते वशी ॐ
इति श्री विद्यावाचस्पति श्री देवी प्रसाद शास्त्रि-तनयेन
कवि-सम्राट्-पदवीभृता विद्याधर शास्त्रिणा
विरचिते विश्वमानवीये काव्ये परि-
पूर्णताम्प्राप्तोऽयं नवम सर्ग
ॐ मृत्यो र्मा अमृतं गमय ॐ

॥ श्री ॥

अथ विद्याधर नीतिरत्नम्

माङ्गलिकम्

स्वतो यस्य समुद्भूति· स्वयं यश्च समेधते
स्वतः सोऽस्मान्प्रभुर्नित्यम् प्रकुर्यात् स्वावलम्बिन· ॥१॥

नित्य मौनधरेऽपि यत्र मधुरा गीतिर्जगन्मोहिनी
स्थाणोश्चाप्यथ यस्य शाश्वतमहो लोकेऽद्भुतं नर्तनम्
सर्वे यत्र विरोधिनश्च जहति स्वीयान् विरुद्धान् गुणान्
प्रेष्ठ सोऽत्र विराजता मम हृदि प्रीतः प्रभु शकर. ॥२॥

प्रास्ताविकम्

कवे ! कवय काव्यं तद् येन जीवन – बल्लरी
अपि नैराश्य हेमन्त्या क्षुण्णा तिष्ठेत् प्रफुल्लिता ॥३॥

आत्मविश्वास·

यत्राशा यत्र विश्वासो यत्रोत्साह· स्थिरा मति
तत्र श्रीश्च स्थिर सौख्य ध्रुवा नीति र्मतिर्मम ॥४॥

दृढो यस्यात्मविश्वास साध्यं तेन न किं भवे
आत्मैव सर्वशक्तीना गुणाना चाकरो मतः ॥५॥

यस्य तस्मिन्न विश्वास तदाज्ञा शृणुते न यः
संशयोद्भ्रान्तचित्तोऽसौ भ्रान्तिमेवाधिगच्छति ॥६॥

साहसञ्च समुत्साह न श्रान्तोऽपि जहाति चेत्
नूनमाप्नोति सोऽध्वान भ्रान्तोऽरण्येपि दुर्गमे ॥७॥

अनन्ते के वयं क्षुद्रा. क्वचिन्नैवं हि चिन्त्यताम्
पर्वतस्य कणस्याथ स्थितिस्तस्मिन् यतः समा ॥८॥

निर्धनो निर्बलो वास्ता मानवः सन्ततं महान्
मानवै र्मानुषैः स्थेय मानुष्यं हि परा गतिः ॥९॥

किं धनं किं बलं लोके का वा राज्ञा हि सत्कृतिः
नैतिकं बलमाधेयम् येन सर्वम्प्रसिध्यति ॥१०॥

हीनोऽहं हन्त हीनोऽहम् व्यामोहं त्यज सत्वरम्
आकाशो रजसा क्रान्त श्चिरं म्लानो न तिष्ठति ॥११॥

प्रसुप्तं नाम यत् किञ्चित् ज्योतिस्तेऽन्त-र्विराजते
प्रदीप्त रक्ष तन्नित्यम् स्वयं लोकः प्रदीप्यताम् ॥१२॥

ध्रुव कर्तुं समर्थोऽहं सर्व सर्वत्र सर्वदा
सुरक्ष्योऽयं स्वसंकल्पो व्यक्तिभिः सन्ततं दृढ ॥१३॥

स्थिरमतिशक्ति

असिद्धेऽपि मुहुः साध्ये मति र्यस्य न कम्पिता
साध्यं तस्य हि तत् सिध्येत् परस्मिन्नह्नि नाद्य चेत् ॥१४॥

अमुक्त-धैर्या दृढनिश्चयाच्च
ध्रुवं स्वसाध्ये जयिनो भवन्ति ।
उत्साह – सङ्कल्प – बलान्वितानाम्
स्वयं सहाया प्रकृतिः स्वभावात् ॥१५॥

ज्ञात न यावद् भवतीह किञ्चित्
विभाति तावत् सकलं विशालम् ।
ज्ञातञ्च सर्वं भवति क्षणेन
आब्रह्म हस्तामलकं जनानाम् ॥१६॥

व्यक्तित्वम् (आत्मगौरवम्)

येन सर्वे प्रसीदेयु – र्येन सर्वश्च भासताम्
व्यक्तित्वं तादृशं रक्ष्यं चन्द्रसूर्य – समं जनैः ॥१७॥

व्यक्तित्वं यस्य हि क्षीणं क्षीणं तस्यात्मगौरवम्
व्यक्तित्व स्वप्रभावेण स्वय सर्वत्र भासते ॥१८॥

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु· सर्वमन्यत् परं स्मृतम्
रक्षात्मानम्प्रबुद्धं तद् व्यक्तित्वञ्चेदभीप्ससे ॥१९॥

विधेहि व्यापकञ्चैनम् तथा सर्वहिते रतम्
यथा त्वय्येव पश्येयु सर्वे स्वात्मानमाहृतम् ॥२०॥

यश्चिन्तयति यो वेत्ति चेष्टते यश्च सन्ततम्
विभु सोऽयम्प्रभुर्नित्यं सर्वेषामात्मनि स्थित. ॥२१॥

अहम्मानपरिहार·

व्यक्तित्वे नह्यहंकारो विनीते तत्प्रकाशते
अह – गर्वं परित्याज्यो व्यक्तित्वाकाक्षिभि हि तत् ॥२२॥

प्रभुणा निहितं लोके वैशिष्ट्य यत् कणे कणे
अहम्मानेन धीमद्भि – र्न हेय तस्य दर्शनम् ॥२३॥

अज्ञा नैव तिरस्कार्या विज्ञैस्तद् ज्ञानगर्वितै·
गुप्त यत्तेपु वैशिष्ट्यं ज्ञेय तत् सुक्ष्मदर्शिभि· ॥२४॥

विद्वास सशयात्मानो प्राकृता दृढनिश्चया
मतमेकं हि मूर्खाणा विदुषाञ्च सहस्रश ॥२५॥

प्रकृत्या प्राकृता. शुद्धा सत्याचार – परायणा.
वञ्चकै र्भ्रम्यमाणास्ते रक्ष्या सद्भि प्रयत्नत· ॥२६॥

यस्तु स्वभावो नियतो हि यस्य
तेषा स कश्चित् सहजो हि धर्मः
तम्पालयन् नैष कदापि निन्द्य·
तम. प्रकाशं न कदापि सूते ॥२७॥

अनित्या लोकवृत्ति.

कथङ्कारमहो कश्चित् लोकमाराधयेदिमम्
चलस्यास्य चला वृत्ति रुचिश्चास्य पृथक् पृथक् ॥२८॥

स्तवनं निन्दनञ्चैव लोकाना सहजो गुण·
स्तूयते निन्द्यते किं तै रेतन्नाद्यापि निश्चितम् ॥२९॥

स्पष्ट वद सदा स्पष्टं सत्य निर्भीक चेतसा
श्रूयते नाद्य येनैतत् तेन श्व· श्रोष्यते ध्रुवम् ॥३०॥

को जानाति कदा किं किं श्रूयते चेह दृश्यते
जीवनं रचितं धात्रा श्रोतु द्रष्टुं नवं नवम् ॥३१॥

यस्मिन् क्षणे तु यद् दृष्टम् प्रमाणं तद्धि तत्क्षणे
परक्षणेऽनुभूताना नानुभूतिस्तथा पुन· ॥३२॥

किमेभि· कथ्यते किन्तै· कथ्येत इति शङ्किता·
वेपन्ते कातरा नित्यं साहसी लभते श्रियम् ॥३३॥

कथं गदेयं नहि सत्यमेतत्
सत्य तदेवेति मृषैव तद् वा ।
उदारभावेन विलोक्यमाने
स्वस्वक्षणे सत्यमिहास्ति सर्वम् ॥३४॥

"एवम् कृत तैरिदमद्य विज्ञै·"
"समर्थ्यते तैरिदमेव चाद्य" ।
प्रमाणभूतं न तदस्ति सर्वम्
लोकस्य काचित् नियता न वृत्ति ॥३५॥

जाते विरुद्धे सकलेऽपि लोके
जहाति मार्गं न निज मनस्वी ।
सत्य न जेतुं क्षमते हि कश्चित्
बलस्य काचित् न च तस्य सीमा ॥३६॥

कर्म महिमा

कर्मक्षेत्रे विशालेऽस्मिन्नखिलं कर्मसम्भवम्
तस्मात् कर्मैव ससाध्य कर्मयोगाश्रितै जनै ॥३७॥

मा वादी वंचन दीनं "कर्तुं मेतन्न शक्यते"
त्वंहि धाता विधाताच शक्य कर्तुं न किन्त्वया ॥३८॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भो मित्र शङ्का त्यज भयं तथा
अकम्पिते हि सङ्कल्पे लभ्य लोके न किं त्वया ॥३९॥

भाग्ये यल्लिखितं तत् स्यात् न जाने किं कदा सखे !
शक्यते यत् त्वया कर्त्तुम् कुरु त्वं तद्धि साम्प्रतम् ।।४०।।

चिन्तितं साधयेद् धीमान् उद्यमैः कार्यं साधकैः
यद् भावि तद् भवत्येव तत्र चिन्ता नु कीदृशी ।।४१।।

अव्यग्रेण सदा स्थेयम् चिन्त्य साध्यं पुनः पुनः
सुनिश्चितेऽपि कर्त्तव्ये दैर्घ्यं दुर्मति लक्षणम् ।।४२।।

निरुद्यम कोऽपि वसेत् क्षण न
न चापि सर्वत्र भवेत् त्वरावान् ।
नान्तो हि लोके यदि कर्मणा नः
कालेऽपि कालस्य न कश्चनान्तः ।।४३।।

कालस्यकालो न दिशादिशावा केनापिदृष्टा न पुनर्निरीक्ष्या
सदा चले किन्तु जगत्प्रवाहे लक्ष्यं चलन्नेव समभ्युपैति ।।४४।।

मन्ये न किंचित् जगतीह नित्यम्
क्षणं विभासेत च कीर्ति–कान्तिः ।
अस्त्येव तत् किन्तु यदस्ति हस्ते
तदेव साध्यं विधिना बुधेन ।।४५।।

प्रतिक्षण कालमुखे विशद्भिः सद्यो विधेयं भुवि यद् विधेयम्
गतस्य कालस्य कला व्यतीता पुन. कदाचिन्न वशीकृता. स्यु ।।४६।।

सद्गृहजीवनम्

गृह तदेतद भवतीह धन्यम्
धन्याश्च धर्मा खलु तस्य सर्वे ।
यत्र स्वरैक्य सङ्गी प्रवृत्ति
सहायका यत्र मिथश्च सर्वे ।।४७।।

विहाय धर्मं गृहमेधिना न क्व ऐक्यभाव· स परत्र लभ्यः
एकस्य दु.खेन हि दु खमग्ना सुखेन सर्वे सुखिनश्च यस्मिन् ।।४८।।

गृहस्थ – धर्मेण समश्च धर्मो
नान्योहि कश्चिद् भुवि मानवानाम् ।

मूलं स मुक्तेरथ सर्वमुक्तेः
सर्गस्य सर्वस्य च सारसन्धिः ॥४६॥

नैकेन केनापि जनेन गुर्वी शक्या हि वोढुं गृहभारगन्त्री
सहायका यत्र मिथश्च सर्वे वहेत् स्वतस्तत्र सुखेन सापि ॥५०॥

सन्तान सम्पत्ति रमूल्यरत्नम्
सुसन्तति र्लोकहिताय लोके ।
सामाजिकीयं महती ह्यपेक्षा
यत्नेन रक्ष्या ऽथ सुशिक्षणीया ॥५१॥

राष्ट्रजीवनम्

बुद्धिर्यस्मिन् बल यस्मिन् यस्मिन् कोषस्य सद्व्यय·
राष्ट्रं तत्सर्वसम्पन्नम् भवेद् राष्ट्रशिरोमणि ॥५२॥

गुप्तं मन्त्रबलं यस्मिन् यस्मिन् चारा विचक्षणा·
जनबन्धुस्तथा शास्ता राष्ट्रं तन्नावसीदति ॥५३॥

राष्ट्रे यस्मिन् कलिर्दम्भ. स्वार्थबुद्धिश्च जृम्भते
विश्वासो न मिथः कश्चित् पतन तस्य निश्चितम् ॥५४॥

यस्मिन् दानं नहि त्याग न वा योग. स्वकर्मसु
भोगलिप्सा–समाक्रान्ते राष्ट्रे तस्मिन् कुतो गति ॥५५॥

लोकसेवा विधातव्या राष्ट्रसेवानुवर्तिभि
समष्टे. सेवनाद् व्यष्टि· स्वय लोके निषेव्यते ॥५६॥

श्रेणीमोह परित्याज्यो रक्ष्यं सत्यञ्च सर्वश.
नैवैकस्मिन् दले सर्वे भवन्तीह महाशया ॥५७॥

हहो धूर्ता परित्यज्य व्याजसेवां बकव्रताम्
विधेया कापि सा सेवा यया सर्वोदयो भवेत् ॥५८॥

यदा यदा भ्रातृविरोध – वृद्धि
तदा तदा भारतयुद्ध – मेति ।
सद्भ्रातृभावे च विवर्धमाने
रामायणीयो विजय. स्वय स्यात् ॥५६॥

स्वार्थशोधनम्

न्यूनान्न्यूनं सदा रक्ष्या भावनेयं दृढा हृदि ।
"सिद्धे भवति मत्कार्ये सिद्धं तस्यापि तद् भवेत्" ॥६०॥

लोकान् प्रतार्याथ विमुष्य तेषाम्
धनं भविष्यामि सुखोपभोगी ।
स्वप्नेऽपि मा चिन्तय चित्त एवम्
सुखी न कश्चित् परभागहारी ॥६१॥
स्वार्थैक सिद्धौ निरते हि चित्ते
सर्वेऽपि दोषा स्वयमुद्भवन्ति ।
परार्थरोधः कुपितश्च कश्चित्
स्वार्थं समूलं वहुधा विहन्यात् ॥६२॥

रे रे मानव सावधान–मनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्
स्वार्थं साधयितुं परार्थहनने मातत्परो भू. क्वचित् ।
स्वार्थ. सिध्यतु वा न ते न नियतं ह्येतत्तु किन्चित् क्वचित्
लोक किन्तु यतोह्यशान्ति–पतित स्तस्यैव सेयं कृपा ॥६३॥

धन्यं स्त्रीजीवनम्

अहो धन्यं स्त्रिया जन्म स्नेहोत्सर्गदयामयम्
तितिक्षा – व्रत – सम्पन्नं नित्य सेवा – परायणम् ॥६४॥

रक्षकं कुलधर्माणा सर्वेषाम् पालने रतम्
तत्तद् – यज्ञ – तपो – दान – प्रभुभक्ति – समुज्ज्वलम् ॥६५॥

यौवन न सदा स्थायि रक्ष्यं रूपं हि सात्त्विकम्
भाव्यं स्त्रीभि विशालाभि पूर्णाभि र्मातृगौरवै ॥६६॥

ईर्ष्या कलह दम्भानाम् अहङ्कारस्य यत्स्थलम्
तन्नित्य सर्वं दुःखानाम् मूल हन्त भवेद् भवे ॥६७॥

जीवनगतिः

शिक्षाया रीतयो नाना प्रकृतेः शिक्षणालये
समेति सम्मुखं यद्यत् शिक्षा ग्राह्या ततस्ततः ॥६८॥

प्राप्यं न किंचिदेकान्त क्वचिज्जीवनवर्त्मनि
साम्यवैषम्ययो र्योगे नित्य तल्लभते गतिम् ॥६९॥

कालस्य गतयो भिन्ना भिन्ना सन्ति स्वभावत
अनन्त जीवनं येषाम् सर्वं तैरनुभूयते ॥७०॥

दु खच्चेत्सौख्यमप्यस्मिन् जीवने सुलभं न किम्
सुखे दु खे समा रक्ष्या धीरै र्धीरा मतिस्ततः ॥७१॥

तीव्रे शोक – समुद्वेगे शून्यं सर्वं विलोक्यते
भावी किन्तु पटाक्षेप. तस्मिन् दृश्येऽपि नूतन ॥७२॥

दु.खञ्चेदागतं किञ्चित् स्थाता तन्न् कियच्चिरम्
क्षणिकेऽस्मिन् भवे किं तत् शाश्वत यत्तु तिष्ठति ॥७३॥

जीवने द्वन्द्व सम्पूर्णे सौख्येनैकेन मोदताम्
युगपन्नैव लभ्यन्ते तानि सर्वाणि संसृतौ ॥७४॥

भवजीवन सरणिः

स्वस्थे हि देहे हृदयम्प्रसन्नम्
बुद्धि प्रसन्ना च सुखी सदात्मा ।
लोकस्थिती रम्यतमा विभाति
स्वास्थ्यस्य रक्षा प्रथम विधेया ॥७५॥

क्षणं किञ्चिदिह ज्ञेय क्षणं किञ्चिच्च खेलनम्
क्षणं हासो विकासश्च क्षणोऽन्यस्मिंस्तथा लयः ॥७६॥

प्रेम्णा किन्तु क्षणा सर्वे संजायन्ते सुधामया
पश्य सर्वं जगत् प्रेम्णा प्रेम्णा सर्वैश्च सद्वदे ॥७७॥

महान् जगत्यां जठरानुयोगो
यस्योत्तरं नित्यमहो प्रदेयम्
ज्वाला न शान्ता जठरेषु यावत्
तावन्न काचित् सुलभेह शान्तिः ॥७८॥

तृप्यन्ति निखिला देवाः सन्तृप्ते जठरानले
षड् रसैरेव सतृप्ते रसाः सर्वे सुखावहाः ॥७९॥

पूर्णा स्वसंसृतिः कार्या हृष्टा पुष्टा रसान्विता
स्वयं शुष्का परेषां तां कथं सा पोषयिष्यति ॥८०॥

यद्यहं नास्मि संसारे सोऽपि नास्त्येव मन्मतौ
यत्राहं तत्र संसार क्व संसारो मया विना ॥८१॥

क्वचिद् विस्मृतिगर्तेऽस्मिन् मयि लीनेऽपि दुस्तरे
नूनं स्थास्यति ससारो न मे किन्तु परस्य स ॥८२॥

मया दृष्टं भवे यद्यद् अनुभूतञ्च यद्यथा
मय्येव तस्य सन्स्थानम् सर्वेषा संसृतिः पृथक् ॥८३॥

अनार्थितावृत्ति

अर्थम्विना सर्वमनर्थ – शीलम्
सर्वैरुपार्ज्यः प्रथमं स तस्मात् ।
दुःसाधनै – रेप न किन्तु काम्य.
धर्मं विनार्थो न धन विषं तत् ॥८४॥

अर्थाश्रिता चापि गति जगत्याम्
जनै विधेया न तथा प्रधाना ।
अस्या. पृथक् काचन नैति चिन्ता
पृथक् न काचित् सरणी च लक्ष्या ॥८५॥

धनेन हीनो नहि कोऽपि हीनः
बलेन हीनो नहि वा विहीन. ।
मानेन हीनो नर एव हीनो
निजात्मदीन सततं कृशो य. ॥८६॥

प्रचण्ड – मार्तण्ड – कराभिदग्धः
छाया समाश्रित्य विहीनपर्णाम् ।
सुष्येद्यथा प्राणधरो हि कश्चित्
तुष्येत्तथा स्वल्पमपीह लब्ध्वा ॥८७॥

अनाश्रिता वृत्तिरिहाप्यते चेत्
किमिष्यतां तत्परतोहि लोके ।
परस्य हुङ्कारभयैं विदीर्णा
न जीविता नापि मृता भवेम ॥८८॥

मृतो मृतो नैव कदापि कश्चित्
जीवन्मृत. किन्तु मृतः सदैव ।
मृत· पुनर्जीवति जीवलोले
जीवन्मृतो जीवतु किन्तु कस्मात् ॥८९॥

शठेशाठ्यं समाचरेत्

शठे शाठ्यं हि सन्नीति शठे शाठ्यं समाचरेत्
शठे शाठ्य न य. कुर्यात् स ज्ञेय. शठपोषक· ॥९०॥

अक्षम्येऽपि क्षमा पापं क्षम्य एव क्षमा क्षमा
तत्रादण्ड्योऽपि दण्ड्य· स्यात् यत्र दण्ड्यो न दण्ड्यते ॥९१॥

विशाले मानस – क्षेत्रे द्योतमाना स्वभावत·
मातृरूपा क्षमाशक्ति निर्दयेषु न लक्ष्यते ॥९२॥

परार्थनाशाय मते प्रसारे
पैशुन्यवृत्तौ परगर्हणे च ।
खलं न कश्चित् प्रभवेद् विजेतुम्
प्रतारणे भावनिगूहने च ॥९३॥

ब्रूते न नीचोऽहमिदं हि नीचो—
न नीचता किन्तु तिरोहिता स्यात्
गुप्तापि सा विस्फुटतीह काले
व्रणे यथा पूयमयो विकार ॥९४॥

रे दम्भिन् किमु लोकवञ्चनरतो भ्रान्तान् विधत्से जनान्
दम्भस्य स्थिरता क्षणाय सततं सत्यस्थितिः शाश्वती ।
सत्या लोकहिताय चेत्तव रतिः कीर्तिम्परां प्राप्नुया
नोचेत् निश्चितमेव तेऽपि पतनं पापस्य पातो ध्रुवः ॥९५॥

कृतार्थता

परार्थसिद्धौ निजकार्यसिद्धि
मुखे परेषां निजसौख्यवृद्धिः ।
इष्येत येनापि जनेन लोके
नित्यं भवेन्नूनमसौ कृतार्थः ॥९६॥

एतन्मदीयं नहि तत् त्वदीयम्
एषैव माया विबुधैरभाणि ।
तद्युष्मदस्मद – भ्रमरान् निवार्य
पारे सुखं याहि सखे भवाब्धेः ॥९७॥

स्वार्थाय तत् तच्च परार्थहेतो—
मिथ्यैव भावो बत कोऽपि तेऽयम् ।
विनिर्मितं सर्वं – विधायकेन
स्रष्ट्रा यतः सर्वजनाय सर्वम् ॥९८॥

स्वार्थेन पूर्णे मनुजेऽपि नित्यं
न स्वार्थमात्रैव निरीक्षणीया ।
तस्मिन् प्रसुप्ताः करुणाप्रवाहा
अपि प्रयत्नेन विभावनीयाः ॥९९॥

कस्यापि जन्तोः यदि दीनहीनाम्
दशां विलोक्यापि दयादरिद्रः ।
द्रुतं द्रुतश्चेन्न तवान्तरात्मा
मनुष्यरूपं विजहीहि सद्यः ॥१००॥

कृत्यञ्चेत् कृतमत्र किञ्चिन सखे तेनैव मा भूः कृती
सिद्धं यत्खलु तत्सदा परिमितं साध्यस्य नान्तः क्वचित् ।

नित्यं किञ्चन पावनं कुरु ततो नित्य नव चिन्तयेः
याञ्चे य जगतोऽतिदीर्घ–पथगा–नैष्कर्म्यमस्या त्यजे ॥१०१॥

दास्याम्येव ददामि चैव वचने वाचा जयः शाश्वत.
तस्माद्देहि सदैव मग्नमनसा यच्चापि देय भवेत् ।
भूदान समयस्य दानमथवा विद्याप्रदानम्परम्
एका वा दृशमेव काञ्चन शुभा सद्भावरम्याम् प्रियाम् ॥१०२॥

व्यर्थं किमर्थं विकलेन भाव्यम्

येनैव सृष्टाऽनुपमा स्वसृष्टि.
स्वय स तस्या. कुरुते सुरक्षाम्
स्वाभाविकीय खलु तस्य वृत्ति
व्यर्थ किमर्थ विकलेन भाव्यम् ॥१०३॥

लोकशिक्षा

रागद्वेषौ समुद्भूतौ नियम्यौ तत्क्षणं जनैः
शनैः शनैः प्रवृद्धौ तौ भवेता भीषणौ पुन ॥१०४॥

हे मित्र नित्य चल सावधानम्
क्षणं न लोक सहते प्रमादम्
शान्तेन चित्तेन विचिन्त्य तस्मात्
शनैः शनैरात्मपदं निधेयम् ॥१०५॥

विचिन्त्यते यत् क्रियते न तच्चेत्
न तेन सिद्धि र्भवितेह काचित् ।
किञ्चित् करोत्येव जनश्च कुर्वन्
निधेहि तस्मात् स्वमनः क्रियायाम् ॥१०६॥

वचो विचार्यैव सदाभिधेयं विना विवेकम् नहि तत् प्रयोज्यम्
तस्य प्रयोगे निपुण' प्रवीण–स्तदाकुलश्चाकुल एव लोके ॥१०७॥

अभीप्ससे चेन्नियत सुखं त्वं तथा प्रयत्न' सततं विधेय
स्वतः प्रसन्न हृदयं यथा स्यात् यथा च बुद्धि स्वयमेव शुध्येन् ॥१०८॥

रत्न हि यद् भवति तस्य न चेत् सुमूल्यम्
लोकैर्हि बुद्धमिह मोह परैः कथञ्चित् ।
कल्पे गतेऽपि नियत भविता प्रदीप्तम्
तस्याभिभूतिरपि चेह भवेद् विशुद्धयै ॥१०९॥

साफल्ये यदि मोदसे विफलतावाप्तौ कुत' खिद्यसि
सिद्धे द्वे विधिनिर्मिते भगवती ससिद्धयसिद्धयात्मिके ।
साफल्येऽपि पराभवः परमहो गुप्त क्वचित् सुस्थिते
वैफल्ये च तथैव कश्चन जयो विज्ञै. स्मृतौ तौ समौ ॥११०॥

मानवजीवनवैचित्र्यम्

अहो विचित्रा मनुजस्य वृत्तिः
क्षणे विशाला कृपणा क्षणेन ।
ब्रह्मस्वरूपा प्रथम – क्षणे चेत्
कीटेन हीनापि परक्षणे सा ॥१११॥

क्षणैर्मितं जीवनमस्ति सर्वम्
मिति नै काचिच्च भवे कृतीनाम् ।
किमत्र चित्रं जगति प्रकृत्या
तृष्णावतारो यदि मानव स्यात् ॥११२॥

कामं स्वदेह विनिपातयेद्य
कारुण्यपूर्णः पररक्षणाय ।
स्वार्थाय सर्वान् विनिहन्तुमिच्छुः
स एव सद्यो भवतीति चित्रम् ॥११३॥

कि कि न दु खं न जनो जनेभ्यो
दत्ते न लोके स्वसुखाय हन्त ।
अद्यापि दृष्टो नहि किन्तु कश्चित्
पूर्णेन सौख्येन भुवि प्रपूर्णः ॥११४॥

अहिंसनं मानवधर्मसार
हिंसापि किन्तु प्रकृतावपेक्ष्या ।

कच्चित्तयैवेह भवत्यहिंसा
कालानुकूलो मनुजस्य धर्मः ॥११५॥
सर्वोऽपि लोको नरकेन्द्रवर्ती
न तस्य सत्ता पृथगस्ति तस्मात् ।
तथापि तथ्यापि विमर्श मूढो
निजात्महत्या – निरतो जनोऽसौ ॥११६॥
क्षमोऽत्र क''कश्चन शिक्षितुं किम्
पूर्णोऽहं नैजा ननु कस्य शिक्षा ?
अहम्मति किन्तु जन विचित्रा
विज्ञ परस्माद् बहुधा विधत्ते ॥११७॥
अहो व्यतीतो नु कियान्न काल
प्रशिक्ष्यमाणस्य जनस्य लोके ।
भ्रमन्सदा भ्रान्तमति जगत्याम्
अद्यापि किं किन्तु स वेत्ति सत्यम् ॥११८॥
प्राचीनतायाञ्च नवीनतायाम्
भेदो न कश्चित्परमार्थतोऽस्ति ।
तथापि नित्यम् मनुजस्य दृष्टि.
विगाहते नव्यमियं स्वभावात् ॥११९॥

विश्वबन्धुत्वम्

नायं जन. स्वदेशस्य सजातीयस्च नैप मे
अज्ञाना भावना ह्येषा वय विश्वस्य बान्धवा ॥१२०॥
न को देश स्वदेशो न बान्धवा न च के भवे
मर्त्या एव वय सर्वे मातास्माकञ्च भूरियम् ॥१२१॥
अपर मन्यसे यं त्वं न पर स पर सखा
प्रेमार्द्रा यदि दृष्टिस्ते सर्वम् प्रेममय जगत् ॥१२२॥
सौख्ये सर्वस्य न सौख्यम् हिते लोकस्य नो हितम्
प्रिया प्राणा हि सर्वेपाम् सर्वेऽपि प्राणिनो वयम् ॥१२३॥

परेषाम् पालन यस्मात् चित्ते यस्माच्च सान्त्वना
धर्म. स एव सद्धर्मः प्रभुर्येन प्रसीदति ॥१२४॥
विश्वदृष्ट्यैव विश्वात्मा विश्वं पुष्णाति सन्ततम्
दृष्टि क्षुद्रा ततो हेया विधेया विश्वरूपिणी ॥१२५॥
अभेदे भेद बुद्धि. किम् ज्ञान दैन्येन तन्यते
सम्वदध्वं सदा सर्वे सङ्गच्छध्वञ्च सर्वश ॥१२६॥

व्यापिनी दृष्टि·

विश्वरूपा वयं सर्वे नित्यं विश्वहितैषिण·
भेदका भेदबुद्धीना सर्वसंकोचशत्रव ॥१२७॥
त्रैकालिकार्थवेत्तार· स्वभावादार्षदृष्टय.
किमद्य विस्मृतात्मानः क्षणं वयमुपास्महे ॥१२८॥
क्षणिकं वत काव्यं तत् क्षणमुत्तेजकं हि यत्
उपास्या शाश्वतीधारा स्थिता यत्र क्षणा स्वयम् ॥१२९॥
हेयम्पुराणं नवमेव सेव्य न श्रेयसे बुद्धिरियं विभक्ता
लोके कवीनां हृदि वर्तमान सर्व नवं सर्वमथेह जीर्णम् ॥१३०॥
युगानुकूला कवितेह काचित् काचिच्च तस्मात्परतोऽपि पश्येत्
द्वयोर्हित यत्र तदेव काव्यं सत्यं शिवं सुन्दरमातनोति ॥१३१॥
कविना गीयते गीत चकितेन क्वचित् स्वत
क्वचित् कर्त्तव्य–बुद्ध्या वा विश्वकल्याण–कारिणा ॥१३२॥
तदेव काव्यमुत्कृष्टं साम्प्रतं मन्यते बुधै
सर्वेषा हि हितं येन प्रेरक यच्च जीवने ॥१३३॥
शब्दार्णवे वय मग्ना. केचिद् वैचित्र्य – चित्रणे
जीवन विस्मृत सर्वे गेय जीवन जीवनम् ॥१३४॥

लोक संग्रहः

लोककाव्यं समुद्भेद्य कर्तव्यो लोक संग्रह
प्रभावो व्यापकस्तस्य स्पष्टोक्तिस्तत्र भूषणम् ॥१३५॥

लोकदुःखेन विक्लान्त कवि कश्चिद् भवेद्यदि
तस्यानुभूति – विस्फोटं धारयेत्को धरातले ॥१३६॥

कवीनामेव काव्येषु शब्दो ब्रह्मत्वमाप्नुते
तत एव नवा सृष्टि सृज्यते च विदाम्वरै ॥१३७॥

आकाशः कम्पते सर्वो धरा सर्वा प्रकम्पते
परस्मिन्नपि कम्प स्यात् कवेश्चेतसि कम्पिते ॥१३८॥

एष पौण्ड्रो महाशंख. पाञ्चजन्यस्तथैव हि
नातः परतरं किञ्चित् लोकेऽस्मिन् शक्ति–साधनम् ॥१३९॥

घोषोऽसौ शंखनादस्य श्रूयते पूर्वसूरिपु
भूय स एव संघोष्यो लोकोऽयं बधिरो महान् ॥१४०॥

के वयं सम्मुखे तेषां नैवं चिन्त्य कदाचन
अक्षुण्णावात्मन. शक्तिस्तेषाञ्चैवात्मजा वयम् ॥१४१॥

व्यासो हि सत्य भगवत्स्वरूपो
नैतेन नव्यः परमस्त्युपेक्ष्य ।
कश्चिद् विधि नैप विधे विधाने
व्यासादयो नैव पुनर्भवेयु ॥१४२॥

लोकगतिः

लोकेन शिक्षा न कदापि काचित्
प्राप्ता पुरा नाप्यधुनापिधिगच्छेत्
लोकस्वभावः स्थिर एव नित्यम्
न तस्य वृत्ति. परिवृत्तिमेति ॥१४३॥

न कानि युद्धानि बभूवुरस्मिन्
युगानि लीनानि नवेह कानि ।
तथापि लोके परिवर्तित किं
तथैव युद्धं प्रलयस्तथैव ॥१४४॥

असख्यलोका अथ यत्र नित्यं
भवन्ति नश्यन्ति च बुद्बुदाभा. ।
को नाम तस्मिन् गणयेन्नु तत्त्वात्
यदीह किञ्चिद् विलयम् प्रयाति ॥१४५॥

निर्जीववस्तु प्रतिचित्रमस्मिन्
सजीववद्भ्रान्तिवशाद् – विभाति ।
न कोऽपि जातो न च कोऽपि नष्टः
यद् दृश्यते पश्य तदेव जोषम् ॥१४६॥

सेवा च तस्यैव कुरुष्व नित्य
यतस्व वेत्तुं ह्यथ तद्रहस्यम् ।
स्वप्नो यथार्थ. स्वयमेष तेस्यात्
फल च तत्त्वात् त्वमतो लभेथाः ॥१४७॥

नैराश्यविजयः

विकारमेष्यत्समवेक्ष्य चित्ते
स्थेय सतर्केरिह नित्यमेव ।
उपेक्षितञ्चेत् प्रथमक्षणे तत्
भवेत्सुसाध्यम् न पुन. सुखेन ॥१४८॥

हठेन चित्ते तमसाभिभूते
प्रसन्नतायाञ्च विलोपितायाम् ।
खिन्नै निरीक्ष्या प्रकृति विशाला
मुहुर्विकारै विकृतापि दृष्टा ॥१४९॥

विघ्ने समागच्छति दीन-चित्तैः
चिन्त्या न नित्यं निजहानिरेव ।
स जातु किञ्चनवमर्थसिद्धे
विलक्षणं बीजमहो प्रकृत्या. ॥१५०॥

विभेपि किं मित्र मुधैव मृत्यो.
कालम्विना कैप समीपमेति ।

प्रतिक्षण तस्य मुखे विगन्त.
के के न जीवन्ति रणाङ्गणेऽपि ॥१५१॥

को जानाति कदा नु कर्दमतलात् जायेत क पङ्कज ,
का वा दुर्दिनखिन्नमानसतलात् स्रोतस्विनी सस्फुरेत् ।
चित्रा सृष्टिनटी श्रयेत नितरा नानात्मिका भूमिकाम्
या यां यत्र दशा गत पिब सखे तत्रैव तस्या रसम् ॥१५२॥

नैराश्यं कुरुते मति तव सखे यस्मिन् क्षणे कुण्ठिताम्
आह्लादस्य गति निरुध्य च यदा गाढ तम सर्पति ।
रे नैराश्य पिशाच याहि परतो मत्पार्श्वत सत्वरम्
इत्येव सुसमाहितः स्थिरधिया तद्दूरतो निक्षिपे ॥१५३॥

प्रभुर्नोऽवलम्ब.

कृते यत्नेऽपि नैराश्य मोहयत्येव चेन्मतिम्
आशाया.स्रोतसे तस्मै सर्वमव्याजमर्प्यताम् ॥१५४॥

क्षुब्धे भवाब्धौ सततं स एक
सरक्षक. सर्वसहायकश्च ।
तस्मात्पर कोऽपि न कर्णधारो
नचापि कश्चित् सुदृढश्च पोत· ॥१५५॥

मर्त्यैर्यथा यद् घटते जगत्याम्
दृष्टेऽपि मौनं विवशं तथा तत् ।
सदैव रक्ष्य सुदृढोऽवलम्ब.
सर्वाश्रयाणाम् परमाश्रयस्य ॥१५६॥

कि यासि बन्धो नतमस्तकस्त्वम्
चिन्ताभिभूतो विकलेन्द्रियश्च ।
ससारसिन्धौ तरणि विहारी
स्वयं क्वचिन्नेष्यति रम्यतीरम् ॥१५७॥

तदीयनाम्नि स्मृतिमेव याते
स्वतो न जाने कुत एति शान्तिः ।

प्रयाति भीतिः प्रपलाय्य सर्वा
विभाति भव्या परितश्च सृष्टिः ॥१५८॥

रे चित्त किं भ्रमसि चञ्चल तेषुतेषु
नानाविधेषु विषयेषु मृषैव नित्यम् ।
एकेन तेन कुरुषे नहिं किं रतिं ते
यत्प्राप्य नव्य मपरं किमपीह नाप्यम् ॥१५९॥

आत्मनिवेदनम्

एकश्चापि पदश्चेन्मे सम्विशेत् हृदि कस्यचित्
कृतार्थं तद्भवेन्नूनम् चित्तो सर्वम् प्रतिष्ठितम् ॥१६०॥

अधीत्य यत्तच्च निशम्य लोकात्
स्वयञ्च तत्तत्सुविचिन्त्य किञ्चित् ।
निवेदितं यत् किमपीह विज्ञाः
तदेव कार्यं कृतिभिः कृतार्थम् ॥१६१॥

नैराश्याक्रान्तचित्ते भवजलधि–परिभ्रान्तपोत–प्रतीके
मर्त्ये नित्य नवाशा–नवबल नियत–स्वात्मसामर्थ्यभर्त्री ।
लब्धा देव्याः प्रसादात् चरणकमलयोरर्पिता मातृदेव्या
लोकाना सत्ववृद्ध्यै भवतु कृतिरियं कापि विद्याधरस्य ॥१६२॥

इति श्री विद्यावाचस्पति श्री देवीप्रसादतनय—
विद्याधर शास्त्रि विरचितं विद्याधर–
नीति रत्नम्परिपूर्णम्
॥ इतिशम् ॥



अथ वैचित्र्य-लहरी

यस्मान्नास्ति परं विबोद्धुमपरं यत्र स्थिति शाश्वती
यत्राशा लभतेऽन्तिमाश्रयपदं नैराश्यनक्रं – धृंता ।
यं ध्यात्वा भवसागरभ्रमरतः प्राणी पुनः सन्तरेत्
पायान्न. परमः पिता स सततं कल्याणमूर्ति. पर. ॥१॥

यत्तान्त्री सततं तरङ्गित–गति–र्गीतं हि तत्तन्नवम्
तां तां चाभिनवा विचार–लहरी रम्या समुद्भावयेत् ।
साम्ब, त्वं मम मानसादपि नवा हृद्या जगन्मोहिनीम्
नृत्यन्ती सरसा तव प्रियतमा काचित् स्रवेन्निर्झरीम् ॥२॥

सद्–ज्ञानामृतपायिनी रससरित् सद्भाव –कल्लोलिनी
नित्यं नव्य–विलासिनी नवनवोल्लासस्य सम्पादिनी ।
नाना शास्त्र–विचक्षणा प्रतिपलं वीणास्वरामोदिनी
लोकेऽस्मिन् सततं भवेद् विजयिनी सर्वात्म विद्योतिनी ॥३॥

कस्मात् कारणत पुनर्हि वलवद् वैरस्यमेतद् भवे
प्रायोऽस्मान्निखिलान् कुतश्चन हठादागत्य संबाधते ।
कालेऽस्मिन् तव शाश्वती–मधुमती मौन कथ त्वाश्रयेत् ?
औदासीन्यमिद कुतश्च जननि त्वय्याविशेत् तत्क्षणे ॥४॥

विश्वेश परमेश्वरो हृदि हृदि क्वास्ते नहि व्यापक
पश्यामो हि वयं हरौ हरे च यदि तं कृष्णेऽथ लीलारते ।
जैनाश्चापि जिने निज प्रभुवरं बौद्धाश्च बुद्धे पुन
अल्लाया च मुहम्मदा सुनियत पश्यन्ति त व्यापकम् ॥५॥

येऽन्ये नास्तिक–दर्शने च निरता स्तेचापि कश्चिन्नवम्
निर्माय स्वमनोऽनुकूल–गुणवत्–सर्वेश्वर ह्यात्मन ।
किं तस्यैव न शिक्षणं बहुमतं श्रेष्ठ न वा मन्वते
भेदे सत्यपि तत् तदाकृतिगते भेदो न कश्चित् प्रभो ॥६॥

भक्तोऽहं नहि नापि वेद्मि विधिना स्तोतुम्प्रभो ! त्वाम्पुनः
सम्प्राप्तुं खलु ते कृपा किमपरं लोके विधेयं मया ।
जाने नैव च कर्मयोगमथवा ध्यानस्य वा प्रक्रियाम्
जाने किन्तु सुनिश्चित न जगति त्वत्तः परो रक्षक ॥७॥

अज्ञेया प्रकृते गंति हि निखिला नित्यं चलायाश्चला-
रूपं कि किमहो नवं प्रतिपलं नेय बिभर्ति क्षणे ।
लीलेयं जगदीश्वरस्य परमा माया हि कैश्चित् पुनः
सत्यैव स्वगताविय च निखिला वैज्ञानिकै मंन्यते ॥८॥

माहात्म्यं खलु ते प्रभो निगदितु क्षुद्रोजन. क. क्षम
कै कै नैव सदैव तत् प्रतियुग ज्ञातु नु यत्न. कृत. ?
सर्वे तत्र तथैव किन्तु सुधियो बभ्रम्यमाणाः स्थिता
नाहम्प्राप्तमत. कदाचन यते हास्यास्पदा ता गतिम् ॥९॥

मन्ये सन्ति भवे प्रभो, तव कृपा यैः प्राप्यते सत्वरम्
संसारेऽपि न सन्ति ते विचलिता भक्तौ स्थिराश्चाथ ते ।
मूढोऽह चपला च चित्तलहरी लक्ष्य न किञ्चिद् ध्रुवम्
कि कुर्यामिति नैव वेद्मि कृपया कश्चित् प्रकाश कुरु ॥१०॥

वैचित्र्य किमत. पर परमहो नित्येऽप्यनित्या स्थितिः
सर्वाचाप्यथ भासते क्षणमिय नित्या परं दृश्यते ।
शान्ति र्यत्र च राजतेऽनवरतं तत्रैव सर्व भ्रमद्
भ्रान्त जीवमिम करोति विकल केय स्थितिस्ते प्रभो ॥११॥

मर्त्योऽसौ प्रकृतिश्च नैव कुहचित् श्रान्तिं लभेते क्षणम्
नित्य काऽप्यभिनीयते ह्यभिनवा याम्या भवे नाटिका ।
नैका काचन तत्र दृश्य – सरणि, नैकश्च कश्चिद्रसः
यद्यत्सम्मुखमेति तत्तदलिभि – मनि 'ह्यत – पीयताम् ॥१२॥

दृष्ट्वा किन्तु गतिं मनुसुतै – रासेविता साम्प्रतम्
आमोदो भुवि तिष्ठतु कोऽपि नहिवा प्रश्न समुद्वेजक. ।
शान्ति काचन सुस्थिरा नहि भवे ज्ञानं न वा निश्चितम्
जात सर्वमहोऽधुना प्रतिपद सन्देह – दोलास्पदम् ॥१३॥

को जानाति युगै नु कतिभि – र्जाता वय मानवा ?
अस्मात्मानुप–जन्मनोऽथ कतमा योनि. पुन प्राप्यताम् ।
व्यर्थं यापय न क्षरणं न सुलभः कालोऽनुकूल. सदा
साफल्यं खलु कालिकं हि निखिलं काल सदा रक्ष तत् ।।१४।।

विश्वस्मिन्निखिलं हि विश्वपतिना ह्येकेन सृष्टं ध्रुवम्
तस्मिन्नेव च लीयतां पुन–रिदम् न ह्यत्र कश्चिद् भ्रम ।
एतत्पश्यति निश्चितं मममति – र्नाहं पृथक् तत् ततः
निर्भीकं हि कथं कुत. पुनरियं भीति हि मां बाधते ? ।।१५।।

केनेदं ननु बुध्यते प्रिय सखे किंस्यात् परस्मिन् क्षरगे
कार्यं यत्करणीयमद्य सुधिया कार्यं हि तत् सत्वरम् ।
हस्ते सम्प्रति यद् विहायसि पुन गंन्ता क तद् वेत्ति क.
तत्तल्लोक – विहारिरण. प्रतिपलं कालस्य गुप्ता गति ।।१६।।

सत्ये नास्ति भय क्वचिन्मतिमता मेषा ध्रुवा सम्मति
मिथ्याचापि यथा तथा विजयते लोके परम् प्रायशः ।
शान्तिः किन्तु न कापि तत्र मनसा सम्प्राप्यते सुस्थिरा
शान्ति. सत्यरतैव भाति नितरां सत्यं ह्यतः सेव्यताम् ।।१७।।

शुद्धा यस्य भवेद् विचार सरगि· कर्माणि शुद्धानि च
स्वस्थोऽसौ भवति स्वत प्रतिदिन निद्रा च तस्य स्थिरा ।
नेयं किन्तु सहेत दुर्मतिमहो कस्यापि लोके क्षणम्
तस्माद्रक्ष सदैव ते सुविमला बुद्धि ह्यपापा भवे ।।१८।।

वर्णो रम्यतरो न कश्चन भवे नाकर्षको वा स्वयम्
वृत्तिर्यस्य हि यादृशी तदनुगं सर्वंम्प्रियं स्यात् स्वत ।
ये ये चेह पुन विरुद्धगतिका – स्ते स्यु· स्वतो ह्यप्रियाः
विम्बी रक्ष सदा स्ववृत्तिमिह तत् या स्यात् समेषाम्प्रिया ।।१९।।

जानेऽहं सकल भय स्वमनसो नैर्बल्यमात्राश्रितम्
नैर्बल्य मनसस्तथोद्गतमिद तै स्तै मृ॑षा संशयै ।
यत्नै. कैश्चन निर्मला यदिमतिः संरक्ष्यते साधकै
भीति. काचन तत्र नैव मनसि स्यानम्पुन. प्राप्नुयात् ।।२०।।

सर्वं शून्यमिवेह विकास – रहितं संदृश्यते रोगिणे
स्वस्थः सर्वमिदं च हृष्टमनसा हृष्ट जगत् पश्यति ।
लोकोऽयं नहि तत् स्वयं सुखमयः दु खाकरो वा क्वचित्
अस्मत्कर्मभिरेव सन्ततमयं तत्तत् – स्थितौ नीयते ।।२१।।

लोके किञ्चन न प्रियं स्वयमहो किंचिन्न वाऽस्तेऽप्रियम्
सर्वं वृत्तिगतं जगद् भवति न नैतत् स्वतन्त्रं क्वचित् ।
यद्यत्स्यादनुकूल—मत्र निखिलं तद्रोचतेऽस्यै स्वतः
सर्वं च प्रतिकूलता गतमिह क्षेपाय तस्यै भवेत् ।।२२।।

प्रातः संस्मरणीय – सौम्यचरितो नित्य – म्प्रसन्नानन
शान्तात्मा मधुराकृति र्मधुरवाक् ख्यातो महान् सज्जनः ।
क्रोधान्धः स कथं क्षणेन सहसा कृष्णाननो जायते
सत्त्व वा तमसाभिभूतमखिलं प्राय. स्वभावाद् भवेत् ।।२३।।

प्रोद्भूता तृणवत् पदे पदे प्रतिपल मर्त्या असंख्या धराम्
आच्छाद्याद्य समन्ततोऽपि निखिला ध्नन्तोऽखिलान् प्राणिन ।
अद्यैवात्र न चेत् निजोदरदरी–पूर्त्यै क्षमाः स्म क्वचित्
काऽस्माक गति–रस्तु माविसमये चिन्ता ममेयम्परा ।।२४।।

यन्त्राधीन–गति – र्जनो निपतित–स्तस्यावशं हा वशे
जात. सम्प्रति निर्बलो वत तथा नास्ते यथाऽय क्षमः ।
यातुं क्वापि पदं विना नतदहो कैषोन्नति–र्हन्त नः
एकैकेन च तेन नेह कतिशो लोका कृता निष्क्रिया ।।२५।।

आनीतं भुवि तै र्नव युगमहो लोके ह्यपूर्वं हि यत्
सर्वाऽपि प्रकृति र्जिता च खलु तै. क्वास्ते न तेषा गति ।
तेभ्य किञ्चन दुष्करं नव भवे वैज्ञानिकै र्घोष्यते
सर्वं सत्यमिदं च भाति कथनम् स्वप्नो न चेत् स्यादयम् ।।२६।।

पश्याम शतश क्षणे निपतितान् यानाद्धि लोकान्न कान्
विद्युद्दीप्तिमिमा पलेन तमसाच्छन्ना च कस्मिन् दिने ।
अस्त्राणामथ सर्वनाशकरणे भीम क्षमाणा क्षणे
आविर्भूतिरियं कृता न खलु किं ह्यभिर्नवै – रेव न ।।२७।।

अस्मात् हन्त परं किमद्य परमं चिन्त्यं जगत्या भवेत्
क्रव्यादा· पशवोऽपि येन मनुजै र्नीताः समुत्कृष्टताम् ।
सभ्यत्वं ह्यथ संस्कृतिश्च नृगता सर्वा गता दुर्गतिम्
विज्ञै स्तत्समवेत्य चिन्त्यमधुना रक्ष्यं कथं मानुषम् ॥२८॥

अद्यत्वे कति सन्ति किन्तु वर्तते यै· शोधितुं यत्यते
स्वीया सम्प्रति दैनिकी खलु गति कैश्चित् शुभै. कर्मभिः ।
तुच्छैस्तुच्छतरै हि कृत्रिम – गुणै· सम्मोहिता वस्तुभि·
तेषामेव हि सग्रहे किमनिशं व्यस्ता न वर्तामहे ॥२९॥

शक्तिर्भूमिगता गताहि निखिला जातो रसो नीरस·
नि·सत्वा वनराजयश्च निखिला जाता भृशं निष्फला· ।
नेद सत्वरमेव चेन्मनुसुतं – रानीयता स्वस्थितौ
शके मानव–शेमुषी स्वयमियं क्षीणा भवेत् सत्वरम् ॥३०॥

ज्ञाते चापि विलक्षणेऽतिगहने ससार – सारेऽखिले
किं सौख्य समवाप्यता नु सुधिया ज्ञाने न सौख्य स्वत ।
ज्ञानं तत्तु नपुसक न सरसं नास्ते च शान्तिप्रदम्
यावत्तन्न भवेत् प्रभो स्मृति–सुधा–सम्प्लावितं जीवने ॥३१॥

दृष्ट किं नियत हि किंचन भवे यत् स्यात् क्वचित् सुस्थिरम्
ससारे सरणात्मके प्रतिपलं सर्वे सरामो वयम् ।
मासा यान्ति तथैव वर्ष सरणि कालो न रुद्ध· क्वचित्
रुद्धाचेत् न पुरास्य काचन गति नेयम्पुन – रोत्स्यते ॥३२॥

वाञ्छाम सतत भवे हि निखिल सौख्येन पूर्ण भवेत्
ससार सरतीह किन्तु सतत नित्य स्वधुर्यामयम् ।
द्रष्टुं सम्प्रति ते नवंक्रम – मिमं काक्षा मदीयाऽधुना
विश्वासो मम निश्चितश्च सुदृढो नेदं हि ते दुष्करम् ॥३३॥

कोऽसौ ससरणात्मकस्य हि रस. कश्चित् पुराणोऽद्भुत
पायम्पायमपीह येन नहि न तृप्ति क्वचित् काऽप्यभूद् ।
जीर्णश्चापि समुद्यताश्च यमहो पातुं शिशुभ्योऽधिकम्
मोक्षेच्छा–नुगतै र्मुमुक्षुभिरयं शून्येऽपि पेपीयताम् ॥३४॥

त्रैलोक्यार्थ – रहस्यभासन परा ग्रंथा न के के मया
प्राधीताः परिमुच्य सर्वमितरत् संसार सौख्य सखे ।
प्राप्तव्यम्पर – मस्ति कि ततग्रहो नाद्यापि तद्ज्ञायते
ज्ञानं मे क्षणिक घने तमसि यत् प्रायो यथा पूर्ववत् ॥३५॥

भूमान ह्यवहेल्य जीवनमहो क्षुद्रत्वमाप्ता वयम्
विस्मृत्य त्रिविधं स्वरूप मधुना तद्व्यापकं मानुषम् ।
जाता भौतिक – यन्त्रमात्र रचना – गर्वेण कि फुल्लिताः
सर्गोऽप्येष पुरा नवो न वहुशः सृष्टो न कि पूर्वजै ॥३६॥

कालेऽस्मिन् परमं विलक्षण–महो ज्ञानं बुधै र्घोत्यते
मोक्षं तं कथयन्ति यत्र तिमिरे रम्य जगल्लीयते ।
ससारः स्वयमेष मुक्ति – सदन कश्चिन्न बध्नात्यसौ
येये कर्मपरायणा जगति ते मोक्षान्विता हि स्वत. ॥३७॥

का शान्तिश्च न लभ्यतेऽत्र जगति भ्रान्तावपि प्राकृतैः
ध्वान्ते चापि न कि चरन्ति शतश प्राय प्रसन्ना. खगा ।
दूरं तत् कुरु तेऽखिल नयनयो – स्तेजोहरं भास्वरम्
ज्ञानं यद्धि वृथाऽभिमान–जनित मौर्ख्येऽपि सौख्यम्परम् ॥३८॥

ससारे स्थित एव शान्ति मधुर काल नयेयं यथा
पश्यस्त्वा सकले चराचरगणे मुग्धो भवेय तथा ।
या माया विदधाति मूढमनसो मर्त्यान् महामोहिनी
सा मह्यं सतत भवेद्धि सरला सत्यस्य चोद्भासिनी ॥३९॥

रेरे मूर्ख न नास्तिकै–स्तव मनोभावै र्भवे कुण्ठित.
एभि सकुचितात्म–वृत्ति जनितै र्लाभो न कश्चिद् भवेत् ।
त्रैलोक्येऽपि गतिर्हि यस्य स कथ सकीर्ण–वृत्ति–र्भवेत्
श्रद्धा यस्य विभौ प्रभौ स्वयमसौ लोके विभुर्जायते ॥४०॥

आयु र्वै शरदागत मनुसुतै. सर्वै सुखेनाप्यताम्
सर्वैरेव च जीवनाय सुखिने पाल्या यमाः सन्ततम् ।
सामान्यानवबोध्यै किन्तु नियमान् नित्य स्वतो ह्येव हा
जानन्तोऽपि पले पले प्रतिदिन ह्रासे रता स्मो न किम् ॥४१॥

कल्याणं यदि भूतलेऽनवरतम् प्राप्तुं सखे ते स्पृहा
संकोचं त्यज सत्वरं च कुरु ते चेतो विशालम् परम् ।
बंधुत्वेन यदीह पश्यसि जनान् प्रेम्णा हि सर्वान् हृदा
मत्वा त्वामपि ते स्वबाधववरं भक्ता भवेयु–र्हि ते ।।४२।।

मार्गः कश्चन दुर्गमोऽपि सुगम कैश्चित् कृतश्चेत् क्वचित्
केचिन्मृत्यु–मुखे गता अपि पुन–स्तैर्वा समुज्जीविताः ।
नूनं ते भुवि सन्ति मानववरा वन्द्याश्च ते सन्ततम्
सर्वेऽन्ये पशुभिः समा हि विकलैः साध्येत किञ्चिन्न तैः ।।४३।।

गंगासीकर–शीतलं ममममो रक्ष्यं सदा शीतलम्
नह्येतच्च वृथैव कैश्चन मन–स्तापैः प्रतप्त भवेत् ।
शुद्धं वा जगती तले न कुहचित् प्राप्यम्प्रभो ते भवे ?
यद्वा त्वं स्वयमेव नासि भगवन्नेक–स्वरूप क्वचित् ।।४४।।

अन्येषा कुशलेन यस्य कुशल दुःखेन दुःखं तथा
धन्यः कोऽपि स सज्जनः शुचिमतिः प्रीतः परप्रीतिभिः ।
सर्वेष्वेव मति – र्यथेयममला जागर्ति तच्चिन्त्यताम्
को लाभोऽपर चिन्तनेन न यत – श्चिन्ता प्रणश्येन्नृणाम् ।।४५।।

इति श्री विद्यावाचस्पति श्री देवीप्रसादतनयेन—
विद्याधर शास्त्रिणा विरचिता शाश्वतेन
वर्तमानेन- च जीवनगति-वैचित्र्येण
सम्पन्ना वैचित्र्यलहरी परिपूर्णा ।
ॐ असतो मा सद्गमय ॐ



॥ श्रीः ॥

अथ मत्त-लहरी

आयाहि बन्धो ! परिहाय खेदम् सद्यः समुल्लासयितु मनस्ते
संस्थापित: कोऽपि मयाऽद्वितीय सुरालयोऽय नवशक्ति-केन्द्र: ॥१॥

आलस्य दोषानखिलानपास्तुम् समूलमुन्मूलयितुं च चिन्ताम्
रोगानशेषान् त्वरितं निरस्तुं नैतेन तुल्यं किमपीह लोके ॥२॥

सुरासुरैश्चापि न या सुलभ्या तां ह्येव कृत्वेह सुखेन लभ्याम्
समर्प्यते स्नेहभृते हि सर्व स्निग्धा समायान्तु पिबन्तु कामम् ॥३॥

भ्रान्ता किमर्थं भ्रमथ-प्रमादात् श्रमेण पूर्णे विपिने विथीनाम्
सदा विशोके प्रियभावलोके सद्यो विहर्तुं नहि किं त्वरध्वे ॥४॥

यदृच्छया लब्धमिदं कथंचित् दिन द्वय कापि घटी च याते
तामेव कर्तुं सरसा स्वमौर्ख्यान् न चेष्टसे किं हृदयापमर्दिन् ॥५॥

लभ्य मुहुर्जीवनमत्र नेदम् सदा शुभो वाऽवसरो न लभ्यः
हसत् सुधातत् मधुमेऽद्य हृद्य सद्यो न पातुं बत चेष्टसे किम् ॥६॥

पाषाण-हृच्चाप्यथ शैलराट् किम् क्रीडारतो नेह सदा सरिद्भिः
पङ्केऽपि चालिंगितुमत्र किं वा नित्यं विवस्वान नलिनी न याति ॥७॥

उत्थाय शीघ्रं खलु घोषये-स्तत् सुरैव नाके प्रथिता सुधेति
नाकश्च नान्योऽस्ति सुरालयान्मे लेशोऽपि दु खस्य न यत्र कश्चित् ॥८॥

निपीय तां वेत्ति कदा नु कश्चित् काचित् जगत्या भवतीह भीतिः
ये वंचिता सन्ति सुरा कृपात तानेव भीतान् कुरुते कृतान्त ॥९॥

मत्तैव काचित् स्मृतिरत्र रम्या चित्तम्प्रमत्त हि यया स्वत स्यात्
तुल्या तया काऽस्त्वपरा स्मृति र्न स्मृतौ स्मृतौ यत्र नवास्ति चिन्ता॥१०॥

विभीषिका हन्त नवैव काचित् प्रतिक्षणं यत्र जनानुपैति
विमोहक तत्र च किं धरायाम् विमोहित येन भवेन्मनो न. ॥११॥

भूलोकमेनं परिहाय जीर्णम् श्रयस्व तद्देशमतो नवीनम्
भीतिं जना जातु न यान्ति यस्मिन् प्रफुल्लचित्ताश्च वसन्ति नित्यम् ॥१२॥

क्षोण्या गवेष्यं स्थिरमत्र किं वा प्राणैः प्रयाणाय सदैव सज्जैः
उद्देश्य–शून्ये भ्रमति भ्रमान्धो वाति प्रवाते प्रलयं करे च ॥१३॥

न यत्कदाचिद् घटता ततोऽपि ग्रस्ताः प्रबुद्धा बहुधा भवेयुः
अत्याहितेऽपि व्यसने परं किं चिन्तान्वितः कोऽपि भवेत्सुरालये नः ॥१४॥

सामाजिकी चेह विभीषिका चेत् कुर्यात्कथं सापि सुरा–वियुक्तान्
स्वाधीनवृत्ते र्हननं विहाय व्यक्तिः समाजे लभते फलं किम् ॥१५॥

शोकस्य मूलं प्रथमं समाजः पापस्य मूलं च स एव नित्यम्
यस्मिन् मिथो बधन–वृद्धिहेतो र्यत्नः समाजः स मतो जनानाम् ॥१६॥

आपानशालैव विकासयित्री स्थितेः सामाजस्य–सुखप्रदाया
परस्परं प्रेमसुधा प्रकामम् समर्प्यते यत्र समादरेण ॥१७॥

संवेदनं यन्मदिरालयेषु – स्वाधीन वृत्तिश्च–जने जने या
कस्मिन् समाजे ह्यपरत्र लभ्या पदे पदे राज्य विधान–विद्धे ॥१८॥

संस्थाप्य नव्यं स्वदलं कदाचित् प्रसार्य वादश्च नवं कदाचित्
लूतेव लोकान् परिगुण्ठ्य जाले मायाविनो राज्यरसं पिबन्ति ॥१९॥

मत्ताश्च ये न कथयन्ति विज्ञा हितं स्वयं तैं र्जगतं कृतं किम्
रक्षेद् विधाता नहि कोऽपि धीमान् कांश्चित्प्रकुर्यात् निजजालबद्धान् ॥२०॥

स्वार्थस्य सिद्ध्यै बकबन्धुभि र्यै र्माया प्रसारः क्रियते विचित्रः
प्रवचना – पाटवमेव नूनं निरूपणं बुद्धिमताम् प्रधानम् ॥२१॥

साध्येत सत्यं हि ययात्वसत्यं स्थाप्येत मिथ्या च सताम्पदेषु
विलक्षणां ताम् कथयन्ति विज्ञा बुद्धिम् जनानाम् अभिमानमत्ताः ॥२२॥

अनादिकालान् प्रकृतिं विधत्ते योगेन यस्याः पुरुष अमन्ताम्
विकारसर्गस्य विशिष्ट हेतो र्बुद्धे र्विकासोऽभिमतः कथं ते ॥२३॥

निरन्तरं चिन्तनमात्रशरणो ज्ञानाग्निदग्धोऽथ लभेत शम्किम्
बुद्धोऽपि यत्केवलमत्र शून्यं दुःखञ्च सर्वं प्रकृतौ तुलोके ॥२४॥

न यस्य लेशोऽपि कदापि दृष्ट. लयाय तद् ब्रह्मरिण नोदयन्त.
अस्मान्न जाने क नयन्ति विज्ञाः संसार सौख्याद् विरतान् विधाया ।।२५।।

सनातनीयं लहरी सुराणाम् "पिवाम सोमम् अमृता अभूम"
आतृप्ति पेयो रस एषतस्मात् अलौकिक. कोऽपि भुवि प्रसूत. ।।२६।।

भाण्डं सुराया श्चषकं च लब्ध्वा काम्यं किमन्यज्जगतीतलेऽस्मिन्
द्वावेव धात्रा रचितौ ह्यपूर्वौ सर्वं मृषाऽन्यत्त् ततोऽतिरिक्तम् ।।२७।।

धर्मस्य चर्चा च सुरालयेऽस्मिन् क्षणाय कैश्चिन्न कदापि कार्या
विलक्षणो यस्य कृत प्रसारो शिष्यैः प्रशिष्यैश्चकले युगेऽस्मिन् ।।२८।।

स एव धर्मो हि महान् मतो नः सौहार्द–वृद्धि नियतास्तु यस्मिन्
प्राप्यं फल यस्य च मर्त्यलोके न च प्रतीक्ष्या परजन्म–लब्धि ।।२९।।

अधार्मिकां–श्चेह वदन्ति ये न. नतैः समः कोऽपि परोऽत्र धूर्त
सदैव तत्तद् विषयेषु मग्ना स्मरन्ति धातून् सततं स्वशक्त्यै ।।३०।।

अन्तस्तले किचन भिन्नमेषाम् वहिश्च किञ्चित् पृथगेव नित्यम्
तेभ्यः परः पापपरोऽस्तु कोऽन्यो वयं तु सर्वत्र सदैक भावाः ।।३१।।

किं शिक्षणीयं च बुधैर्वराकै. श्रुत्वा च शास्त्राणि किमत्र वेद्यम्
एको विधिर्यत्र विभीषिकायै रागस्तथैक. सततं निगम्य. ।।३२।।

क्षणं क्वचित् कोऽपि भवेन्न मत्तो न वा हसेन् कोऽपि सुरालयेषु
गाभीर्य मावाय च जीवनेऽस्मिन् ज्ञातुं रहस्यं निखिलै प्रयत्यम् ।।३३।।

ब्रह्माण्ड गर्ते पतितै–रगाधे दृष्टं क कै. किन्तु मुखं लघिम्नः
किमत्र तद्यत् स्वत एव लोके जनं गभीरं कुरुते न जातु ।।३४।।

उल्लासपूर्णो लघिमा सुरम्य. स्वजीवने कोऽपि सदैव रक्ष्यः
सुखेन दु.खाम्बुनिधौ तु येन क्वचित्तरेदूर्ध्वतलेऽल्पभार ।।३५।।

जनैरतो नित्यमुपासनीया हृद्या सुरा लाघव – जन्मदात्री
लभ्यो यतः स्यात् स्वयमेव कश्चिन् हर्ष–प्रकर्षोऽनुपमो जगत्याम् ।।३६।।

काम्य किमन्यज्जगती–तलेऽस्मिन् अतोऽतिरिक्तं विविधाधिपूर्णे
ह्रासो विलासः स्वयमेतु कश्चित् स्वयं विकासो मनसो भवेच्च ॥३७॥

जानाति कः किं नु परे प्रभाते निद्रात्यये दृश्यमिहावलोक्यम्
पश्यत्सु सर्वेष्वपि नैव सद्यो विलीयते हन्त नु किं भवेऽस्मिन् ? ॥३८॥

निषेव्य ता शुद्धमतिं परन्तु स्थितिं सदा याति परा तुरीयाम्
सर्वत्र शान्ति विमला च कान्ति–विलोक्यते तेन भवे समन्तात् ॥३९॥

क्षणा लघिम्नो न सदा सुलभ्याः क्षणाय गेहे गृहभार – भग्नैः
विशेषतो धर्म–भयैश्च तैस्तै विज्ञोपदेशेन कृतैं विभीतैं ॥४०॥

ते दण्डनीयाः सततं नृपालै – वय सुपूज्याश्च सदैव तस्मात्
न्यायालय–न्यायगतिश्च शोच्या मिथ्यापि सत्यं न यथास्तु तर्कैः ॥४१॥

अन्तस्तल न. स्फटिकेन तुल्य स्फुट नभोवन्निखिल च बाह्यम्
न गोपनीयं किमपीह वृत्त सत्यं सुदीप्तं सततं स्वदीप्त्या ॥४२॥

अस्मन्मते ब्रह्म शिवस्वरूपं समाधिलीन सतत स्वमग्नम्
क्षणाय नाथ दयिता–वियुक्तः चिन्तान्वितो वा जगती–क्रमेण ॥४३॥

तस्माद् वय चापि समाधि लीना सुराकृपातः सतत भवाम
विस्मृत्य लोकस्य गति च जीर्णां नवा स्वसृष्टि सतत सृजाम ॥४४॥

स्ववर्तमानं मुदित च कुर्मो यत्स्यात् तथा तत् पुनरेतु कामम्
भविष्य–चिन्ता कुरुते विवेकी विवेक–दीना न वय भवाम ॥४५॥

स्वाभाविक हार्दतरंग–मत्तं स्वतः समुद्भूतमहो कुतश्चित्
गीत तथा काव्यमहोऽस्मदीयं नैतन्मति–क्लेश–भवं कदाचित् ॥४६॥

प्रफुल्लिता हृत्कलिका स्वभावात् दिव्यं हि सत्सौरभमेव वर्षेत्
रसा न के के च तत स्रवेयु–र्म्लाना कृता चेन्न कुतर्किभि सा ॥४७॥

भावेषु मुख्यश्च रसेन्द्रवर्ती प्रेम्णो हि भाव कथितः कवीन्द्रैः
विहाय मत्तान् न परत्र लभ्य. शुद्धो ह्यय क्वापि सुधीन्द्र गोष्ठ्याम् ॥४८॥

न कृत्रिम किंचन तेषु जृम्भेत् दम्भेन केनाप्यथ ते न युक्ता
प्रेम्णैव सर्वैरिह ते वदन्ति प्रेम्णो स्पृहाचैषु भवेऽखिलेभ्यः ॥४९॥

स्वाधीना. स्वमनोऽनुकूल – रतयः सर्वे वसेयु र्भवे
बद्धा. सन्तु न ते तथा प्रतिपदं सामाजिकै र्बन्धनै ।
भीति. कापि विधेश्च नहि तान् भीतान् विधत्ता कश्चित्
मुक्ताना समयोऽखिल सुखमय आस्ता हि पानेन नः ॥५०॥

इतिश्रौतस्मार्तभूषण—श्री देवीप्रसाद-सुतेन कविसम्राट्
पदवीभृता विद्याधर शास्त्रिणा समुद्भाविता
सहृदय-हृदयहरिणी मत्तलहरी प्राप्ता स्वपरिपूर्तिम्
ॐ नमः शिवाय ॐ



॥ श्रीः ॥

अथ आनन्द-मन्दाकिनी

प्रीतो निशम्यास्मि सखे वचस्ते स्फुटं त्वयागादि यदद्य हृद्यम्
दोषः स दोषो न मते बुधाना स्पष्टोक्ति-सौन्दर्य-गुणोज्ज्वलो यः ॥१॥

सत्य जगत्या नहि मानवीयं दिव्य सदेद सुलभ शरीरम्
गुणाश्च ते ते बहुधात्र सर्वे दोषानुविद्धाः सहसा भवन्ति ॥२॥

तस्मात् प्रयत्नेन सदैव सर्वै रक्ष्यं स्वचित्त सततम्प्रसन्नम्
त्वयोपदिष्टेन पथा न किन्तु प्रसन्नता सा जगतीह लभ्या ॥३॥

न केवल विस्मृतिमात्र-मग्नै शक्या स्वयात्रा सुगमा च कर्तुम्
न चाप्यशान्तो भवतीह शान्त. परस्य दोषाब्धि – विवर्धनेन ॥४॥

विगाह्य चानन्तमपीह नान्तो यस्याः कदाचिद् भुवनेषु भावी
पदे पदे सा परिवर्धमाना क्षणाद्वयायैव न लोक – यात्रा ॥५॥

तृप्तो न लोकेऽथ भवेच्च कश्चित् जनो मनोमोदक-मात्रमश्नन्
अपेक्ष्यते प्राणधरै यदर्थम् श्रमेण साध्याऽत्र पदार्थ – लब्धि ॥६॥

उल्लासपूर्णो लघिमा प्रियस्ते ममापि बन्धो स तथैव नूनम्
उपेक्षणीयो नहि किन्तु भेद सनातनेऽथ क्षणिके विभक्त ॥७॥

या ते सुरा सा न सुरा विशुद्धा क्षणाय यस्यां मनसो विलास
मुह्येत कस्तत्र विहाय मूढान् क्षणाद्वय यत्र रमानुभूति ॥८॥

आगच्छ दिव्यं पिब तन्मदीयम् रस न य स्यात् विरस कदाचित्
पानेन यस्याथ न केवल त्वं परेऽपि सर्वे मुदिता भवेयु ॥९॥

यदद्य गीत मधुरम्प्रिय ते न तत् परश्वोऽपि तथैव रम्यम्
अलौकिक गीतमिद मदीयम् श्रुत्वा कृतार्थं कुरु जीवन तत् ॥१०॥

स्नेहेन पूर्णा मधुरा च हृद्या तामद्य सचारय मित्र-दृष्टिम्
क्षणाय य कोऽपि नयास्तु दृष्ट म एव जायेत तवानुगामी ॥११॥

क्वचिन्मरौ तप्तपथ–प्रपायां तद्रक्ष गीतं मधुरञ्च वारि
निपीय यत् यात्रिक–शीतलात्मा शुभाशिषा सत्स्तुतिमादधीत ॥१२॥

निदाघ – दाहाकुलपक्षिपोता प्रशुष्क–कण्ठा मृग–शावकाश्च
आचम्य तां ते मदिराम्प्रसन्ना. किं किं हि नृत्यं न च दर्शयेयु ॥१३॥

व्यथाश्च काश्चिद् यदि जीवभाजां क्वचित् कदाचित् कुरुषेऽपनीताम्
विलोक्य तान् सम्मुदितान्समस्तान् भवे कृतार्थो हि भवे न किं त्वम् ॥१४॥

प्रतिक्षणं यत्र नवानुभूति. पले पले यत्र नवश्च हासः
आनन्द–सारे जगत. प्रसारे रगस्थले तत्र कुतोऽस्तु खेद ॥१५॥

दु.खाभिभूता विकला त्वयेयं कुतोऽद्य हन्ताधिगता प्रवृत्ति
कि कोकिलानां मधुरेऽपि गाने क्रेकाररावं च मृषा शृणोषि ॥१६॥

सर्वात्म–सम्पत्ति–समन्वितस्त्व किमात्मनो विस्मरणाद् बिभेषि
सुखप्रदे नैव न कै पदार्थै र्धात्रा धरित्री समलंकृतेयम् ॥१७॥

सुखं जगत्या–म्प्रसृतं न किं किम् कस्या गतौ वा न रसोर्मि–लास्यम्
आनन्दमूले प्रकृतिप्रसारे दु ख कुतोऽस्मिन् लभता प्रवेशम् ॥१८॥

मनो न चेद्दुर्बल–वृत्ति–माप्तम् लोकोऽपि दु खी प्रतिभातु नायम्
मनोबल चेत्सुदृढं त्वदीयम् सर्वत्र सौख्यानुभवः स्वयं स्यात् ॥१९॥

शान्तंस्वरूपं स्मर शान्तचेता शान्तिम् परा प्राप्स्यसि सद्य एव
न कापि भीति र्न च कापि चिन्ता पुनर्मनस्ते विकलं–करोतु ॥२०॥

हलाहलस्वागतमन्तरा कै सुधा सुरै–र्वा क कदापि लब्धा
प्रचण्डतापातप – तापितैव – पृथ्वी पयोदै क्रियते प्रसन्ना ॥२१॥

क्षुद्रेण केनापि पराजयेन ग्लानि न वीरो भजतेऽत्र धीर
दु.खेन साध्य कुरुते सुसाध्यम् भवाब्धि–मत्येति हसञ्च तूर्णम् ॥२२॥

मनोऽनुकूल स्व–विधिर्विधेय मर्गस्य दोपा परिमार्जनीया
क्रान्तिश्च सर्वत्र तथा विधेया यथा स्वय सर्वमिद प्रशुध्येत् ॥२३॥

स्वार्थेन पूर्णा विविधा हि दोषा सर्वं समाजं यदि दूषयन्ति
अपेक्ष्यते मार्जनमेव तेषाम् निपीय नैषा, हि भवेन्निरोध: ॥२४॥

संभूय लोके भवतीह यात्रा संभूय सर्व–व्यवहार – सिद्धि
परस्परं भावय सौख्यभावम् यज्ञात्मिका जीवगति समस्ता ॥२५॥

शून्ये न किंचित् परियाति शून्य शून्य विहाराय तत विधात्रा
शून्ये विधेयोऽनुपम स्वसर्ग: मनोऽनुकूलश्च विधिर्विधेय ॥२६॥

शून्ये स्वपत्रे विधिना प्रदत्ते यद्रोचते तल्लिख तत्र कामम्
विधेर्विधानम् रचित त्वयैव त्वयैव कार्यं च कृतार्थ–मेतत् ॥२७॥

समुन्नति सा च त्वया विधेया भवेन्निपातो न यत. कदाचित्
मर्त्यश्च यात सकृदेव यस्या – मग्रेसरन्नेव – सरेदनन्ते ॥२८॥

अगाध ससार समुद्र गर्भे गुप्तानि रत्नानि न कानि कानि
निमज्जितं चेन्न तदाप्ति–हेतो – र्न निन्दनीया रचना विधातु ॥२९॥

यच्चापि निन्दा कुरुषे स्मृतीना कृतं प्रशस्त किमु जीवने ते
लोकोपकारैरधिगता व्यथा चेत् स्मृति: सदानन्दमयी हि तस्या ॥३०॥

विना विवेक हि कदापि वन्धो नैक क्वचित्तेऽथ पद निधेहि
अगाध कूपे पतितस्य जन्तो र्निष्कासन स्यात्सहज पुन र्न ॥३१॥

मत्तै सदा विस्मृतिमात्रमग्नै र्लब्ध कदाचिन्न विचार–सौख्यम्
विवेक–सौख्याऽभिगतानुभूति – र्लोकेऽतिगेतेऽनुभवान् समस्तान् ॥३२॥

ज्ञानेन शका यदि वर्धते ते विनोदमात्रा परिहीयते वा
जहीहि सद्य स्वकुतर्क–शीलम् विश्वास–राशि च विवर्धयस्व ॥३३॥

अज्ञैरगम्या वहुरूप–भावाम् मायागति ज्ञानदृशा विलोक्य
विज्ञ स्वपाशाश्च परस्य पाशान् विच्छेद्य सर्वान् कुरुते विमुक्तान् ॥३४॥

तप. प्रधानाच्च गृहस्थधर्मात् मन्द–क्रियत्वादलसश्च्युत. सन्
समाज दोषान् वहमन्यसे किम् नानागुणाना जनक: समाज ॥३५॥

मौर्ख्यात्परं संसृति–सद्विकासे दुःखप्रदं नास्त्यपरं हि किञ्चित्
न वेत्ति यज्जीवन रीतिनीतिम् वैकल्यमाप्नोत्यत एव मूढः ॥३६॥

कूपे न कश्चित् पतति प्रबुद्धः सत्यानुभूतौ न च संशयः स्यात्
स्वात्मस्थितिः पूर्णतया समीक्ष्या परात्मनिन्दा न मुधा विधेया ॥३७॥

यथाविरक्तो लभतेऽनुरक्तिं तथाऽनुरक्तो लभते हि ता न
जलाद् बहिः संस्थितमेव पद्मं जलाशयानां सुषमां तनोति ॥३८॥

गाम्भीर्य–हीनेषु सरोवरेषु – क्षणं तरंगालि – गति – र्विभाति
विहायशून्यं गहनं वियद् वा क्वान्यत्र रूपाणि समुद्भवन्ति ॥३९॥

उद्वेग–विग्नो न च कर्मयोगी स्वकर्मलीनः स सदैव मुक्तः
क्रिया विहीना स्थितिरेव तास्तान् पाशाश्रवान्–नित्यमिहा–तनोति ॥४०॥

भीमैः प्रवातैरथ वज्रपातै र्विचालितेऽस्मिन् जगती–प्रवाहे
न लाघवं ह्येव सदेह सर्वैः – रूपास्यमास्ते हि हितार्थिभिः ॥४१॥

माध्वीकमत्तैः क्षणमीक्षणीय कथं च तेषाम्प्रिय–वाटिकेयम्
क्षणेन दग्धाऽथ कथं विशीर्णः स्वप्नो हि तेषामयमद्य सद्यः ॥४२॥

कथं च तेषामिदमद्यशुष्कं सुवासरो हन्त समस्तमेव
कथं च जाता तमसैव पूर्णा तरंगशाला हि विहार भूमेः ॥४३॥

न कल्पनामात्रमिदं जगत्तद् न वा समाजोऽपि सदैव निन्द्यः
सत्कर्मभूमि–र्निखिला धरेयं क्षेत्रं च धर्मस्य फलेत् समाजे ॥४४॥

एको न कश्चिन् स्वमते विकासं नवात्मबोधं लभते कदाचित्
कर्त्रे सदा कर्मकृते हि तत्तद् – अपेक्ष्यते यत् पृथगेव किञ्चित् ॥४५॥

दानाय, सत्यस्य परीक्षणाय – न्याय्याय कार्याय च नित्यमेव
स्थितिः समाजस्य सदैव सद्भिर्ह्यपेक्ष्यते पुण्यमयी ममस्तैः ॥४६॥

तस्मात् प्रबुद्धो भव कर्मयोगिन् यत्ते विधेयं च विधेहि मद्य
काल करालो मदिरालयेभ्यो नैवातिरिक्तं समयं ददाति ॥४७॥

मर्त्योऽपि येनामरता म्प्रयातु मृत्युः स्वयं येन मृतो भवेत्तो
सुरा हि साऽनन्दमयी मदीया पेयाऽद्यतन् सर्वसुखाभिरामा ॥४८॥

आनन्द रूपे जगतो हि सत्ये ज्ञाते शिवे प्रेममये हि मूले
तापेऽपि शैत्यसुखः स्वयं स्यात् स्वयं वसन्तो विकसेन्मरौ च ॥४९॥

श्रोतव्यं मे तदिह वचनं मित्र, सत्प्रीति – पूर्णम्
यस्मात् काचिद् वहतु हृदि ते नित्यमानन्द धारा ।
सर्वं चैतज्जगति सरसं भातु तुभ्यं यथार्थम्
शून्यं चैतद् भवतु सततं भासमानं समन्तात् ॥५०॥

इति श्री देवीप्रसाद शास्त्रि तनयेन मनीषिणा
विद्याधर शास्त्रिणा विरचिताऽनन्द—
मन्दाकिनी समभवत्
सानन्दम्परिपूर्णा



॥ श्रीः ॥

श्रीविक्रमार्को महनीय-कीर्तिः

यशास्विभि – र्वीरवरै रसंख्यै – र्महर्षिभि – र्ज्ञानदिवाकरैश्च
प्रकाशितं नित्यमहो त्रिलोक्याम् भूयोऽपि यो भारतवर्षमेनम् ॥१॥

विभासमानं भुवनेषु चक्रे स विक्रमार्को महनीयकीर्तिः
ऐतिह्य सूर्योऽत्र बभौ प्रतापी विलक्षणः कोऽपि महीमहेन्द्रः ॥२॥

कान्तिस्तदीया किल तस्य कान्तिः पराक्रमस्तस्य च तस्य एव
न तत्समः कश्चन दिव्य कीर्ति र्जातोऽपरः सुप्रथितः पृथिव्याम् ॥३॥

स सन्ततं राष्ट्रजयेन हृष्टः तुष्टोऽथ सद्धर्म – सुरक्षणेन
सद्ज्ञानवृद्ध्यै विहित–प्रयत्नः तिष्ठेत्सदैव स्मरणीय–कीर्तिः ॥४॥

आकर्ण्य हुंकारमहोऽस्य हूणाः शस्त्राणि निक्षिप्य गुहासु लीनाः
ऐतिह्य–पृष्ठेष्वपि नाम नैजं द्रष्टुं न धीराः पुनरत्र जाताः ॥५॥

अद्यापि सर्वे क्षितिरक्षिणस्तत् जिघृक्षवस्तत्सरणी – मवद्याम्
प्रजाजनानामथ कामनेयं सर्वे नृपाः सन्त्विह तेन तुल्याः ॥६॥

आस्तां न वास्तामिह तस्य काचित् सत्ता स्थिरं किन्तु यशोऽस्य लोके
तस्य व्यवस्था प्रथिताः कथासु न्याय–प्रणाली च भवेऽद्वितीया ॥७॥

तन्नाम्नि भारत संस्कृते र्नः सनातनी स्थास्यति दिव्यकीर्तिः
सार्वत्रिकी साऽथ कृता ह्यनेन–प्रकाशमाना क्नु नास्ति लोके ॥८॥

यशो निधाने खलु तस्य काले प्राप्तं न किं किं भुवि भारतेन
श्रीकालिदासामृतवाग् – विलासैः सारस्वतं लोकमिदं जहास ॥९॥

संस्मृत्य सस्मृत्य परं तदीयं तं स्वर्णकालं सुर – पूजनीयम्
किमद्य वीक्षे किमु वाद्य कुर्वे मनोऽखिलं मे विकलं विरौति ॥१०॥

गतं क्व नः सात्विक-जीवनं तत् गता क्व वा सात्विक संस्कृतिः सा
विवेकपूर्णं प्रभुभक्तिमत्त साधारणं जीवन – यापनं च ॥११॥

ता यज्ञशालाश्च तपोवनस्थाः घोषः श्रुतीनां मधुरश्च दिव्यः
तेजस्विनो ब्रह्मपरायणास्ते विद्यार्थिनः सम्प्रति वा क्व सन्ति ॥१२॥

ते निर्मलाः पावनदृश्यरम्या दिव्याः सुराणा सरिताम्प्रवाहा.
पदे पदे पौर-मलेन पूर्णा बीभत्सदृश्या बत साम्प्रतं नः ॥१३॥

अलौकिकः कः किल स प्रकाशो वेला च सा का स्फुरिता जगत्याम्
क्षुद्रोऽपि जीवो हि पलेन यस्या विभोर्महावैभवमाससाद ॥१४॥

मर्त्यश्च सद्योऽमरता गतोऽयं तमः प्रकाशात्मकमेव जातम्
भ्रान्तिर्विनष्टा विपदो विलीनाः शून्यं तथा कान्तिमयम्प्रदीप्तम् ॥१५॥

ज्ञानप्रकाशो विशदः क्व नाभूत् के के प्रदेशा नहि शिक्षिता वा
दत्तं च सार्वं शरणं न केभ्यः स्वधर्मिणः सन्तु विधर्मिणो वा ॥१६॥

स्वराष्ट्रमानोन्नति – मग्न चित्ता स्वधर्मरक्षार्पित – सर्वसौख्या
महानुभावा मनुजाग्रगण्याः प्रादुर्बभूवु नं च के तदा न ॥१७॥

पद्मावती–पद्म–विकासरीति–र्वन्ह्रौ विचित्रा च तदाऽभवत्सा
शान्तापि तद्वाह्र भवा विभूतिः दीप्ता मुखाभां कुरुते न केषाम् ॥१८॥

अस्तंगत चापि पुनः स्वधाम्ना य आर्यराज्य कृतवान् प्रदीप्तम्
प्रतापसिंह परमः प्रतापी स कस्य मान्यो न कस्य वंद्यः ॥१९॥

स्वात स्वकीय हुतवान् हुताशे धर्माय पुत्रान् विससर्ज कामम्
श्येना जिता येन शकुन्तिकाभि र्गोविन्दसिंह. स गुरुः क्व दिव्य ॥२०॥

निर्वाप्यमाणापि रिपुप्रवातैः संरक्षिता धर्मशिखा च येन
सोऽयं शिवाजी भुवि धन्यवीर्यं प्रभातगेयो नहि कस्य लोके ॥२१॥

के वा न चान्ये न निदर्शनार्थं राष्ट्राय सर्वाहुतिदान दक्षा
साधारणाश्चापि सुरैः सुगेया वीरा. प्रतिग्राममहो न जाता ॥२२॥

अज्ञातवीर्या यशसाम्प्रकाशं ह्यतीत्य ते दिव्यतमा अदीव्यन्
दशा परं सम्प्रति कीदृशीयं राष्ट्रे प्रिये ते वत जृम्भमाणा ॥२३॥

स्वप्नायितं यद् बहुधा समग्रं वैशिष्ट्य-मद्यास्य पुरातनं तत्
काचिद् विचित्रैव विमिश्रितेयम् परिस्फुटा सम्प्रति संस्कृतिश्च ॥२४॥

न ब्रह्मचर्यं न बलं च तत्ते न त्यागवृत्ति र्न तपः प्रसक्तिः
गवां च सेवा नहि साऽद्वितीया नवा गुरूणां चरणेऽनुरक्तिः ॥२५॥

पतिव्रतानां व्रतमद्वितीयम् – अद्वैतरूपे परिणम्यमानम्
क्वचित् क्वचित् सम्प्रति रक्ष्यमाणम् कथात्मकं केवलमद्य जातम् ॥२६॥

विधर्मिभि. सर्वमहोऽस्मदीयम्–आक्रान्तमद्यादि–गतं तथाऽन्त्यम्
दूरेगता सम्प्रति मुक्तिवार्ता क्षुधा विमुक्त्यापि वय न मुक्ताः ॥२७॥

स्वर्गे स्थिताश्चापि सुरान् स्वयज्ञैः र्यैस्तर्पयामास सदा प्रकामम्
स एव हा हाद्य शिशून् स्वकीयान् मृतान् क्षुधा पश्यति मातुरंके ॥२८॥

सज्जीवने सात्विकभावभव्ये सदा सदाचार – परायणे ते
कथ दुराचारगते. प्रसारः स्वार्थप्रवृत्तिः प्रवला च केयम् ॥२९॥

पुरातनी चापि नवैव नित्यं त्वत्संस्कृतिः पुण्यतमा जगत्याम्
अभिद्रुता चाप्यसकृत् परैर्या नापाततो दुपतिता कदाचित् ॥३०॥

वेगेन तत्तत्परिवृत्तिचक्रैः – विचालिते चापि नवे युगेऽस्मिन्
क्षुद्राधिगत्यै नरजन्म नैतत् ज्ञातं कदाचिद् भुवि भारतीयैः ॥३१॥

अन्यत्र जातेऽपि घनाधिदीर्णे कायन्त्रमूर्ता मनुजे जगत्याम्
शान्ति प्रिये धर्मरते पवित्रे देशे नराणां गतिरत्र भिन्ना ॥३२॥

राज्ये समाजे च विधानमेषां दैनंदिनेऽथ व्यवहार – वर्गे
वैज्ञानिकं दार्शनिकं च दिव्यं विलक्षणं ह्येव समस्तमेषाम् ॥३३॥

ब्राह्मे मुहूर्ते सततम्प्रबुद्धैः सदग्निहोत्रे निरतैश्च नित्यम्
नवैव बुद्धिश्च नवैव शक्ति – विलक्षणैर्वाविगतैर्भिरासीत् ॥३४॥

विद्यार्थिनः सम्प्रति किन्तु तन्द्रा–निद्रा–निमग्ना न वतोष्णपेयम्
शय्यां विमुंचन्ति न वीरवायुं निषेव्य नव्या ह्यथवा भवन्ति ॥३५॥
पूज्ये गुरूणां च पदे पवित्रे विराजमाना निखिलेऽपि लोके
शिष्याधमाः सम्प्रति हन्त जाता–द्रोहे गुरूणा निरताश्च नित्यम् ॥३६॥
वृत्तेन दीना अथ धर्महीना निरन्तर केश–विशेष – सज्जाः
प्रणाश्य दिव्यं निखिलं स्वतेजः प्रतिक्षणं कृत्रिममाश्रयन्ते ॥३७॥
इयं स्थितिः सम्प्रति सद्य एव–प्रशोधनीयाऽथ पुनः प्रदीप्या
विद्याप्रकाशेन विभासमाना विद्यार्थिन सन्तु पुनश्च सर्वे ॥३८॥
नवा शताब्दीय – मथैक – विश्ये वर्षे भवेदेकतमैव लोके
सर्वेषु राष्ट्रेषु च राष्ट्रमेतत् – शिरोमणिस्य भवतात् प्रदीप्तम् ॥३९॥
विश्वेश्वरश्चेह सदास्मरन्तः शिक्षा स्मरन्तश्च सदा स्मृतीनाम्
स्वसंयमैः संयमितां व्यवस्थाम् दिव्या स्वराष्ट्रे च विभावयन्तु ॥४०॥

इति श्रीविक्रमद्विसहस्राब्दी–महोत्सवावसरे, बीकानेर–
साहित्य सम्मेलनेन चूरू नगरे समायोजिते,
विक्रमाभिनन्दनोत्सवे विद्याधरेण
समर्पितमेतद् विक्रमार्काभिनन्दनम्



॥ श्रीः ॥

अथ शिव पुष्पाञ्जलिः*

विविध कुञ्ज – सुपुञ्ज – समन्विते
परमरम्य – कुरङ्ग – इगङ्किते ।
हिमवति – प्रकृति – प्रतिफुल्लिते
कृतलयः किल य. स तु पातु नः ॥१॥

विद्धे त्वहो वेघसि विन्दुवद् विधौ निमीलिते चैव सहस्र–लोचने
तूष्णीं स्थिते पूष्णि तथाऽच्युते च्युते विषं पिबन्नस्तु शिवाय शंकर ॥२॥

हे हे शशांकमणि–शेखर ! शंकर–स्त्वम्
सर्वे नं किं नु कुरुषे सदृशं स्वयोगम् ।
दृष्टो मया व्यवहृतौ तव भेद एष
'ङ नान्विते' प्रियतमे वत ते गकारे (ङ्ग) ॥३॥

अर्घाङ्गिनी ङ्गेन युताऽथ गङ्गा भङ्गा–भुजङ्गे च युतस्तथायं
किं दूषणं तस्य पुनस्त्वनङ्गे–यद्भस्मसात् त्वं कृतवान् कुरङ्गम् ॥४॥

न दोषभाक्त्वम् परमत्र वाच्यः
दुष्टा यतः सज्जन – चिन्ह भाजः ।
नालक्षिता कुत्र – चिदत्र दृष्टा
दण्डार्थिनो दण्डभृतः सदा स्युः ॥५॥

सुरसिद्धवरं भवभीति – हरम्
चकितं वत ताण्डवनृत्यकरम् ।

---

* यह पुष्पाजली श्रीयुत शास्त्री की सन् १६१५ मे रचित सबसे पहली स्तोत्र कृति है। ५-७ पदो के अतिरिक्त इसके सब पद्य और भाव जैसे उस समय थे वैसे ही अब है ।

सततं जन कल्मषनाश करम्
प्रणमामि हरम् – परपारकरम् ॥६॥

स्वयं त्वं भिक्षूणामपि परमभिक्षु – निगदित·
अपेक्षां सर्वेषां परमिह न किम्पूरयसि नः ।
महाघोरा भूता अथ तव गणाः सन्ति शतश·
न दत्से केभ्यस्त्वम् – परमभयदानं खलु भवे ॥७॥

रम्योऽयं हिमवत्सुता – हृदि सदा कामेश्वरो राजते
योगिभ्यः परमेष योगनिरतो नित्यं समाधौ स्थितः ।
भीमोऽथ त्रिपुरादिभिश्च नितरा हृष्टः स भीतैं भंवे
अस्मभ्यं च भवेद् दयालु–हृदयो नित्य शिवः शकर· ॥८॥

यत्तुभ्यं तु प्रकृति नियमा – सर्वथात्यक्त – मार्गाः
तोयोवन्हि· गरलममृतं सङ्गतन्ते शरीरे ।
तत्किम्मेऽर्थं त्यजति न भवान्स्वल्पमप्यत्र वस्तु
यद्येव स्याद्भवतु समयः प्रार्थना – कर्णनार्थम् ॥६॥

पशूनामीशस्त्वम्परम – जडधी – र्मदिकवर·
ममाशा पूर्णास्यादिति भवति सदेह – चरणम् ।
तथाप्यादाने वै भवतु लघुता वा सुगुरुता
न चिन्तायुक्तं स्यादिति मयि पशुत्वं सुखकरम् ॥१०॥

समायाते विष्णौ पशुपतिरगात् स्वागत कृते
सुबद्ध्वा कौपीन विषधर – गुणे कृत्ति वसने ।
गरुत्मन्त दृष्ट्वा भय – विचकित. कम्पित तनु
महानागो यात· सच परम – नग्नोऽवतु सदा ॥११॥

न याचेऽति द्रव्य नच परमभव्य – म्पशुपते
न दुर्गस्यापेक्षा न च जगदुपेक्षा स्मरहर ।
सुशान्त्या सव्याप्त सुदिनमिह मे यातु सकलम्
सदा शम्भो शूलिन् ! शिव ! शिव ! शिवेति प्रजपत ॥१२॥

दु:ख म्विनाशय विलासय हृत्सरोजम्
ज्ञानम्प्रकाशय मति विमला विधेहि ।
हे चन्द्रशेखर ! गिरीश ! महेश ! शम्भो !
संसार – सागरतटम्परि – दर्शयाशु ॥१३॥

जयत्येष अहो कश्चित् लोकोत्तरवपु– र्धरः
देवाना दानवानाञ्च प्रेष्ठो वर्षिष्ठ – सत्तमः ॥१४॥

मतः संहारक. सृष्टे र्महाकालो महेश्वरः
आशुतोषः परनित्यं दयालु र्धूर्जटी शिव. ॥१५॥

त्रिशूली नीलकण्ठोऽय त्रिनेत्रो वृषवाहन.
नागेशो ह्यथ महान् रुद्रः–उमेशः किन्तु शकरः ॥१६॥

विश्वनाथो महान् देव स्तुतो ब्रह्मादिभि सदा
अद्वितीयो हि गगेश – स्त्रिलोक्यां चन्द्रशेखर ॥१७॥

दीनोऽस्मि कल्मष – युतोऽस्म्यथ – भयान्वितोऽस्मि
ससार – सागर – तरङ्ग – विचालितोऽस्मि ।
शम्भो तदद्य कृपया हि तथा प्रसीद
शीघ्रं यथा जगति भव्यमुपैमि नित्यम् ॥१८॥

प्रदैन्यं दीनानां सकलमथ पाप खल–हृदाम्
त्रिनेत्र – ज्वालातो झटिति शमयन्–सन्–पशुपते ।
स्मृतः स्वान्ते नित्यां विरचय सुशान्ति स्थिरतमाम्
दयासिन्धो स्वामिन् त्वमसि परमं मे बलमिहे ॥१९॥

स्तोतुं न वेद्मि विधिना नच मेऽस्ति बोधः
द्रव्य न वा बहुविधार्चन – पूर्ति योग्यम् ।
जानामि किन्तु ; नियतं दृढ – सत्यमेतत्
हे आशुतोष खलु तुष्यसि ते स्वभावात् ॥२०॥

विद्याधरेण शिव पूजन - तत्परेण
स्तोत्र तु निर्मितमिदं शिवभक्ति - पूर्णम् ।
स्वल्पैः पदैरपि कृतं स्तवनं महन्मे
पूर्णो स्वतः सकलमेव यतो हि पूर्णम् ॥२१॥

ॐ या ते रुद्रशिवा तनू रघोरा पाप काशिनी
तया न स्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि
चाकसी हि ॐ

इति विद्याधरेणार्पिता शिव पुष्पाञ्जलिरियं पूर्णा ।



॥ श्री ॥

अथ लीलालहरी

स्तुतिसौख्यम्

अनन्तेयं लीलाललितलहरी यस्य वितता
स कः सर्वैर्वन्द्यस्त्वमसि विदितश्चाप्यविदितः ।
अजानन्त तन्मा त्वदभिमुखमेवोन्नयति यत्
अलक्ष्यं तल्लक्ष्यं किमपि तव नित्यं विजयते ॥१॥

अथान्तस्तत्त्वे मे स्मृतिरपि मुहुः कस्यचन ते
कुतश्चित् काचित् सा मधुरमधुरोदेति जयिनी ।
ययान्तर्मेरा तत् स्वयमिह सुख गुञ्जति पुनः
यथा चेय सर्वा प्रकृतिसरसा भाति जगति ॥२॥

अहो केयं हृद्या प्रबलमदिरा त्वत्स्मृतिमयी
जराजीर्णाना या स्थिरतममुनीनामपि मनः ।
हठादाकर्षन्ती सपदि च नयन्ती विवशताम्
विधत्ते सर्वास्तान् निजपरविरक्तांश्च नितराम् ॥३॥

धरा धन्या सेय यदुपरि वसन्तो वयमिह
पिबाम कामं त्वत् स्मरणसुखपीयूषमनिशम् ।
जगत्यामानन्द सम इह परस्तेन ननु क.
यमेत्यायं प्राणी स्मरति हि निजात्मानमपि न ॥४॥

अज्ञेया गति

कथ वा किंरूपा स्तुतिरिह विधेया तव परम्
न जाने जाने चेत् तदपि वत जाने कियदहम् ।

भवाश्चर्याब्धौ ते चकितचकितैवाटनपरा
परातीतं वेत्तु भवति न समर्था जनमति ॥५॥

दुरूहा चेद् ज्ञातुं जगति जनमायापि सुतराम्
कथ सा विज्ञेया भवतु तव मायामयगते. ।
अनिर्वाच्या वेदैरथ च मुनिभि – र्ध्याननिरतै
न जिज्ञासावृत्ति कथमपि पर शाम्यति जने ॥६॥

कथंकारं ज्ञेया अथ तव गुणा निर्गुणतनो.
अगण्याना तेषा भवतु गुणिन का च गणना ।
अवाच्ये वाचाम्वा गतिरपि कथ स्याद् गतिपरे
अगम्यो गम्यस्त्व स्वयमिह न चेदत्र भवसि ॥७॥

निरीहं त्वा शान्तं विविधभयचिन्ताहृतधृति.
दिवानक्त षड्भि- प्रबलतमदोषैरभिवृत. ।
कथ ज्ञातुं शक्त प्रकृतिरहित प्राकृतमति
स्वभावाद्भिन्ने हि प्रसरति न भावे मतिगतिः ॥८॥

मनुष्योऽह जाने मनुजनिकथामेव कठिनाम्
मनोवीचिव्रातैर्विचलितगति द्वन्द्वमुखराम् ।
असत्यै पूर्णैषा प्रकृतिचपला सशयमयैः
कथ पश्येत् सत्य किमपि तव भाव शिवमयम् ॥९॥

अनन्तास्त्वन्मार्गा विविधविषयो यामि कतमम्
न जाने तन्मूढ. सरलसरलं चेन्न दिशसि ।
यमेवालम्बे वा भव सहचरस्तत्र सहसा
मयान्वेष्टु शक्यो नहि कथमपि त्व युगशतै- ॥१०॥

स्थिर शान्त केचित् क्षणिकमखिलं केचन पुन
परं शून्य केचित् प्रकृतिसहितं केचन परे ।
भवे त्वामेवैक ददृशुरथ चान्ये विकसितम्
मदालोके त्व तत् तदपि न च सर्वञ्च भवसि ॥११॥

व्यतीता साहस्री ननु नहि युगानां न कियती
कियन्तो वा यत्ना ननु नहि कृतास्त्वा मृगयितुम् ।
तथापि त्वं दृष्टः क्षणमपि भवे केन भगवन्
सदैवादृष्टो य प्रदिशसि दिशो न· प्रतिदिशम् ॥१२॥

विभोर्वैभवम्-प्रत्यक्षानुभूति

अदृष्टोऽपि स्वामिन् नहि परमसि त्वं परतर
क्व सार्थी त्वत्तुल्य· पर इह भवे कोऽपि सुलभ ।
जगत्या प्रत्यक्षं स्फुरति तव सत्ता प्रतिकणम्
क्षण. कोऽसौ यस्मिन् नहि सह मया त्वं हि रमसे ॥१३॥

क्व तत् स्थानं किञ्चित् स्थितिरिह न ते यत्र नियता
स कोण. क्वास्ते वा तव शुभदृशा फुल्लति न य ।
तवैवेद रूपं प्रकृतिवदने प्रस्फुरति यत्
तवैवैषा लीला जनयति च लोकानगणितान् ॥१४॥

इमां ते प्रत्यक्षा प्रतिगतितता दिव्यसुषमाम्
विलोक्य प्रत्यक्षं किमिति कुमति पश्यति न ताम् ।
ऋते मूलं रम्या प्रसरतु कुत· प्रसृतिरियम्
कुतो वैतत् सर्वं विकसतु च शून्येऽप्यनुपमम् ॥१५॥

हसन्ती बालाना स्मितिषु कुसुमेषु प्रतिदलम्
तरङ्गे तोयाना जलदपटलीना परिसरे ।
सतां सौम्ये भावे स्फुरितचरिता स्नेहसरसे
प्रकाशं सा पूर्णं जगति लभते मातृहृदये ॥१६॥

तवैवेमा लोके विकिरति सुधामेष च शशी
प्रकामं पीत्वा यां पय इव जगत्या परिसृताम् ।
मनो मे लावण्यामृतजलधिपूराप्लुतमिदम्
न का शान्ति, सौख्यं, रसपरिणतिं वा व्रजति न ॥१७॥

तवैवायं मोदो गतिमथ – जडस्यापि कुरुते
भृश हर्षोत्सिक्ता जलदपटली वर्षति यतः ।
स्थितोऽसौ संहृष्टो धवलहिमहासैर्हिमगिरिः
प्रमत्तेवामोदात् प्रवहति तथैव सुरसरित् ॥१८॥

तमिस्रा घोरापि प्रतिहसति नक्षत्रनिचयैः
श्मशानेऽपि ज्वाला वमति यदि कान्तिश्च रहसि ।
मरौ शुष्का धूली नटति यदि चेयं तरलिता
क नास्ते नृत्यन्ती सहजचपला ते नु रचना ॥१९॥

विशाला रङ्गस्थली

कियद्रम्यं चेदं लसति खलु ते रंगभवनम्
विचित्रं नीलाभं यदुपरि वितान परिततम् ।
सुखं यस्मिन् धीरो वहति पवनो मन्दसुरभि.
विधत्तश्चन्द्रार्कौ सततमिह यच्च द्युतिमयम् ॥२०॥

समं सर्वैर्भोक्तुं खगमृगनरैर्भेदरहितैः
समास्तीर्णा भूमी हरितहरितैः पुष्पितकुशैः ।
स्वघोषैर्गम्भीरो जलदपटहो नर्दति मुहु.
धुनाना मूर्धानं, सहृदयवनाली पुलकिता ॥२१॥

सदा चास्मिन् पेया निभृतनिभृतं मोहमदिरा
न कैश्चिन् प्रष्टव्यं प्रतिपलमिमां पाययति कः ।
न तृप्तः कश्चित्ता मुहुरिह निपीयापि नितराम्
परं नृत्यन् सर्वः परिसरति मत्तः प्रतिदिनम् ॥२२॥

द्वैविध्यम्

तदेतन् सत्य ते निखिलमिदमास्ते प्रियतमम्
भृश त्वद्द्वैविध्य परमिदमहो मोहयति माम् ।

क्षणेऽस्मिन् प्रत्यक्ष. पुनरथ परोक्षः परपले
पुरो दर्शं दर्शं भवसि नहि जाने क निभृतः ॥२३॥

दशेयं ते चित्रा क्वचन सरसा कापि विरसा
क्वचिच्चित्रं मृद्वी क्वचिदपि च भीमातिकठिना ।
विभात्यस्या काचित् स्थिरतमगतिस्ते न भगवन्
मुहुर्ध्रौव्याध्रौव्ये मनुसुतमति पातयति या ॥२४॥

क्वचिद्रम्यं सौम्यं प्रतिजनमनोहारि मृदुलम्
हसत् खेलत् चंचत् निखिलमपि रूपं तव शिवम् ।
स्वतन्त्रं येनाय शिशुरपि यथेच्छ विहरति
तमोरेखा काचित् परिभवति यस्मिन्न च क्षम् ॥२५॥

क्वचिद्रौद्रं रूप प्रकटयसि तत् किन्तु विषमम्
समेषा मूर्धानो विनमति यदग्रे खलु भिया ।
न बोद्धुं तत् शक्यं विविधविधिबुद्धैरपि बुधै
दयार्द्रा यस्मिंस्ते न च मृदुलता कापि लसति ॥२६॥

त्वया सार्ध तस्मिन् प्रकृतिरपि ते भीषणतमा
तमस्तोमै विश्व निगलितुमिवैषा प्रयतते ।
रणज् —— झंझावातप्रहततरुकाण्ड–प्रपतनैः
प्रहारैर्वज्राणां चलति च गिरीणामचलता ॥२७॥

कदाचित् कल्पान्तप्रलयविकलैः सर्वभुवनैः
शृणोषि त्वं घोरं कृतमपि नहि क्रन्दनमहो ।
कदाचित् क्षोदिष्ठं कृमिमपि — परित्रातुमबलम्
त्रिलोकी सन्त्यज्य द्रवसि सपदि त्वं करुणया ॥२८॥

क्वचिद् वीभत्सेऽपि स्फुटति तव चेत् कान्तिकलिका
क्वचित् कान्तेऽप्येषा भवति नितरामेव निकृता ।
क्वचिद् दुर्गोऽप्यद्रिर्यदि सहजगम्यः शिशुकृते
क्वचिद् गन्तु नैकं प्रभवति गरुत्मानपि पदम् ॥२९॥

श्वसन् श्रान्तः क्लान्तः सकलविधसाहाय्य – रहितः
यदा चायं प्राणी हृतजठरपूर्त्यै विलपति ।
क्व तत्ते बन्धुत्वं क्व च तव दया याति विलयम्
कथम्वा जायेथा जनहृदयतोऽप्यूनहृदय· ।।३०।।

विशेषो वा कश्चित् महति च लघौ ते नहि भवेत्
यथा क्ष्माभृत् तद्वत् तव दृशि रज.क्षुद्रकणिका ।
विरुद्धार्था धर्मा भवति सुगता· सन्तु निखिला
गतिस्ते मल्लोके परमिह न कापित् समरसा ।।३१।।

जीवनसमस्या

वय सृष्टाः सर्वे समविपमभावैर्विचलिता·
अशान्ता दुर्ग्रस्ता दुरितसदनैर्द्वेषदहनै ।
समानोपादाने प्रकृतिकृतसाम्येऽपि किमु न·
स्वभावोऽयं भिन्नः प्रभुवर ! न तद् वेद्मि सुतराम् ।।३२।।

किमर्थं भेदोऽय कलहजनकः स्फूर्जतितराम्
किमर्थं सघर्ष· प्रचलति च नित्यं प्रतिकणम् ।
अधर्मोऽयं धर्मे कुत इह पवित्रे प्रविशति
सुधापात्रे हृद्ये मिलति च कुतोऽय विषरस· ।।३३।।

क्वचिन्नग्न स्वार्थं· कणकणकृते नृत्यति जने
क्वचित् प्राणाश्चापि त्यजति च परोऽय परहिते ।
क्वचिन्मग्नः कश्चित् विकिरति समन्तात् स्मितिसुधाम्
क्वचिच्चान्य क्रन्दन् करुणमिह लोकं व्यथयति ।।३४।।

न लक्ष्य न. किञ्चित् क्वचिदपि भवेऽस्मिन् स्थिरतमम्
न विश्वास. कश्चित् किमु परपले चेह घटताम् ।
तथाप्यन्धा मूका प्रतिपलमहो धावनपरा·
युगान्ताना केषां दिशि दिशि न कुर्मो नियमनम् ।।३५।।

अभावोऽयं कस्य क्षिपति कलहाग्नौ ननु नरान्
मतिर्वा संकीर्णा किमु परसुखं नैव सहते ।
इदं त्वं नैयून्यं व्यपनय कथञ्चिद् भव ! भवात्
उदासीनां वृत्तिं त्यज सृज नवीनाञ्च रचनाम् ॥३६॥

अनन्तेऽनन्ताः का ननु नच कृता लोकरचना
नगण्ये क्षिप्ताश्च क्वचिदपि कुकोणे न कतमे ।
स्वयं तेभ्यो दूरे निवससि समाधौ स्वपिषि च
कटाहे जीवान्न क्षिपसि परितप्ते किमु परम् ॥३७॥

अशान्ता जगती

पुरा सृष्ट्वा सृष्टिं प्रतिपलचलां शान्तिविमुखीम्
कथं क्वेदानीम्बा स्वगतमिह सौख्यं मृगयसे ।
न युक्तोऽयं स्वापो रहसि जलधौ तेऽद्य भगवन् !
जगत्याश्चक्रेऽस्मिन् चलति नितरां लक्ष्यविकले ॥३८॥

अलक्ष्यादुत्पन्ने सरति च तथाऽलक्ष्यसरणिम्
समालम्बः कोऽन्यः शरणद बिना त्वां तनुभृताम् ।
जगद्बन्धो नेयं तव जगदुपेक्षा समुचिता
उदास्ते स्निग्धे यत् हृदयमपि तत् किं नु हृदयम् ॥३९॥

न जाने राधां कामनुसरसि मत्तः प्रतिपलम्
कदा वा योगः स्यात् सततविरहिस्ते ननु तया ।
युगेभ्योऽप्येषा चेद् भवति न समस्या हि सरला
किमर्थं व्यर्थं नो हरसि सह दीनानपि नरान् ॥४०॥

"नः कुर्याद् विश्रामं क्षणमपि कण कश्चन भवे"
तवादेशो नूनं परमविकटोऽयं च ननु कं ।
महाशान्तेऽशान्ता प्रकृतिरियमुप्ता त्वयि, कुतः
स्थिरे वृत्तिः केयं तव च परिवृत्तिप्रियरसा ॥४१॥

"नहि स्थेयं कैश्चित् कथमपि भवैकभ्रमिरतै
गृहाबद्धैर्यद्वा — निजतनुनिबद्धैर्भवजनैः ।"
इदं चेदाज्ञा ते शिरसि निहिता मौनवचनैः
चलच्चक्रं किन्तु त्यजतु कथमद्धा निजधुरम् ॥४२॥

क्वचिच्चेन्नेतव्य नय खलु यथेच्छ परमसौ
सुखं शान्त्या नेयो नहि च परिपीड्यः स्वकशया ।
अनन्तः कालस्ते नहि च जनुषा कापि गणना
क्व नेतुं व्यग्रस्तत् सपदि खलु पारे प्रयतसे ॥४३॥

परिपूर्णा सृष्टिः

मदीयः पारोऽय यदपि परिवीक्षे परिततम्
परं गत्वा पारं क्व मम गमन वेद्मि नहि तत् ।
मितेऽप्यस्मिल्लोके यदि गतिरिय मे विचलिता
कियद्रूपा पारे भवतु वत सा वेत्तु ननु कः ॥४४॥

मदर्थं रम्यास्ते प्रतिपदमियं ते च जगती
क्व गन्तव्य दूरे क्वचिदपि परेऽस्या खलु मया ।
इयं भुक्तेर्मुक्तेरपि च परमा प्रेमवसतिः
इहैवच्छेद्या मे सपदि भव – पाशा स्वकृपया ॥४५॥

पिवेयुः पीयूषं दिवि पुलकिता नित्यममराः
समाधौ लीन वा भवतु तव पञ्चीकृतमिदम् ।
मया लोके स्थेय निजनियतकृत्य विदधता
न मृत्युर्मृत्युर्मे भवति यदि यज्ञे क्वचिदयम् ॥४६॥

ध्रुवं भीमो मृत्युः प्रकृतिविहितश्चाथ स विधिः
पर तच्चेद् धर्म्यं मरणमपि सञ्जीवयति नः ।
समीहे प्राणाना चरमगमनात् प्राक् कथमपि
तपः सौख्ये लीनं भवतु भुवि मज्जीवनमिदम् ॥४७॥

क्वचिद् गगातीरे सुखमयसमीरे परिवसन्
नयेय काल मे निहितहृदयस्ते चरणयो ।
प्रसन्नात्मा नित्यं सुकृतसुकृतौ- संधृतमति.
प्रसेक्ता स्नेहाना मननतपसा दग्धदुरित. ॥४८॥

न याचे तेऽद्वैतम् व्रजति निखिल यत्र विलयम्
न वा कश्चिद् यस्मिन् प्रणयसरसामस्यति दृशम् ।
स योगो लोकाना भवतु सहज सम्प्रति भुवा
यतोऽहं निर्बाधो दिशि दिशि चरेय दशरथ ॥४९॥

नवीना व्यवस्था

इमामेव त्व तत् सुरचय तथा नव्यविधिना
यथा सर्वेऽप्यस्या निजनिजशुभे कर्मणि रताः ।
जना शुद्धात्मानो विमलविभवैस्तुष्टमनस
स्वधर्मे सन्नद्धा. स्वसुखमधिगच्छन्ति सुधिय. ॥५०॥

जन कश्चिन्नास्या परवश इहास्ता क्षणमपि
न कश्चित् पापेभ्यः प्रभवतु तथास्यामवसरः ।
परायत्ताल्लोकाद् भवति नहि दु खं परतरम्
सपापा वृत्तिश्चेत् परमविकटा को न च पतेत् ॥५१॥

विजेता दोषाणा प्रभुचरणसलब्धशरण
निजां सृष्टिं नव्या जन इह यथेच्छस्व सृजतु ।
न वैफल्यं तस्या फलतु हृदि नैराश्यरजनीम्
न षड्वर्ग सीमा त्यजतु नियतामत्र च निजाम् ॥५२॥

धनाधीना चेयं नखलु निखिला जीवनगति.
गुणानां सघर्षे भवतु न च तामिस्रविजय ।
न हीन स्यात् कश्चित् हृदि न च पुनर्वृत्तिकृपण
न कश्चिद् दुष्टाना खलबलकुचक्रं च सहताम् ॥५३॥

अहंरूपो व्याधिः

नचाप्यस्मिल्लोके समरसविरोधी हतविधिः
अहंरूपो व्याधिर्भवतु सबलः सम्प्रति पुनः ।
सदाचारध्वंसी समुदयविनाशी सुखरिपुः
निवासः सर्वेषामविनयचमूनामनृतभाक् ॥५४॥

यदाक्रान्तो लोके प्रलपति न किं किं हि पतित
क्षणे लीनो घोरे तमसि मनुजोऽयं जडमतिः ।
"अहं कर्ता हर्ता त्रिभुवनपतिः सर्वगतिकः
मयैवाय सृष्टः प्रभुरिति जनैः सम्प्रति वृतः" ॥५५॥

गुणौर्यैः संसर्गो भवति भवतो न कुहचित्
सदावृण्वंस्तैस्त्वामतिविकृतभावैरथ निजैः ।
प्रयुञ्जानस्तुभ्यं घृणितघृणितं दुष्टवचनम्
प्रतिस्पर्धी क्वासौ भवितुमिह ते न प्रयतते ॥५६॥

अद्यतनः पतितो मानवः

मनुष्योऽसौ पापोऽखिलभुवमधिष्ठाय कुमतिः
परेषां जन्तूनां स्थितिमपि न चेदद्य सहते ।
कुतः केय नीचा दुरितहतके वृत्तिरुदिता
स कर्तुं भूतात्मन् स्तुतिमपि न योग्यस्तव यथा ॥५७॥

विहायैनां योनिं मनुजदुरितैर्ध्वस्तचरिताम्
कदाचिद् वाञ्छेयं तरलयति चित्तं बलवती ।
स्वतन्त्रे कस्मिंश्चिद् जगति विचरेय नवतमे
स्वसीमा नोल्लघ्या विधिरयमलङ्घ्यस्तव परम् ॥५८॥

तमो नेदं घोरं प्रसरतु नवीने तव भवे
पिशाची तृष्णापि प्रलयकरनाट्यं न नटतु ।

प्रसन्न सर्वस्मै वितरतु जनः स्वार्थमखिलम्
स्वतः स्यात् सम्प्राप्तो निजनियत–भागश्च निखिलैः ॥५९॥

इयं दुष्टा तृष्णा जनयति कुकृत्यं न नहि किम्
न वा के तज्ज्वालाज्वलितमनसोऽशान्तमतय ।
स्वनाशं लोकेऽस्मिन् नहि विदधते हन्त मनुजा.
क्षणं संरुध्येमा वितर परितोषं सुखकरम् ॥६०॥

सन्तोष:

सवत्से द्वे धेनू हरितवसनो भूमिशकलः
गृहस्थे सन्तोषो मनसि तव पुण्या स्मृतिकथा ।
इद चेल्लब्धं स्यात् किमु पुनरहो काम्यमिह नः
वृथा पृथ्वी सर्वा खनति मनुजाखु. खलु खलः ॥६१॥

इदं नो व्यग्रत्वं प्रतिसमय – दुर्भावनपरम्
त्वयि श्रद्धाशून्यं व्यथयतु न नः सम्प्रति मुहु ।
न चाप्यस्या सर्वग्रसननिपुणोऽमोघगतिक.
महाकालोऽकाले विचरतु तवासावनियतः ॥६२॥

भीमा कालगति.

यतः सर्वं सद्यो विगतगतिका संसृतिरियम्
न यत्राशा काचित् किमपि नच स्थय वत स्थोः ।
तदेतत्ते कृत्यं प्रतिहृदयविस्फोटविषमम्
वराक संसारी कथमिव विधे कोऽपि सहताम् ॥६३॥

जना वेपन्ते यत्स्मृतिमपि निधायैव मनसि
न सोढुं शक्या सा तव गतिरियं तामसमयी ।
किमप्येकं पुष्पं विकसितिविहीनं नहि पतेत्
लभन्ता सम्पूर्णां निज विकसितिं ह्यत्र निखिला ॥६४॥

अजस्रं चिन्ताभिः परिरणितचित्तो हृतधृतिः
महामोहभ्रान्तो हृदयगतपाशै – र्निगडितः ।
शरीरी कायं ते क्षणमिह सरन् याति विलयम्
निजान् त्यक्त्वा बन्धून् सपदि रुदतो हन्त करुणम् ।।६५।।

सदैवास्मै रक्ष्यं सदयमिह चित्तं खलु निजम्
सदैवास्मै देयाः स्थिरसुखमयाश्चापि दिवसाः ।
यदैवासौ स्वस्थः पिबति च रसं कञ्चन सुखम्
तदैवासौ क्षेप्यो नहि च विषमे हन्त तरसा ।।६६।।

तमसो मा ज्योतिर्गमय

अनन्तेयं यात्रा तव भवपयोधेर्दुरयना
महाग्राहैः क्षुब्धा भ्रमरगतचक्रैश्च निचिता ।
न यावत् पारोऽस्या नयनपथमायाति कुहचित्
समाक्रान्तास्तावत् पुनरपि भवामोऽन्धतिमिरैः ।।६७।।

अहं मन्ये न्यस्तो मयि मननदीपोऽपि भवता
प्रदीपः किन्त्वास्ते परमचपलोऽयं तव पितः ।
क्षणेनायं वातैर्लघुभिरपि यत् शाम्यति मुहुः
स्थिरं तस्मात् कञ्चिद् वितर वरदालोकमधुना ।।६८।।

ज्ञान-कर्म-उपासना-समन्वय.

रुचिस्ते सत्कार्ये बुधजनसमीहापि च तथा
कथं स्यात् तद्वृद्धिः परमिह भवे पापबहुले ।
समस्येयं नित्यं रिपुगतवृतान् चालयति न
त्वयैवेयं साध्या प्रभुवर वतैषा स्थितिरियम् ।।६९।।

मदीयं यद् ज्ञानं भवतु सकलं तत् कृतिपरम्
स्वभावादुल्लासो लसतु च कृतौ कर्तृहृदये ।

स्वकर्तव्यात् कश्चित् क्वचिदपि न जायेत विमुखः
न कालक्षेपो वा प्रकृतिनियते कर्मणि भवेत् ॥७०॥

हसन्ती गायन्ती चलतु मम घट्टी प्रतिपलम्
सदा नृत्यन्त्ये प्रवहतु च मे जीवनसरित् ।
क्वचित् काचिद् बाधा पथि समवरोद्धु पतति चेत्
प्रमत्तेव भूयो घरघररवा नृत्यतुतमाम् ॥७१॥

प्रतप्तः शीतार्तः कठिनगिरिभिर्मर्मणि हृतः
अयोयन्त्रागार – प्रतिगतकुधूमैः कलुषितः ।
कदा वातः क्षुब्धो निजनियतकृत्याद् विरमते
कदायं पूतात्मा पुनरपि न वा पावयति नः ॥७२॥

अभावस्याभावः

अभावश्चेत् कश्चित् पुनरपि युगेऽस्मिन् प्रभवतु
स्वयं तस्मिन् भावे भवतु परिपूर्तिः प्रियतमा ।
स्थिते त्वद्भावेऽस्मिन् ननु कुत उदीयाद् विरसता
कुतो वा नैयून्यं किमपि परिपूर्णेऽपि विशतु ॥७३॥

आशासूत्रम्

कुतश्चित् साहाय्य नियतमिह लप्स्ये तव पितः
मम क्षीणामाशामपि धृतिरियं रक्षति सदा ।
इय रक्ष्या नित्य प्रतिहृदय – संधानधमनी
विलुप्येतेयं चेत् किमपि शरण मे न भुवने ॥७४॥

शरीर मे कामं प्रचुरतमदोषैकसदनम्
विशुद्धैः सद्भावैर्न च मम मनश्चापि विमलम् ।
न योग्यं तत्स्थान क्वचिदपि भवान् यत्र विशतु
स्पृशेच्चेरो दृष्टि स्वयमिह न पङ्केऽपि पतितम् ॥७५॥

आशंसा

इमे प्राणा यावत् स्फुरितगतयः सन्ति वपुषि
स्वरैस्तावद्रम्यैः सततसरसैः कैश्चन तव ।
समासज्येभ्यस्तत् मधुरतमगीतं प्रकटये –
यतः सर्वो लोको भवति सुखमग्नः स्वयमयम् ॥७६॥

यदेते गायन्तु त्वमपि मुदितस्तत् शृणु पुन.
प्रसन्नः सर्वात्मन् स्वयमिह रसं तच्च वितरेः ।
यत. सर्वा क्लान्तिर्मनुजमनसो याति विलयम्
अनित्ये नित्यत्वं विकसति च पूर्णं प्रतिकरणम् ॥७७॥

यदा चेयं मूका भवति ममतन्त्री स्वरगतौ
जनैः प्रोत्क्षिप्ता वा ज्वलति हुतवाहे क्वचिदपि ।
परिस्तीर्णा ये स्युर्दिशि दिशि ततः केऽपि शकला.
चरद्भिर्गेयास्तैरपि तव सुख कीर्तिलहरी ॥७८॥

स्तुतं किं लोकेऽस्मिन् स्तुत इह न चेत् ते गुणगण
सुगीतं वा तत् कि तव यदि न गीत खलु यश ।
इय बुद्धिर्व्यर्था विमृशति न चेत्सा प्रभुपदम्
वृथा सर्वो लोको यदि न च तवालोकनमिह ॥७९॥

नास्तितत्त्वम्

निषेद्धुं कः शक्तो जगति तव सत्तामिह विभो !
त्वमेकस्मिन् रूपे कथमिह समाकुञ्चतु परम् ।
निषिध्य त्वा सत्ता भवसि विशदस्त्व प्रतिकणम्
कथं कश्चिद् विन्देत् निजगतिगतिं त्वा त्वितरथा ॥८०॥

अणोरप्यज्ञेय भवति निपुणैर्यस्य च बलम्
प्रमेयं सामर्थ्यं कथमिह भवेत्तस्य निखिलम् ।

तथाप्येतद् गुप्तं यदि सततमेवावसि दृशो.
प्रदर्श्य तत् कस्मै क इह च समालोकयतु तत् ॥८१॥

"ऋते निर्देशात्ते दलमिह चलत्येकमपि न"
ध्रुवेऽस्मिन् विश्वासे यदि मम मन संशयपरम् ।
जगत्स्वामिन् सेयं प्रकृतिरपसार्या सपदि मे
तथाऽधेया काचित् स्थिरतरमतिः शान्तमनसि ॥८२॥

मातृभावः

अये मातर्मातः सकृदिति तु बाले निगदिते
किमन्यद् वक्तव्यं झगिति जननी धावति यदि ।
स्वभावोऽयं सिद्धः प्रथिततमभावो भवविधौ
किमर्थं तन्मूढः पुनरिह मुधा रोदिमि मुहुः ॥८३॥

मनस्ते तत् कीदृक् परमकरुणं स्नेहसरसम्
सदा स्वार्थत्यागे निहितनिजभावं मृदुतमम् ।
सदाशाकल्लोलैः प्रतिपलचल येन रचितम्
जगत् कल्याणार्थं शिवमयमिदं मातृहृदयम् ॥८४॥

विपद् वज्राघाते प्रतिहतगति शीर्णहृदयः
निराशाक्रान्तोऽयं तव शिव ! पुरस्तान्नतमना ।
सविश्वास सर्वं हृदयगतमावेद्य हि जन.
स्थिरा शान्तिं शक्तिं सपदि लभते का न च धृतिम् ॥८५॥

आत्मसर्पणम्

तथाप्येन चिन्ता विकलयति चित्तं यदि मृषा
त्वया चिन्त्यं सर्वं निजकृतिकृते चिन्त्यमिह यत् ।
वयं के कर्तारः जगति करणीयं च किमहो
तथा नित्यं यामो भव ! भुवि यथा प्रेरयसि न ॥८६॥

कृतश्चेत्स्वाधीनो निजकृतिकृते निर्भरमहम्
मदीयाशशेय प्रभुवर ! वसेयं तव वशे ।
चलेयं मे बुद्धि सततमभिभूता कुरजसा
क्षमा स्पष्टं द्रष्टुं किमपि नहि ते सद्द्युतिमृते ॥८७॥

असीम्नस्ते रूपं यदि मयि ससीमेऽपि लसति
क्षणेऽनन्तात् पारे व्रजति यदि चेद मम मन ।
क्क लीमं किञ्चिन्मे स्फुरति यदि बोधे सपदि तत्
अहेतौ कारुण्ये तदिह तव कि स्या न कृतवित् ॥८८॥

सारस्वतो विलासः

शिवं सत्य सौम्यं प्रतिहृदयरम्य नवनवम्
स्वगीत गायन्ती मधुरमधुर पद्मसदने ।
प्रसन्नावाणी मे मनसि जगदानन्दजननी
स्ववासं कल्पेत प्रहसितमुखी सम्प्रति सदा ॥८९॥

परोक्ष प्रत्यक्षं यदुदितदृशा पश्यति जन
यया स्वल्पोऽप्यात्मा भवति परमात्मा सपदि च ।
सदा सेयं शक्तिस्तव मम मनोऽन्तर्गततमो
निरस्यन्ती दूरं विमलतमभासाद्य लसतु ॥९०॥

उपनिवेदनम्

सुख कि नो भुक्त तव सुखमये शान्तिसदने
न किं कि विज्ञात परममनुभूत न च नवम् ।
सुख दुखे दुःख पुनरपि सुसौख्ये परिणतम्
तवातिथ्ये दृष्टा परमिह न काचिद् विरसता ॥९१॥

भवाद् यद् वैराग्यं भवति भवतश्चापि यदि तत्
कदाचित् जात तत् शरणविमुखेऽस्मिन् शरणद !

सदा सर्वे क्षम्या विचलितधियो मर्त्यतनया
विरागे रागे वा वयमिह पराधीनमतयः ॥९२॥

जगत्यां या काचित् ज्वलनकणिकापि ज्वलति ते
तयाप्यस्मल्लाभो भवति नियतो वेद्मि नहि वा ।
मया दृष्ट सर्वं तव जगति नूनं शिवमयम्
न तद्दु ख दु ख यदिह परिणामे सुखकरम् ॥९३॥

दयासिन्धो ! बन्धो ! त्रिभुवनभवानामनुपदम्
अपारे ससारे तव चरणयोरेव शरणम् ।
प्रकाम भोक्तव्यं निजनिजकृतीनामिह फलम्
तवाधार स्वामिन् भवतु सुदृढ किन्तु सततम् ॥९४॥

सदा सर्वं यत्तत् कथयितुमय धृष्टवचन
जगद्बन्धो ! क्षम्य· किमपि गदित नेदनुचितम् ।
न जाने किं वाच्य किमिह न च वाच्यं प्रभुपदे
स्वभावात् सन्तोषो भवतु भवतो बालभणितौ ॥९५॥

न जाने सर्वस्व तव चरणयोर्न्यस्य निभृतम्
पिबामि त्वद्भक्तिद्रवितहृदय संसृतिरसम् ।
अभिन्नान्तर्भेदप्रणयसुलभा — सख्यपदवीम्
स्वतन्त्रा वा वृण्वे स्वमतमपि वक्तुं गतभय ॥९६॥

करक्षेपोऽन्येषा कृतिषु न विधेय योऽत्र कुहचित्
विधाने लोकाना प्रबलतम आस्ते विधिरयम् ।
तथापि त्वा वेत्तुं यदि मयि सदैव ग्रहिलता
ममाय क्षन्तव्य· प्रतिजनिकृतो दोषनिकर ॥९७॥

स्ववृत्त्यर्थं हिंसानिरतगतिकानामथ नृणाम्
क्षमा त्यक्त्वा ते न· क्व नु दुरितभाजामिह गति· ।
कृपैषा ते नून परमकरुणापूर्ण — मनस
यदस्मान् पापिष्ठानपि सुकृतभाज प्रकुरुषे ॥९८॥

मदीयं वाऽन्येषा भवति च निवेद्य यदपि ते
फल तत् पूर्णं त्वत् श्रुतिपथगतेरद्य लभताम् ।
क्वचित् कश्चिल्लोके किमपि शृणुयात् नापि शृणुयात्
शृणोषि त्व नित्य तदिह सुदृढ विश्वसिमि तत् ॥९९॥

कदाचिन्मीमासे किमु फलमहो नामजपने
सकृत प्रोक्त कि तद् विशति हृदये नैव भवत. ।
प्रतीक्षा द्वारे ते पलमपि कथं स्यात्समुचिता
उताहो राज्ये ते चिरकृततपस्यैव फलति ॥१००॥

न यस्मादस्वस्थो रसयति रस किन्तु तपस·
पुरा तत् प्राणा मे दृढतम विधेया दृढतरा ।
बल देयं देय· खलदलविदारी च विजय.
अशक्ताना लोके भवति दयनीया बत गतिः ॥१०१॥

त्वदीया या काचित् हृदि समुदिता स्वात्मलहरी
यथा चेमे शब्दा नभसि विहरन्त· प्रकटिता ।
तथा सर्व तुभ्यं भवभयहरायार्पितमिदम्
पठन् शृण्वन्नेतत् सकलसुखभाक् स्यात्तव जनः ॥१०२॥

नमस्ते सच्चिदानन्द नमस्ते प्रभवे विभो !
जगद्–भर्त्रे नमो नित्य नमस्ते च भवात्मने ॥१०३॥

देवीप्रसादतनयो द्रुपदात्मजाया·*
मातु–र्वचोभि – रभि – लब्ध – हरि – प्रसक्ति· ।
विद्याधरोऽर्पयति यत् हरनामतृप्त्यै
नित्यं तदेव भवताद् भवभीतिहारि ॥१०४॥

लीला च ते भवतु सर्वसुखै. समेता
गाढश्च सगयतमो भवतादपास्तम् ।

---

* द्रौपदीदेवी

वर्षामृतैर्वसुमती मुदिता सदास्ताम्
ससारवह्निशमनश्च भवप्रसादात् ॥१०५॥

श्रीपुष्पदन्तस्य महामहिम्न. स्तोत्रस्य पाठे निरतेन नित्यम्
सद्दर्शनावाप्त–सदाशयेन भावाञ्जलि. कोऽपि समर्पितोऽयम् ॥१०६॥

एकोऽपि – कश्चिद्यदि – मामकेन
स्तोत्रेण काचित् सु लभेत शान्तिम् ।
मन्ये श्रुत सर्वमिदं विधात्रा
भक्तार्तिहर्त्रा – सुखशान्तिदात्रा ॥१०७॥

त्व योऽसि यद्रूपमयश्च धातर्यथा च लोकप्रगति विधत्से
तथैव मान्योऽसि मतो मम त्वं सर्वा गतिस्ते जगता शुभाय ॥१०८॥

एक एव भवाधार, एकमेव च साधनम्
भगवन्नाम सकीर्त्य शुभ कर्म समाचरेत् ॥१०९॥

इमा भागवती श्रुत्वा स्तुति मे सर्वसौख्यदाम्
सद्बुद्धिश्च नवोत्साह सर्व. सर्वत्र विन्दतु ॥११०॥

इति विद्यावाचस्पति श्रीदेवीप्रसाद शास्त्रि तनयेन —
विद्याधर शास्त्रिणा गीता प्रभुलीला—
लहरीयं गीयतां सानन्दमन्यैरपि भक्तिरस रसिकै सहृदयैः



॥ श्री ॥

अथ हिमाद्रिमाहात्म्यम्

श्री मालवीय उवाच—

शक्ति – पुत्रम्प्रणम्याहं गणेश विघ्न – नाशनम्
त्रिपुरारि महादेवं सेनानी च महाबलम् ॥१॥

हिमाद्रे – र्वच्मि माहात्म्यं नानापत्ति – निवारकम्
जीवन भारतीयाना शिवप्रीतिकर परम् ॥२॥

यस्य संस्मरण नित्य निधानं सर्वसम्पदाम्
विस्मरण च विज्ञेयं निदानं विविधापदाम् ॥३॥

राष्ट्र रक्षा करं नित्यं विश्वशान्ति – विवर्धकम्
विज्ञै सर्वत्र सश्राव्यं ग्रामे ग्रामे गृहे गृहे ॥४॥

यूय वेत्थ महाभागा देवतात्मा हिमालय
नगानामधिपो दिव्यो पूज्योऽस्माक सनातन ॥५॥

एष न सर्वशक्तीना पोषक पालकस्तथा
युगेभ्यो रक्षकोऽस्माक सर्वसौख्य – प्रदायक ॥६॥

देवनद्योऽत्र सभूता मान्या भारतमातर
स्नान्ति सप्तर्षय – श्चास्मिन् नित्य सरसि मानसे ॥७॥

पुराणेष्वस्य माहात्म्य महद् व्यासेन वर्णितम्
कालिदासेन बाणेन स्वकाव्येषु पुन र्मुहु ॥८॥

स्थितोऽस्मिन् सह पार्वत्या सर्व – दुःख हरो हरः
जगत पितरावेतौ पालकौ न सनातनौ ॥९॥

अत्र नारायणः साक्षात् राजते बद्रि – पर्वते
भुक्त्यै मुक्त्यै सदा यात्रा जनैरत्र विधीयताम् ॥१०॥

अत्र दिव्याश्रमा भव्या अत्र तीर्था सहस्रशः
अनन्तरत्न – पूर्णोऽयं दिव्यौषध – विभूषितः ॥११॥

तपस्विना तपोभूमि शुक्ल शान्तो हिमालयः
युगेभ्योऽपेक्षते शान्ति लोके सार्वत्रिकी स्थिराम् ॥१२॥

नित्यं द्रष्टव्यम स्माभिः शान्तिरस्य हि दुर्जनै·
भग्ना न क्रियते कैश्चित् शुक्लिमा न च नाश्यते ॥१३॥

अजस्रं ह्यस्य वैशिष्ट्यं ध्येयं भारतजै जैनै.
विस्मृते महती हानि ध्रुवमेतद् ब्रवीमि व· ॥१४॥

श्रोतार कथयन्ति—

सर्वमेतत् परं सत्यं शक्तिदं मुक्तिदं महत्
नवीने भारतेवर्षे नैवं किन्तु विमृश्यते ॥१५॥

तीर्थबुद्धि – विलुप्ता न नष्टा कष्ट – सहिष्णुता
ग्रीष्मामोदे रताना न. – तपः शक्ति विलोपिता ॥१६॥

श्रुत्वैतत् परमं खिन्नो मालवीयो महामना
तत. प्राह सनिश्वास गतिर्नेयं शुभावहा ॥१७॥

तपसा क्षीयमाणत्वात् विस्मृते – निजसस्कृते
स्वशास्त्राणामनभ्यासात् राष्ट्रमस्तं हि गच्छति ॥१८॥

विभेमि न भवेत् कश्चित् दस्यूना हि नवोदय
पथभ्रष्टेषु देवेषु दानवै रर्ज्यते बलम् ॥१९॥

वयमार्यपथाद् – भ्रष्टा ब्रह्मचर्येण वर्जिता
केवल हन्त सजाता गायका नर्तका नटा ॥२०॥

विविध – व्यसनासक्ता. क्षात्रधर्म विलोपका
हते धर्मे हता नूनं वयं स्याम विभेम्यहम् ॥२१॥

पुरा स्वराष्ट्ररक्षार्थं सर्वे भारतजा जना.
हिमालये तपस्तेपु: वयं सेवामहे सुराम् ॥२२॥

विस्मर्तव्यं क्षण नैतत् पितृदेशस्य गुप्तये
यत्नो भागीरथी नित्यं राष्ट्रभक्तैरपेक्ष्यते ॥२३॥

अस्माकं जननी मुख्या माता देवी हि पार्वती
पयसाऽस्या वियुक्ताश्चेत् जीवितुं नैव शक्नुम. ।२४॥

हिमाद्रे: स्मरणं तस्मात् कार्यं नित्यं शुभेप्सुभि
स्वधर्मस्य रहस्यं च ज्ञेयं सर्वै प्रयत्नत ॥२५॥

श्रुत्वैतद् वचनं दिव्यं मालवीय महात्मन
तत्रस्थैः श्रोतृभि: सर्वै प्रार्थितं विनतै पुन. ॥२६॥

त्वया ह्येव वयं शिक्ष्या यथा धर्म. सुरक्ष्यते
तपस्विन् आर्यधर्माणाम् ज्ञाता कोऽन्यस्त्वया सम. ॥२७॥

अतीते नोहि ये धर्मा अद्यत्वेऽपेक्षिताश्च ये
द्वयोरेव भवान् ज्ञाता देशकाल – विदाम्वर. ॥२८॥

शाश्वता नो हि ते धर्मा सर्वशक्ति-विकासका
यथा ते विस्मृता न स्यु तथा मार्गो निदिश्यताम् ॥२९॥

धर्मेण हीना: खलु शक्तिहीना
निजात्मदीनाश्च भवन्ति सर्वे ।
यथा स्वधर्मं परिपालयाम
तथैव तस्माद् वयमद्यशिक्ष्या ॥३०॥

इति श्री विद्याधर शास्त्रि विरचिते हिमाद्रि माहात्म्ये
परिपूर्ण. प्रथमोऽध्याय ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

श्री मालवीयः पुनरुवाच--

सज्जना ! दुष्करं नेदं कृते भारतवासिनाम्
स्वभावाद् धार्मिका भव्या आर्या वर्तामहे वयम् ॥१॥

यच्च संसर्गदोषेण दोषजात – मुपार्जितम्
शक्यते तत् परिष्कर्तुं कर्तव्यो दृढनिश्चयः ॥२॥

यतोऽभ्युदयो नित्यः यतः श्रेयश्च शाश्वतम्
महर्षिभिः स सम्प्रोक्तो धर्मः श्रेष्ठः सनातनः ॥३॥

ब्राह्मे यामे समुत्थाय कृतस्नानादि – सत्क्रियैः
भगवत्स्मरणं कृत्वा व्यायामः समुपास्यताम् ॥४॥

गवां सेवा सदा कार्या पयः पानञ्च निरन्तरं
दुर्बला सततं दीना दौर्बल्यं धर्मघातकम् ॥५॥

मुख्यं धर्मस्य रक्षायै समयस्य सुरक्षणम्
उपयोगो हि कालस्य लोके सर्वं सुसाधयेत् ॥६॥

आलस्यं पूर्णतः त्याज्यं तन्द्रा सेव्या नहि क्षणम्
स्थैर्यं सर्वत्र संसज्जैः सम्पाल्यः सैनिको विधिः ॥७॥

धर्मनीतिः समुत्कृष्टा नीत्या धर्मः सुशोभते
लभन्ते न समुत्कर्ष केचन नीति – पराङ्मुखाः ॥८॥

अहिंसा परमो धर्मः सामनीतिश्च शोभना
काले काले क्वचित् हिंसा दण्डनीतिश्च सेव्यते ॥९॥

शठेन व्यवहर्तव्यम् शाठ्येनैव सता मते
प्रकृत्याऽसौ हि पापात्मा विश्वासं नार्हति क्वचित् ॥१०॥

शठैं सम्पादिता मैत्री प्रायशः प्राणहारिणी
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नाति विश्वसेत् ॥११॥

आततायिन – मायान्तं हन्यादेवाविचारयन्
आततायिवधे दोषो हन्तु कश्चिन्न मन्यते ॥१२॥

वृद्धाना वचन ग्राह्य त्याज्याहंभाव – भावना
श्रौतव्यैव च सर्वेषा हितवार्ता हि या भवेत् ॥१३॥

पक्षे स्थेय नचैकस्मिन् कदाचित् शुभशासकैं
सत्यरक्षा सदा कार्या यत्र कुत्रापि तद् भवेत् ॥१४॥

असन्तुष्टा द्विजा नष्टा सन्तुष्टाश्च तथा नृपा
स्वल्पया हि तदुन्नत्या तुष्टै भाव्य न सर्वथा ॥१५॥

जनबुद्धेरनित्यत्वात् जना शैथिल्यमागताः
मुहुर्मुहु स्वधर्मे तत् योज्या राज्ञा सदैव ते ॥१६॥

स्थेय नित्यञ्च सन्नद्धैं स्वकर्मण्यधिकारिभि
सामान्यं चापि यत्कार्यम् – उपेक्ष्य नैव तै क्वचित् ॥१७॥

नीतिनिर्धारणे भाव्यं सन्तत दूरदर्शिभि
शत्रूणामथ मित्राणां नित्य कार्य परीक्षणम् ॥१८॥

महाकाली महालक्ष्मी तथा दिव्या सरस्वती
नित्य सहैव वर्तन्ते नह्युपास्या पृथक् पृथक् ॥१९॥

शक्तिशून्यं हि यद्ज्ञान कर्मक्षेत्रे निरर्थकम्
दुर्गत मानहीन तत् मन्तव्य हि नपुंसकम् ॥२०॥

ज्ञानशून्य वल चेत्थं साध्य नैव सुसाधयेत्
आभ्या हीनञ्च यद् वित्त विपदामेव तत् स्थलम् ॥२१॥

ज्ञाने वले तथा वित्ते समं सुसमुपार्जिते
कर्मशक्ते – र्भवेद् वृद्धि शूद्रशक्ति – हि या मता ॥२२॥

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं" गीतोक्तं हि सनातनम्
रक्षकं सन्ततं रक्ष्यं चतुर्वर्गस्य साधकम् ॥२३॥

भारते साम्प्रतं दैवात् धर्मोऽसौ शिथिलोऽभवत्
दाढ्यं नैष समुद्धार्यः विमृश्यास्त्र पुनः पुनः ॥२४॥

श्रोतृभि पुनरुच्यते—

भगवन्नेष सन्देशः नूनं सर्वहितावहः
तथापि संशयाक्रान्ता वयं वर्तामहेऽधुना ॥२५॥

स्वार्थेन वत लोभेन ग्रस्तेऽस्मिन्नद्य जीवने
धर्मस्य सुप्रसारोऽयं कथं स्यात् सहजः पुनः ॥२६॥

विचारः साम्प्रतं चायं रूढ एव जने जने
विनाऽसत्यस्य संयोगं सत्यं न स्यात् फलप्रदम् ॥२७॥

इति निशम्य पुनः स बुधोऽब्रवीत्
त्यजत — संशयमेनमहोऽवरम् ।
यदनिवार्य — मपेक्षितमस्ति न
बुधजनै नहि तत्र विशङ्क्यते ॥२८॥

इति श्रीहिमाद्रि-माहात्म्ये परिपूर्णो द्वितीयोऽध्यायः ।



अथ तृतीयोऽध्यायः

श्री मालवीयः पुनरुपदिशति—

संशये – निर्बलो नात्मा क्वचित् कार्यः कदाचन
उत्थिताश्च प्रबुद्धा येकर्तुं किं तैर्न शक्यते ॥१॥

उत्थातव्यं च योद्धव्यं राष्ट्ररक्षाकृते सदा
शाश्वतो ह्येष धर्मो नः नान्यः पन्थाः शुभावहः ॥२॥

राष्ट्रस्यापि सुरक्षायै पुरावर्मोह्यपेक्ष्यते
ऋते तं नैतिकी शक्ति – विकासं नाप्नुते क्वचित् ॥३॥

स्वदोषा एव लोकेऽस्मिन् शत्रवः प्रबला मताः
ते ह्येवातः पुरा दम्या संछेद्या मूलत–स्तथा ॥४॥

शत्रुभिः क्रियतां किं तै–र्नैतत् चिन्त्यं विशेषतः
स्वशक्त्ये वर्धनं सर्वैः सम्पाद्यं सर्वतः पुरा ॥५॥

सशक्ते नैव कुदृष्टिं कोऽपि लोके निपातयेत्
तिष्ठन्ति शत्रवो भीताः स्वयं तस्मात् परे परे ॥६॥

न मैत्री काम्यते कैश्चित् न वा सन्धि र्हि निर्बलैः
नाना सामाजिका दोषा वर्धन्ते चैषु सन्ततम् ॥७॥

विश्वशान्ति – कृते नित्यं शक्ति – रेव गरीयसी
विना भीतिं दुरात्मानः वार्तां काञ्चिन्न शृण्वते ॥८॥

व्यर्थश्चैव विचारोऽयं न युद्धं साम्प्रतं भवेत्
भावि पश्याम्यहं युद्धं नैषामन्तो भविष्यति ॥९॥

जन्मभूमे सुरक्षार्थं युद्धाय कृतनिश्चयैः
भारतीयैः सदा स्थेयम् स्वातन्त्र्यं तदपेक्षते ॥१०॥

प्राचीन मध्यकालीन नवीनञ्च विदाम्वरा
भारतस्य यथैतिह्यं मयाधीतञ्च चिन्तितम् ॥११॥

सत्यस्यैव युगस्याय देशः कश्चित् पुरातन
सात्विकै रेव सद्भावै – दुंर्जनानेष मर्पति ॥१२॥

द्व्यधि सहस्रवर्षेभ्यो दोषोऽस्मिन्नेप चागत
नाय मायामये लोके मायामाश्रित्य जीवति ॥१३॥

झञ्झावाते समायाते क्षण भूत्वा समाकुल
पुन शान्तोऽनपेक्षोऽय शान्तिमेव प्रसेवते ॥१४॥

युगधर्म – विरुद्धेयं किन्त्वेपा साम्प्रतम् गति.
राष्ट्रे स्वातन्त्र्य – रक्षार्थं परिवृत्तिमपेक्षते ॥१५॥

छलछिद्रान्विता सर्वा साम्प्रत कलिसन्तति
व्यवहारे तया सार्धं नैका नीतिः सदा शुभा ॥१६॥

सज्जना वशमायान्ति सत्कार्यैश्च सदार्यैः.
अनार्या दस्यवो वध्या दण्डेनैव हि दुर्जना ॥१७॥

काकादपि महाधूर्ता निर्घृणा. सर्वभक्षिण
प्रकृत्या निर्मिता. केचित् प्रत्यक्ष नरराक्षसा ॥१८॥

आर्यधर्म – विरुद्धास्ता. प्रसिद्धा म्लेच्छजातय
सन्त्यत्र भूतले काश्चित् स्वभावात् हिंस्रवृत्तय ॥१९॥

मृषावादो द्विजिह्वास्ता नानारूपधरा सदा
नैता विश्वासमर्हन्ति नवौदार्यं न निश्चय ॥२०॥

पुरा मैत्री ततो वैर विश्वासघ्न न मानव
विविधंस्ते – नटी वेशैः [illegible] [illegible] ॥२१॥

चारैस्तासां स्थिति ज्ञेया रक्ष्यो मन्त्रश्च यत्नत.
सतर्के रेव सस्थेयं ताभ्यो नित्य शुभेप्सुभि: ॥२२॥

सम्बन्धे यैश्च युष्माकं मैत्र्यंशोऽपि भवेत् कचित्
सौहार्दं तैः सुसंरक्ष्य मित्रलाभे परं फलम् ॥२३॥

वृत्तार्णवेन[1] चीरेण जयपानेन[2] सर्वश.
तथैवामरकायेन[3] शस्त्रविद्याधरेण वा ॥२४॥

बधुना नयपालेन[4] ब्रह्मदेशेन सैंहलैः
गांधारैः पारसीकैश्च सन्मित्रै र्मलयादिभि· ॥२५॥

मज्जनैः प्राक्तनै र्मिश्रै – रफ्रिकादेश वासिभि.
अर्वप्रभृतिभिश्चान्यैः यथाकालं रसौकसा[5] ॥२६॥

संरक्ष्यो मातृसम्बन्धः सर्वैशस्तिक – मण्डलै·
सीमासंरक्षणं नित्यं शूरैः कार्यं च दुर्जयैः ॥२७॥

राष्ट्ररक्षण – लग्नेभ्यो जीवनं मरणं समम्
स्वातन्त्र्ये जीवनं तेषां दास्ये च मरणं महत् ॥२८॥

अणुशक्ते – र्युगं ह्येतत् सर्वत्रैषा समपेक्ष्यते
अण्वस्त्राणां विकासेऽपि प्रदर्श्यं पाटवं ह्यत. ॥२९॥

प्राक्तनादेव कालाद्यद् – वयं स्मोऽथर्व – शक्तय·
शस्त्रास्त्राणां विधानज्ञा यज्ञ विद्या – विशारदाः ॥३०॥

अन्यासामपि शक्तीनां शक्तिरेभिः प्रयुज्यताम्
वैज्ञानिकै श्च साध्यन्तां किं किं नाभिः सहस्रश. ॥३१॥

---

१ अतालिया २ जापान ३ अमेरिका ४ नेपाल
५ रूस

ततोऽपि मुख्यं वलमात्मशक्ते.
मत प्रधानं हि मते मदीये ।
मनोवल तेन विना न लभ्यम्
उत्साह शक्तिश्च न वृद्धिमेति ॥३२॥

इति श्री हिमाद्रि-माहात्म्ये परिपूर्ण. सर्वशक्ति विकासकः
तृतीयोऽध्यायः



अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्री मालवीयः पुनः प्रबोधयति

वयमात्मबले नूनं मुख्या वर्तामहे भवे
स्वभावाद् भारतेवर्षे नित्यमुच्चं मनोबलम् ॥१॥

ह्रासस्तस्याद्य कश्चिच्चेत् विस्मृतिस्तत्र कारणम्
स्वरूपं तत् पुनर्ज्ञेयं विहेया चात्महीनता ॥२॥

भारतीयो हि य कश्चित् – अनुसर्ता स्वसंस्कृते
तत्र स्वयं प्रवर्धन्ते गुणास्तद् – बलवर्धका ॥३॥

प्रसिद्धा भारती नारी दुष्टदर्प – विमर्दिनी
शक्तिरूपा स्वभावात् सा रणे चण्डी भयंकरी ॥४॥

मत्येऽस्माकं पराशक्ति सत्यं जयति नानृतम्
दैनिके व्यवहारे तत् सत्यं रक्ष्यमशेषत ॥५॥

शिक्षणे, शासने, चित्ते दम्भश्चेत् कोऽपि वर्धते
जनाना खलु विश्वास समूल तत्र नश्यति ॥६॥

यथा राष्ट्रे भवेद् वृद्धि–श्चारित्र्यस्यात्म–सम्पद
लोभस्याथ यथा त्यागो दुष्टा तृष्णा च दम्यताम् ॥७॥

यथा दण्ड्याश्च दण्ड्यन्ते राष्ट्र–शान्ति–विघातका
निरुध्यन्ते च यथा सद्यो राष्ट्र कोपस्य लुण्ठका ॥८॥

यथाऽद्य रक्ष्यते नित्या विश्वकल्याणभावना
तथा नित्यं प्रयत्येरन् भवन्तो बुधसत्तमा ॥९॥

प्रोद्दीप्ता जायता नूनं दैवी शक्तिः पुनः स्वम्
सत्कर्मप्रीति – सम्पन्नाः सर्वे देवा स्वभावतः ।।१०।।

जगन्नाथो महानाथ. रक्षक. पूर्वसागरे
महाकाली च कामाक्षी प्राच्या प्रागुत्तरे तथा ।।११।।

सोमनाथो महादेवो द्वारकाधीश्वरो महान्
पद्मनाभो महाविष्णु. पालकः पश्चिमे तटे ।।१२।।

नारायणस्तथोदोच्या त्राता बदरिकाश्रमे
हैमः केदारनाथश्च – भक्ताना परिपालकः ।।१३।।

महान् रामेश्वरो देव दिव्या कन्या कुमारिका
दक्षिणे भ्राजते–शक्ति नित्यास्माक महीयसी ।।१४।।

मृत्युञ्जयो महाकाल. चामुण्डा शव–वाहिनी
ज्वालामुखी महाशक्तिः एकलिङ्गो महेश्वर. ।।१५।।

श्री रङ्ग. पाण्डुरङ्गश्च भगवान् वेंकटेश्वरः
विश्वनाथो भवाधारः प्रचण्ड कालभैरव ।।१६।।

अन्ये च जैनबौद्धाना खिष्टाना सिक्ख सगिनाम्
सम्पूज्या इष्टदेवा ये गुरवश्च तपस्विन ।।१७।।

अस्माक रक्षका एते भयभीता कुतो वयम्
अस्माभि सिद्धपीठानाम् एषा कार्यं सुरक्षणम् ।।१८।।

बलिभि र्बलिनो देवा निर्बलै स्तेऽपि निर्बलाः
बल सर्वविधं तस्मात् सग्राह्य विजिगीषुभि. ।।१९।।

हिमाद्रौ रक्षिते सर्वे तिष्ठन्त्येते महाबलाः
नगेन्द्रोऽसौ सदारक्ष्यः प्राणैरपि धनैरपि ।।२०।।

यदा यदा दुराक्रान्तो दुष्टैरेष हिमालय
तर्हि तर्ह्येव जातेयम् उद्विग्ना देवमण्डली ।।२१।।

म्लेच्छैश्चे त् सस्कृति ध्वंस्ता सस्कृत वा विलेपितम्
स्मरणं पूजन भूयो देवाना कै विधीयताम् ।।२२।।

रक्षा नो रक्षिते ह्यस्मिन् जयश्च शाश्वतो ध्रुवम्
अरक्षिताश्च तिष्ठामो हिमाद्रिश्चे दरक्षित· ।।२३।।

सकल्प· प्रत्यहस्तस्मात् ग्राह्यो भारतजै – र्जनै
नैषदेश खलैः कैश्चित् तेषु जीवत्सु दूष्यताम् ।।२४।।

निशम्यैतत् सदस्यास्ते स्वाभिमानाभिमन्त्रिता
स्वरेणैकेन सघोष चक्रु – "जयहिमालय" ।।२५।।

श्रुत्वैन जय – सघोष कैलाशे मुदितो हरः
पार्वती च परम्प्रीता नित्यमेन वर ददौ ।।२६।।

हिमालये मदावासे येषा श्रद्धा सनातनी
तेभ्यो दास्याम्यह नित्यं जय, कीर्ति, स्थिरा श्रियम् ।।२७।।

विद्याधरेण बुधबृन्द – कृपाधरेण
श्री मालवीय – शतक – स्मृतिपुष्पमेतत् ।
भक्त्यार्प्यते हिमगिरि – स्तवनात्मकं तत्
कैलाश वासि – शिवशंकर पादपद्मे ।।२८।।

दिव्यो महान् सुरसरिज्जनको हिमाद्रि·
सजीवनीभिरमृताभि – रहो न काभि ।
दिव्यात्मशक्ति – जननीभि – रनादिकालात्
दिव्यौषधीभि – रनिशम् परितो न दीप्त ।।२९।।

जागर्तु विश्वहृदि विश्व – हित – प्रवृत्तिः
शुद्धामतिश्च समुदेतु खलस्य चित्ते ।
राष्ट्रेषु शक्ति – रखिलेषु तथोद्भवेत् सा
रक्षाकरी भवतु याऽखिल – निर्बलानाम् ।।३०।।

**इति विद्यावाचस्पति श्रीदेवीप्रसाद शास्त्रि तनयेन —
विद्याधर शास्त्रिणा विरचिते श्री मालवीय-शतकस्मृति
स्मरणीये हिमाद्रि–माहात्म्ये चतुर्थोऽध्यायः ।।**

॥ श्री ॥

अथ काव्य वाटिका

संगृह्य संगृह्य यत: कुतश्चिद् – बीजानि यस्याम् प्रतिरोपितानि
क्षुद्रापि सा मे मरुवाटिकेयं सेव्या सुहृद्भि: स्वकृपार्द्रभावै: ॥क॥

जानामि नित्यम्परिवृत्तिशीले स्थिरं न किञ्चिज्जगतीतलेऽस्मिन्
पलद्वयं किन्तु यदत्र तिष्ठेत् कस्यापि गीतस्य पदद्वयं तत् ॥ख॥

तत्रादौ मातृवन्दनम्

(१)

सर्वात्मिके सर्वमनोऽभिरामे वीणाधरेऽलौकिक – गानमग्ने
क्षण स्ववासेन मनो मदीयम् आनन्दसञ्चारमय विधेहि ॥१॥

मदीयवाचाप्यथ विश्वहृद्यम् गेय तत किञ्चन गीतमेकम्
भवेत् कृतार्थो मम शब्दराशि. कश्चिन्नवोऽर्थश्च विभातु लोके ॥२॥

आकृष्य ये त्वा च हठात् सुगातुम् कुर्वन्ति कश्चिद् विफलम्प्रयासम्
प्रकम्पितोऽयं मधुर: स्वरस्ते विधीयते किं नहि तै. स्वमौर्ख्यात् ॥३॥

सदा प्रसन्ना स्व विचार मग्ना स्वयं स्वतन्त्री च यदा स्पृशेस्त्वम्
भवन्त्यवाचो नहि के तदानीम् निशम्य तद् गीतमहोऽद्वितीयम् ॥४॥

विद्यो वयं किञ्चन वा न विद्म विद्म. परं त्वं हि सरस्वती न
ये त्वा भजन्ते शुचिभिर्मनोभि: नित्य स्वतस्ते सरसा भवन्ति ॥५॥

शक्तोऽप्यशक्तो भवतीह तावत् शक्ति त्वदीया लभते न यावत्
जलेन पूर्णोऽपि घनोऽनुकूला गति विना वर्षति नैव वायो ॥६॥

तद्रक्ष नित्य स्वकृपार्द्र – दृष्टि सदाऽनुकूला मयि शक्ति–धात्रीम्
मति–र्भवेन्मे न कदापि मन्दा वर्षेच्च नित्यं नव – काव्य वर्षाम् ॥७॥

अथापरा मातृ–स्तुतिः

(२)

मात यदैव विनताः प्रणता स्तुमस्त्वाम्
सद्य. प्रयान्ति दुरितानि लयं कचिन्न ।
शान्ति – र्मनो विकसितिः – सुमति – र्विशाला
स्फूर्तिश्च काऽपि समुदेति विलक्षणैव ॥१॥

दृष्टं मयैतदखिलं त्वदुपासकानाम्
स्तोत्रेषु सत्कवि – जनोक्तिषु च नित्यमेव ।
भूयोऽनुभूतमथ सत्यमिदं स्वयं च
प्रत्यक्षमेव वहुधा स्मरणेन तेऽम्ब ! ॥२॥

तत्र प्रमाणमपरम् प्रथितं च मात.
श्रीकालिदास भवभूति – महाकवीनाम् ।
बाणस्य – सत्कृतिषु चानुपमासु हृद्यम्
केपा मनो हरति यत्र विभासमानम् ॥३॥

तैः श्रावितं मधुर – गीतमहो कदा किम्
यस्मात् – स्वयं सपदि तैः ससवेत्य मत्ता ।
गातु ह्यपूर्वमिह दिव्यमहो प्रवृत्ता
यद् – गीति हृद्य – लहरी मधुरा त्रिलोक्याम् ॥४॥

निर्णायकैरपितु किंचन किन्तु गेयम्
सर्वेऽपि गान – निपुणा न भवन्ति लोके ।
शुष्केऽपि कीचक – वने पवन – प्रवेश.
किं किं स्वयम्प्रकटयेन्न सुरम्य – गानम् ।।५।।

रम्या च भाति खलु मैव तरङ्गिणी या
नित्य वहेत् प्रकृति – सिद्ध – पथि स्वकीये ।
सखन्य भूतलमथ प्रति – नीयमाना
कुल्या न कापि लभते सरणी स्वतन्त्राम् ।।६।।

तस्मात् कृपा प्रतिपद तव नित्यमीहे
काव्यं यथास्तु मम कृत्रिमदोष – मुक्तम् ।
यस्मिन्नलौकिकमथाखिलमेव भातु
त्यक्तं यथार्थ – कथनेन न यत् कचित् स्यात् ।।७।।

सर्व गीतमयं जगत्

भास्करो भासता नित्य भासतां च तथा शशी
तारास्तथापि सायान्हे भान्तु किं न नभस्तले ।।१।।

सरिद्भि प्रस्रवन्तीभि कामं खेलतु सागर.
शिशव. किं न खेलन्तु स्वकुल्याभि गृंहाङ्गणे ।।२।।

राज्ञा येन पथा यात तेन यातु न याचक·
अनन्ते विश्वमार्गेऽस्मिन् कोन्वेव कचिदादिशेत् ।।३।।

वाङ्मयस्य च धारेयं शाश्वती काऽप्य नादित:
मनुष्येषु मनो यावत् तावन्मानस – वीचय ।।४।।

गायने निपुणा केचित् न वा कश्चित्तथा भवेत्
गीयते किन्तु कै र्नास्मिन् सर्वं गीतिमय जगत् ।।५।।

कोकिलालाप – रम्य यद् वन तद् भिगुरैरपि
भिकृत क्रियते किं न स्वभिकारेण सन्ततम् ॥६॥

प्रभुगीतानि गीयन्ता गीयता देश गौरवम्
तच्चापि गायकै गेंयम् यत् – सर्वोन्नति–कारकम् ॥७॥

किञ्चिन्मनोगत गीतं गीतं ह्येतन् मयापि तत्
श्रूयता विज्ञवर्यैस्तत् स्वतो हृद्यं हि तद् भवेत् ॥८॥

प्राभातिकं तत् स्तवनं खगानाम्*

उच्छेदयद्–गाढतम–प्रसारम् चन्द्रप्रभा चापि तथा मनोज्ञाम्
विस्फूर्यमाण हि विलोक्यता जनै प्राच्या दिशायामुषसो महन्मह ॥१॥

निरीक्ष्य यत्साभरणा विभावरी याता ह्यशेपा जगतस्त्वराभरा
दृष्ट्वा कयाचित् परया युतम् प्रिय भृशम्प्रकुप्येत् खलु का न नायिका ॥२॥

दीप्तम्पुरा सूर्य – करैर्नभो हि स्वयम्प्रदीप्त पुनरेप जात
कुर्वन्तु सर्वे प्रणतिम्प्रहृष्टा हे विश्वमूर्ते परिपाहि विश्वम् ॥३॥

भृ गोऽपि गुञ्जन्नयमेति साम्प्रतम् फुल्लारविन्देन समेतुमीरयन्
त्यक्त्वा नहि त्वा गतवानह क्वचित् आनीयते पथ्य मया तव प्रिय ॥४॥

वियच्चराश्चापि तरुस्थितास्तथा कूजन्ति सर्वत्र मनोहरस्वरा:
यद् भाति नूनं विदुषा सता मते प्राभातिकं तत् स्तवन खगानाम् ॥५॥



---

* सन् १९१६ मे निर्मित आरम्भिक रचना

राका विहारः

चन्द्रप्रकाश. परित· प्रसारी, राका प्रशान्ता, प्रकृति स्थिरासीत्
यदा कदाचित्सरित प्रवाहे ध्वनिः श्रुति कोऽप्यविशच्च सद्य ॥१॥

माधुर्यसारे समये प्रियेऽस्मिन् चेतो विकासोऽनुपमोऽनुभूत·
संलापलीनः सुहृदा सहाह तटे सुरम्ये व्यचरं विशाले ॥२॥

क्वचिद् विविक्त· क्वचिदन्तराले क्वचिच्च शाखासु निषण्ण एव
क्वचिद् तरोर्मौलिवदेव चन्द्र. पर्णावलीमध्यगतो विभाति ॥३॥

नदी कदाचित् गगनं कदाचित् तरु कदाचिच्च विलोकयन्तौ
सर्वत्र शुभ्रा सुषमा पिबन्तौ, आनन्दरूपावभवाव तत्र ॥४॥

स्वप्नस्य लोके कुहचिदभ्रमन्तो विस्मृत्य चिन्ता निखिला जगत्या·
सखाय एते मुदिता प्रमत्ता दु खस्य नाम्नाऽपि न सन्त्यभिज्ञाः ॥५॥

नव नव भावमयं विलास क्षणे क्षणे भूरि विकासयन्त.
स्थल स्वहासैः परिपूरयन्त. नानाङ्गभङ्गै. परितो लुठन्ति ॥६॥

रोगो विवेकस्य न तेषु कश्चित् न चापि काचिद्यशसोऽभिलाषा
वसन्तवात समय. सुरम्यो गीतिश्च काचित् परिमादिनीयम् ॥७॥



मरुबालानां वर्षाभिनन्दनम्

मातर्वर्षति वर्षेयं पश्य पश्य गृहांगणे
कीदृशा बिन्दव. स्थूला: कीदृशो मधुरो ध्वनि: ॥१॥

घना इत. समायाता घटाचेयं ततस्तता
आगच्छ विमले शीघ्रं स्नास्यावस्तत्र चत्वरे ॥२॥

समायात्यत्र कुल्येयं जलं चेयन्मित तत:
आयाहि तत्र पश्यावो नदीयं याति वेगत. ॥३॥

कथंकार – महोधारा नालिकाभ्य. पतत्यध:
निर्मलं सलिल ह्येतन् पूरयावो न किं घटान् ॥४॥

शाश्वती काव्यधारा:

अहोऽद्य कीदृक् जगति भ्रमोऽयं विवर्धमानो बत कोप्यनार्य:
"काव्यम्प्रकृत्या प्रभवेन्न किञ्चित्" तद् गीयते विस्मृति–वर्धनार्थम् ॥१॥

निनादयन्ती सतत स्ववीणा वाणी कदा तिष्ठति किन्नु मूका
स्वगान–शून्याश्च कदा स्वरा वा नित्यम्प्रमत्ता प्रकृति स्वभावात् ॥२॥

मौनेऽपि नादोऽनुपमो जगत्या विलक्षण: कोऽपि रसश्च शुष्के
योगे वियोगेऽत्र गति: समाना दृष्टि विशाला कविना विधेया ॥३॥

काव्यस्य लोके न धनी सुमान्यो दीनोथवा कोऽपि भवेद् विहीन.
साहित्यसृष्टि. पृथगेव काचित् नावीनता गच्छति मा विषादु ॥४॥

सौख्यानुभूति· कविमानसे या तस्यैव सेय सुखसागरस्य
यस्येह लीला परितो हसन्ती सर्वेषु ह्रयेषु रसं विभर्ति ॥५॥

उत्तालतालं कुरुते स्व – नृत्य घोरे श्मशानेऽपि सदैव रुद्र.
अज्ञातभावा प्रकृतिस्थलीय तेनैव सार्ध कुरुते च लास्यम् ॥६॥

गानेन मरो भुवने न किंचिद् गानेन शून्यं कविना व्यलोकि
रेखा न काचिद् विकलेह चित्रे विभावयेद्याभिनव न किंचिद् ॥७॥

मन्ये न काव्येन भवन्ति मत्ता. क्षुत्क्षामकण्ठा वसनै–विहीना
घोरेण शैत्येन जडीकृता वा गानेन शून्या नहि तेऽपि किन्तु ॥८॥

बालैः स्वखेला–निरतैरकस्मात् स्त्रीभि–र्निजान्तध्वनित च नित्यम्
वने निशीथे पथिकै रहो वा यद् गीयते तत् निखिल हि काव्यम् ॥९॥

स्वकर्ममग्नै. श्रमिकैश्च सार्धम् अचेतनैश्चापि निजे प्रवाहे
यो घर्षरेति क्रियते ध्वनिर्वा काव्य तदव्यक्तमहोऽद्वितीयम् ॥१०॥

अव्यक्तमेतत्–निखिल स्वमत्तम् प्रतीयते संरचयत् स्वगीतिम्
निशम्यते नित्यमियं च मौनम् केनाऽप्यनन्येन सुख स्वलोके ॥११॥

तद् गीयता मित्र सदैव हृद्य यच्चापि तेऽन्त प्रभवेत् स्वभावात्
स्वाभाविक सर्वमिद हि भव्यम् निगीयमान सततम्प्रकृत्या ॥१२॥

प्रणयोद्भूतिः

किं तद्–भावमयं विलक्षण–गुणं स्वयम्परं मोहकम्
विस्मतुं नहि शक्यते नयनयो–र्यातं क्षणं यत्पुन ।
किं रूपं सुदुरागतं कथमहो व्याप्त च तत् सर्वत
वेत्ता तस्य तु सृष्टि–मोह–पतितः शके न धाता स्वयम् ॥१॥

व्यग्रो भूःप्रिय मा कचित् स्थितिरियं साध्या न सद्यो जनै.
प्रेम्णो लक्षणमेव "धैर्य-सहिता शान्ता प्रतीक्षा" यतः।
मौनी, शाश्वत-निश्चयी, दृढरति-र्विश्वासभू-र्निश्चलः
कृत्वा कामपि साधना स्थिरतमा प्रेम्ण· कृपाम्प्राप्नुते ।।२।।

यस्मिन् प्रेम्णि सुसंगमो हृदययो र्जायेत विश्वात्मनोः
तत् प्राप्ति-र्यदि सद्य एव न भवेद् वैचित्र्यमत्रास्ति किम्।
एकस्मिन् क्षण एव सर्वमपि तत् तच्चेतस-स्तज्जगत्
एकं ह्येव कथं भवेत् क्षणमिद धैर्येण सचिन्त्यताम् ।।३।।

अद्वैत भवभूतिना निगदित दिव्यं सदानन्ददम्
लोके जातमलौकिकं किमपि यत्-प्राप्तं तपोभि-र्द्वयो ।
नित्यम्पूतमिद च धर्म्यमखिल त्यागादिभि सभृतम्
प्राप्तव्य क्षणिकैर्न कैश्चन जनै - र्भावैश्चलैरैन्द्रियै. ।।४।।

शृणुध्वमद्यापि निवेदनं मे

शृणुध्वमद्यापि निवेदनं मे किंचिद् विनम्र मनुजाः समस्ताः
न सर्वथैवाद्य विलोपनीया ह्रासोन्मुखी वै स्वमनुष्यतेयम् ।।१।।

लुप्येत सर्वापि मनुष्यता चेत् नारायणोऽपि क वसेन्नु लोके
नारायणे चाथ नरे न कश्चित् भेद स्वसत्कर्मणि - विद्यमाने ।।२।।

विरम्य सर्वात्म - विनाश वृत्ते विश्वस्य सर्वस्य - विनाशनात्तत्
सद्भ्रातृभावोऽपि विवर्धनीयो रक्ष्या जगत्या प्रकृतिश्च शुद्धा ।।३।।

स्थितं जगत्या कलहायमानै चिर मिथो ध्वंसपरैर्भवद्भिः
शत्रुत्व-भावैक - विवृद्धिलीनै सदैव शका - निरतरशान्ते. ।।४।।

न लक्ष्यभेदो नहि मार्गभेद न साधनानामथवास्ति भेद·
तथापि भिन्नैव मतिर्गतिर्वा कथं जनान्नः कुरुते विशीर्णात् ।।५।।

विश्वं हि विध्वंसयितुं न धात्रा मनुष्यसृष्टिर्विहिता वतेयम्
भ्रष्टः स्वमार्गात् कथमद्य मर्त्यो भ्रान्तो जगत्या भ्रमति प्रमादात् ॥६॥

धर्मो मनुष्यस्य सनातनोऽयम् जीवाः समस्ताः परिपालनीयाः
प्रतिक्षणं किन्त्वधुना हि धात्रीम् जीवैर्वियुक्तां किमहो न कुर्मः ? ॥७॥

कुरुष्व तत् किञ्चन नित्यमीश्क् येनात्र सर्वे सुखिनो वसेयुः
स्वयं सुखी स्याः सुखिनोऽपरे च त्वदीय कार्यैः सततं भवेयुः ॥८॥

सर्वमेतद् भवेत्पुनः*

तद्दिने विश्वधौरेय, चक्रवर्तिन् महामते
ईप्सितं मान्यवर्येयंत्, सर्वमेतद् भवेत्पुनः ॥१॥

यद्दिने भारताध्यक्षाः, भोजराजानुसारिणः
पण्डितानां सभां कुर्युः, कवीनां च समादरम् ॥२॥

विद्वांसो जीविका – प्रश्नैरक्लान्ताः शान्तचेतसः
यापयेयुः सुखं कालं निरताः शास्त्रमंथने ॥३॥

गवां संरक्षणम्पूर्णम् पोषणञ्चार्यं – संस्कृतेः
भारते भासतां नित्यं शुद्धा संस्कृत – भारती ॥४॥

क्षुत् पिपासाकुलः कश्चित् प्राणी प्राणैर्न हीयताम्
प्रति – गेहमथातिथ्यं पूर्ववत् सुलभं भवेत् ॥५॥

स्वर्णोऽपि स्वर्णं वर्णाभा गंगाया शुचिता पुनः
ऐन्द्रे धनुषि वैचित्र्यं तद्दिने भासतां नवम् ॥६॥

---

* महामहिम गवर्नर जनरल विद्वत्प्रवर श्री राजगोपालाचारी जी द्वारा एक संस्कृत सम्मेलन में अभिव्यक्त एक आशंसा की पूर्ति में प्रेषित पद्यावली ।

भूयः समायास्यति

स्थातव्य स्थिरनिश्चयैरविरतं विश्वासपूर्णैस्तथा
स्वार्थान्धै र्वंत दुर्जनै. ग्कलितेऽप्यस्मिन् स्वराष्ट्रेऽधुना
स्वाधीने प्रियभारते नवनव· स्यादेव भाग्योदय.
सर्वानन्दमगी स्थितिश्च सुतरा भूय समायास्यति ।।१।।

लुप्तः पञ्चनदात् स सस्कृतविदा वेदध्वनि पावन
क्षीर्णा सा च सुसस्कृतारममनसा सन्मण्डली धीमताम् ।
जाता स्वप्नसमाश्च हा लवपुरव्याप्ताऽखिला संस्कृति·
धैर्यं रक्ष सखेऽचिरात् प्रतिपुरं भूयोऽपि सा थास्यति ।।२।।

तारुण्य हि गत गत पुनरिद नागच्छतीति श्रुतिः
वर्षिष्ठै नितरा स्वकर्मनिरतैः श्रुत्वापि न श्रूयते
सोत्साहै-र्नवयौवन नवतमं वृद्धोऽपि भीष्मो युवा
क्षीणं चेत् तदिद कथचिदधुना भूय· समुद्भास्यति ।।३।।

धर्मं प्रोज्झितकैतवोऽत्र ह्यधुना क्षीणोऽखिलो दृश्यते
सस्काराजित-सस्कृतिश्च निखिला जाता विकारावृता
दिव्य दार्शनिक सदात्मनिरत पूर्णंहि तज्जीवनम्
तुष्टम्पूर्वं-महोऽखिल यदभवत् तत्किम्पुन प्राप्स्यते ? ।।४।।



मनुष्यरूपं हि जहीहि सद्यः

विधाय दासानथ दैन्य-पूर्णान् बन्धून् स्वतन्त्रान् शतशः स्वकीयान्
लोके जनक्रन्दन – मात्रमग्ने क प्राप्नुयास्त्वं सुखशांतिलेशम् ॥१॥

सहस्रशो यान्तु रुदन्त आर्ता स्वयं हसंस्तिष्ठतु योऽभिमत्त.
जनेषु तस्यापि यदि प्रकर्षः कदापि मे जन्म जनेषु न स्यात् ॥२॥

विवेक-शक्ति· प्रभुणा प्रदत्ता भ्रात-र्विचिन्त्यम्पुनरद्य शान्त्या
यो रक्षक स एव विभक्षक सन् पिशाच-वृत्ति नु कथं विभर्षि ॥३॥

कस्यापि जन्तो दंयनीय वृत्ता दशा विलोक्यापि दया दरिद्रम्
चित्तं न चेत्तो द्रवतीह किञ्चित् मनुष्यरूप हि जहीहि सद्य· ॥४॥

जीवन दर्शनम्

स्वजन्मजातो जगदीश – भक्त· स्वाध्याय-मग्नो मुदितान्तरात्मा
नित्यं सृजन् कांचन काव्यसृष्टि न वेद्मि कालस्य गति हि काचित् ॥१॥

गत क खल्वेष कथम्पुन-र्वा गच्छेन् समस्या न ममास्ति काचित्
याति स्वतन्त्र· सतत स मौन नवं युगं चानयति स्वतन्त्रः ॥२॥

नाहम्पृथिव्या व्यथया कयाचित् मर्माहतो दु समयं नयामि
सौख्यं च किं नेह मयानुभूतम् प्राप्नोमि कां नैव कृपा च मातु. ॥३॥

संदेह-पूर्णोऽपि भवामि भूय भीतिश्च काचित्-स्वत एति सा सा
नैषा चिरं तिष्ठति किन्तु चित्ते पाता प्रभु-र्विश्वसिमि-प्रकामम् ॥४॥

स्नेहाभिलाषी बहुधा प्रसन्न सौन्दर्यपूजानतमस्तकश्च
विद्यानुरागी विदितात्मबोधो दु:खाभिभूतो न चिर भवामि ॥५॥

जातोऽस्मि दास. शकुनावलीनां पश्यामि यत्ता सफला समस्ता
क्षणे यतेऽहं निज–कीर्ति–वृद्धयै क्षणेन सा भाति पर ह्यनित्या ॥६॥

परस्य तत् तत् न ममेति बुद्धया नोपेक्ष्यते किंचन निन्द्यते वा
सर्वत्र सत्यं शिरसा दधान· तल्लक्षण व्यापकमेव कुर्वे ॥७॥

सुस्पष्टवादी हृदयेऽभिमानी सदा गुरूणा चरणेषु नम्र.
दम्भेरताना विकटोऽस्मि शत्रु· साधारणाना च सखा विशाल ॥८॥

अह विरोधी प्रबलश्च तेषाम् एकस्य पक्षस्य समर्थका ये
ते सन्ति काणाः परदृष्टि–दीना· पश्यन्ति पूर्ण नहि ते कदाचित् ॥९॥

कथं गदेय नहि सत्यमेतत् मृषैव वा सर्वमिद हि नूनम्
क्वचिद् ऋतं यत् परतोऽनृत तन् स्व स्वक्षणे सत्यमिहास्ति सर्वम् ॥१०॥

स्वकार्य–सिद्धयै पर–कार्य–नाश कुर्वन्ति ये केऽपि जनाश्च हीना
क्षण मदीये हृदये न काचित् क्वचित् लभन्ते कुटिला गतिं ते ॥११॥

स्वस्थः प्रसन्नः समयं नयेयम्

पश्यामि शान्त कमपि प्रकाश भवामि तद् – भावमयश्च सद्य
चेत प्रफुल्लं विमला च बुद्धि – र्भावाश्च भव्या स्वयमुद्भवन्ति ॥१॥

रजोमयेऽन्तश्चलितेऽति वाते – द्वेपानलप्लुष्ट – समस्त – वृत्तौ
धूमावरुद्ध – श्वसन–प्रसारे शान्ति. क साऽस्मिन् समये सुलभ्या ॥२॥

कोलाहलै पूर्णमिद समस्तं रणाद्रणन् सम्मुखमेति – विश्वम्
क गम्यते किं क्रियते न किञ्चिन् शक्य विनिश्चेतु – महोऽन्धकारे ॥३॥

किं जीवनं नागरिकं जनानाम् जातं युगेऽस्मिन् व्यसनाभिशप्तम्
विद्युत्प्रदीपैः परितः प्रदीप्तम् घोरेऽन्धकारे सहसा च मग्नम् ।।४।।

क्षणे क्षणे भीति–शतै–र्विपन्नम्–प्रेम्णः प्रशोषेण विशुष्क मूलम्
स्वलक्ष्य लब्धि–क्षति मन्दभाग्यम्–शरीर चिन्ता–प्रमुखात्मकृत्यम् ।।५।।

सदा प्रसन्नाम्प्रकृतिं विशालाम् विलोकयन्नारमणीय – वर्णाम्
वृक्षैः कदाचित् च दलैः कदाचित् पुष्पैः कदाचिच्च सुमन्त्रयेऽहम् ।।६।।

एकैव लोके खलु मे समीहा स्वस्थःप्रसन्नः समयं नयेयम्
पश्यन्नसीमं निजसीम्नि तिष्ठन् प्रभुं विभुं मे स्थिरधीः स्मरेयम् ।।७।।



जाने न दोषः कथमेष नश्येत्

यद् भारतीयम् तदभारतीयम् पापञ्च यत् पुण्यमयं तदेव
कथं हि सर्वम्प्रतिकूलमेतद् जातं भवद् – वाऽद्य समस्तमास्ते ।।१।।

किं नाम लक्ष्यं किमु वा विधेयं स्पष्टं न किञ्चिद्–भ्रमतामगत्या
स्वयम्पतन्तः पतनस्य गर्ते पराश्च कास्कान् नहि पातयामः ।।२।।

नित्यानि वैज्ञानिकशक्तिमन्ति त्यक्त्वा च कर्माणि व्रतान्हिकानि
उपेक्ष्यवीर्यं – द्युति – मात्मदीप्ताम् यतामहे कृत्रिमरूपमाप्तुम् ।।३।।

निजार्थसिद्धौ नितरां निमग्ना – स्त्यागस्य नामाप्यवहेलयन्तः
अर्थार्जने सर्वविधे विनिन्द्ये सर्वेऽद्य किं हन्त रता नहि स्म ।।४।।

स्वाधीनता – नाम भृशं रटन्त दासा भवन्तश्च सदा परेषाम्
वैदेशिकीं यामवलोकयाम – तामेव किं नैव व्रतानुयाम ।।५।।

महर्षयो येन पथा प्रयाताः राजर्षयो वा भुवन – प्रसिद्धाः
विस्मृत्य तं शान्तिमयं स्वमार्गम् धूमावृतं कापथ – माश्रिताः स्मः ॥६॥

हे शारदे सन्मति – दानशीले बुद्धि विशुद्धा कुरु शीघ्रमेषाम्
अन्धा न यावन्निखिल स्वराष्ट्रं क्षिपन्ति कूपे सहसा कचित्ते ॥७॥

राजस्थानीया-वीरमाता

बांध्यं श्रेष्ठ जगति मनुते सा न सूते सुतञ्चेत्
धीरं वीरं रिपुदलशिरः – कन्दुकासक्त – चित्तम् ।
धिक् स्वस्त्रीत्वं गणयति तथा सा न चेद् वीरपत्नी
युद्धे यातुं प्रियजनशिरः कुंकुमै – र्नार्चयेद् वा ॥१॥

वीरक्षेत्रे प्रवहति सरित् यत्र चैकैव नित्यम्
सग्रामोर्मीतरलितगतिः रक्तधारा विशाला ।
भीष्म – ग्रीष्म – बलमविरतये साधन यत्र चैकम्
तेषा पार्श्वे लसति सतत श्यामलश्चन्द्रहासः ॥२॥

विधि-विहिते जगदादि शिक्षके

हृदि हृदि भासित–वेदभास्करे दिशि दिशि दीप्त–यशः–सुधाकरे
त्रिभुवन–तृप्ति कृते कृताध्वरे नरहरि – गर्जन – गर्जि – गह्वरे ॥१॥

मलयज – शारद – कुंकुमार्चिते – रवितनयातट – रास–लासिते
अमृत – पयोधर – गोकुलावृते – विबुध – गणैरपि नित्यमादृते ॥२॥

भुवि सततं समभाव – भाविते – शमदम – सामनीति – शासिते
शुकमुख–निर्गत – गीति – मादिते व्रजविपिने मुरली – निनादिते ॥३॥

विभुरपि खेलति–यद्–अजाजिरे प्रभुरथ नाथति यस्य मन्दिरे
पथि पथि वाहित–भक्ति – निर्भरे–हृदि जगदीश्वर–शक्ति–निर्भरे ॥४॥

प्रभुचरणामृत–पान – पावने – प्रतियुग – संचित – शुद्ध – साधने
प्रिय – जगतीतल – केलिकानने – हिमवति योगमृता सुखासने ॥५॥

अपिजनिते परमे पुरातने – मधुमति नन्दति – नित्यनूतने
विपदि सदाप्त – मुकुन्ददर्शने – सुविहित – सर्व – समृद्ध–सर्जने ॥६॥

अनुपम काव्य – कलाविकासके – भवभय – संशय – भूरिभक्षके
सितयशसाऽखिल – विश्वभासके विधिविहिते जगदादि – शिक्षके ॥७॥

हरिहर – हंसविहारि – पोषिते "जयजयभारत" घोष – घोषिते
प्रकृति कृति–ननु का न भासते निखिल विपद् गण–नाशि भारते

अथ काचिदेका–गद्य कुसुमाञ्जलिः

भारतं वर्षम्

अस्ति अव्यक्त व्यक्तरूपाया अखिललोकलावण्यसीमायाः निखिलार्थसाधिकाया मातुर्महालक्ष्म्याः पृथिव्या परमपावने स्नेहसद्मनि शुभाङ्के विराजमानम् त्रिभुवने विभ्राजमानम्, उदीच्यामभिषिच्यमानम् साक्षात् शंकरसन्निवेशेन, सुरसरित्–सूर्यतनयादिशुचिसरित् समुद्भावकेन, प्रकृति–विलासविलक्षणेन, शैलशिरोमणिना, सर्वदेवालयेन, हिमालयेन, मध्ये च विजृम्भमाणम् विशालशिलातलपतन्नार्मदसलिल–समुच्छलच्छी करमुक्तानिकरवर्षिणा, सघनवनसुखशयनमग्न – पञ्चाननेन, झंझावात विधूतविनमत्तरुगणविहितानवरत – नृत्येन, विद्युत्प्रपातप्रतिध्वनित–महा गह्वरगर्जित महाविजयपटहेन, क्षीणस्थलमृत्युञ्जया – मरकण्टकविहरद्–व्याघ्रेण, बृहता विन्ध्याचलेन, तत्तद्देशविशेषाशेषसमुपहार – समानेतृ–

सलिलपोत-समन्वितेन, सुरभित-सुफलिततरुराशिसमलंकृततीरेण प्राच्या प्रतिच्यामवाच्या च नितरां समभ्यर्च्यमानं महामहिमशालिना रत्नाकरेण, निखिलभूमण्डलविभूषणं परमविलक्षणजन-जन्मसम्मानितसर्वसदनं सर्व-सौख्य-समन्वित सनातनभारतं भारतं वर्षम् ।

—विक्रमाभ्युदयात्

राजस्थानम्

यत्र च भव्यभारते राजते व्याप्तदिग्दिगन्तकीर्ति, वीर प्रसूतिः परमपराक्रम-चमत्कृतसमस्तससृति', प्रतिपदतत्तत्समर - निहत-महाभटस्मृतिस्तम्भसम्पादित - समलकृति' प्रात स्मरणीयपद्मावती-प्रभृतिमहनीयनारिरत्न-सम्मानिताद्भुतसस्कृति परमपावनो नाना सुकवि गीयमान-सद्धर्मभावनो, भाजन सर्वगुणानाम्, आयतनम् सर्ववैभवानाम्, प्रिय तीर्थराजस्य पुष्करस्य, सरक्षको गवाम्, भक्षको दुराचारिणाम्, आवासस्थल च स्वदेश - सम्मान - सरक्षणतुच्छीकृत - सर्वकृच्छ्राणाम्, धर्माय समर्पितसर्वस्वानाम् श्री प्रताप-कर्ण - दुर्ग-प्रभृतीना महामान-वाना विश्वविख्यातो राजस्थानमिति महान् देशविशेष' ।

नि'सलिला परुषाचापि यन्मही स्वस्वामि - कुलाङ्कुरसर-क्षणाय मौनमनश्रुपात निजं स्तनधयमपि दस्युदावानलायार्पयन्तीभिः अन्तर्दग्धाभिरपि नित्यमेवहरिताभि. पर्णादिभि.* प्रपर्णिता, ताभिस्ताभि-रन्यसामान्यमहिलाभि सग्रामगमनोत्सुकनिजभर्तृ-हृदय-संशयनिवारण-पराभि अभिज्ञानार्पितस्वशिर शोणित-सुसिक्ता तत्तन्मानवमन-साह-सोत्साह-संचारणैश्च सुफलिता विहसति सततमितरा सुजला सुफला-श्चाखिलभूवलयवर्तिन्य तास्ता विशाला शुभा स्थल्य ॥

विक्रमाभ्युदयात्

* पर्णा-पन्ना

अथ विद्याधर-साहित्यदर्शनादि-सूत्राणि
विद्याधर–कारिकाश्च

तत्र प्रथमं साहित्य-सूत्राणि

१. अथात. साहित्यदर्शनमीमासा।

२. सनातनी वाग्–झंकृतिरव्यक्ता।

३ दिव्यस्वरभावमधुरा सा साहित्ये।

४ श्रोतृवक्तृभाव–साहिती–साहित्यम्।

५. चेतनाचेतनसंसर्गेण तत्तद–भावोद्बोधनमपि साहित्ये।

६. तथैव चेतनयो।

७ सर्वभावानुभवी, स्फुटशब्दार्थगायक स्वान्तर्नादनादक कश्चन जनश्च कथ्यते कवि.।

८. तदनुभूतिप्रकाशक सद्य तत्तद् – भावसम्प्रेरक कश्चन सगीतिमयो भावश्चोल्लासयति सत् काव्यम्।

९. स्पष्टोक्तिजीवित, स्पष्टमोज.–प्रधानं, सद्भावसमुद्बोधक च तत् काव्यम् सत्काव्यम्।

१० स्फुटं स्वार्थप्रकाशिका शक्तिरभिधा।

११. तत् सम्बद्धापरार्थद्योतिनी च लक्षणा।

१२. स्वस्वसस्कारानुकूलार्थाभिव्यक्तिश्च व्यञ्जनायाम्।

१३. व्यञ्जनाभकृति–र्ध्वनि।

१४ वर्णपदवाक्यानामुपरतौ तत्तद्–वर्णपदादिध्वनीना नित्या–नामर्थसंस्काराणाञ्च युगपदावेगजनितश्च स्फोट।

१५ तत्तद् – भावोद्बोधनक्षमा मनोऽनुग्राह्या वाक्य–योजना शैली।

१६. भावानुगत स्वराघात।

१७. आकस्मिकी सौन्दर्यानुभूतिश्चमत्कार ।

१८. विलक्षणं वा बुद्धिवैभवं जनयति चमत्कारम् ।

१९. प्राकृतिक, हार्दं, बौद्धिकं च नानात्मकं सौन्दर्यम् ।

२०. सर्वार्थं–विद्योतक केनाप्यनिर्वचनीयेन प्रकाशेन–प्रकाशितं च तद्‌भवति ।

२१. सर्वं–वस्तुगतमपि प्राधान्येन स्वगत तत् ।

२२ नहि सर्व सर्वस्मै रोचते ।

२३. स्वस्वानन्दानुभूति–समुल्लासित वा सर्वं सौन्दर्यम् ।

२४ आत्मविकासोद्भूत वा सौन्दर्यम् ।

२५. ग्राम्याणामथ नागरिकाणां च न सर्वत्र सामाना सौन्दर्य–दृष्टिः ।

२६ एवमेव श्यामाङ्गाना सौन्दर्यबोधेऽपि दृश्यते पृथग्–विध–मेवाङ्ग–सौष्ठवम् ।

२७. स्वभावेन तन्मृदु, आकर्षकमस्पृश्यं च भवति ।

२८. मार्दवाद् गाभीर्ये किमप्यन्यदेव भवति भीतियुत वैलक्ष–ण्यम् ।

२९ अविस्मरणीयश्चानयो विभु प्रभाव ।

३० सात्त्विकाना तत्सात्त्विक तामसश्च तामसानाम् ।

३१ न विभावयेदाकृति विकृताम् ।

३२. न वा वर्णयेन्मन –क्षोभकरं किञ्चिन् ।

३३ सन्दिग्धमनर्थकं च न प्रतिपादयेन् किञ्चित् ।

३४ उल्लासो रस ।

३५ कर्त्तव्य–पूर्तिजनित–आत्मसन्तोषो वा रस ।

३६ चिन्ताव्यग्रे चित्ते न समुल्लसति रस ।

३७ नवा समुल्लसति स्वय चिन्तित चित्तम् ।

३८. विभावानुभाव–व्यभिचारि–भावाना संयोगेऽपि नोल्लसति सदैव रस ।

३९ असति भोग्यभोजकयोरैक्ये नास्वाद. ।

४०. नास्वाद्यतेऽस्थिरेण चेतसा किञ्चिन् ।

४१ परेषां सन्तोषेणानुभूते स्वसन्तोषेऽपि भवति कश्चन रसोऽद्वितीयः ।

४२. व्यभिचारिभावा–अपि भवन्ति क्वचित् क्वचित् स्थायि–भावत्वमापन्ना· ।

४३ सर्व–कामपरितृप्ते–कर्म–पूर्ति–चिन्तारहिते परमेश्वरे च रसो भवति सदैव परमोरस ।

४४ प्रतिशब्दं, प्रत्यर्थम्, प्रतिकाल च नानाविधमलकरणम् ।

४५. सादृश्य, सादृश्यमिव प्रतिभासकं, तद् विपरीत वा विभावयत्यलंकरणम् ।

४६. बुद्धि–वैशद्येन, विभुदर्शनेन वा विदुषामुक्तिषु तद्भवति स्वत सिद्धम् ।

४७ अनलंकृता अपि सत्येन संबलिता, ग्राम्याणा स्पष्टोक्तयोऽपि न भवन्ति सर्वथा काव्यत्वेन हीनाः ।

४८. सारल्यं तत्र परमो गुण· ।

४९. प्राकृतानामुक्तयो भवन्ति सदैव कृत्रिमैरसभङ्गै विमुक्ताः ।

५० अस्पष्टं, संगीति–हीन यत्तदनर्गल–वाग्–बहुलं च काव्यं न सत्काव्यम् ।

५१. यथा संभव सदैव समुद्भाव्यं सद्भाव – सम्प्रेरकम् सत्काव्यम् ।



अथ काश्चन अभिनवाः साहित्यकारिकाः

औदात्यम्, काव्योद्भाविनी स्थितिः

सर्व सर्वात्मना सद्य व्याप्नुयात् यत् जनात्मनि
निर्मल तत्त्वमौदात्यं तत्रैतत् स्फुरति स्वयम् ॥१॥

यन्निशम्य स्वत सर्वे साधुवादपरायणा.
हृद्यामुक्तिम्प्रशसन्ते तत्रौदात्य स्फुरेत् स्वत ॥२॥

सर्वेषामपि यत्रैषा यथास्थान स्थिति. स्थिरा
स्वतस्तत्र समुद्भाति तत्त्वमौदात्यमुत्तमम् ॥३॥

उत्कर्षो व्यापको ह्यस्मिन् आणिकोऽपि कचित् कचित्
न ह्येतेन निरुध्यन्ते रसा केचिद् गुणास्तथा ॥४॥

पतत्प्रकर्षदोषोऽस्मिन् क्षण न सह्यते क्वचित्
भग कोऽपि तथौचित्ये वैकल्य जनयेत् परम् ॥५॥

उत्कर्षो व्यापको ह्यस्मिन्–आणिकोऽपि कचित्–क्वचित्
स्वचित्तानुगते भावे प्रकर्षानुभवः स्वत ॥६॥

सच्चिदानन्द – सम्पन्न तत् किंचिद् विलक्षणम्
तत्त्व सर्वत्र सर्वेषु नाना रस – विभावकम् ॥७॥

चेतनाचेतनयोरैक्ये चेतनेन चितेस्तथा
स्वान्तर्भाव – समुद्रेक काव्योद्भवकरो मतः ॥८॥

केनाप्यन्येन भावेन मनोवेग – विभाविनी
वाचां स्वयमुत्स्फूर्ति. काव्योद्भूतिकरी मता ॥९॥

प्राकृते सा पृथक् काचित् पृथक् सा संस्कृतात्मनि
जनस्य प्राकृतस्यापि वाणी सा चित्तहारिणी ॥१०॥

वैलक्षण्यं च शब्दस्य तत्तद्रूपेण भासते
क्वचिदर्थे क्वचित् शब्दे ध्वनावेव क्वचित् पुन ॥११॥

गुणोवाऽस्तु – स्वसिद्धो वा शब्दोऽय सर्वशक्तिमान्
स्थानभेदात्तु – नानात्मा जायते चानुभूयते ॥१२॥

साहित्ये दर्शने चैव न भेद कोऽपि तात्त्विक.
एकस्मिन् मनसस्तृप्ति· परस्मिन् बुद्धि – तर्पणम् ॥१३॥

सुव्यक्तो यत्र हृद – भाव. हृद्य काव्य हि तन्मतम्
नानाविधाश्च हृद्-भावा· सर्वेषा न समा हि ते ॥१४॥

काव्य सत्कविभि-स्तस्मात् सर्वै-र्भावै. समन्वितम्
रसै. सर्वैश्च सम्पन्नं विभाव्यं – सर्व – सौख्यदम् ॥१५॥

तत्तत्-तत्त्व समीक्षकानि सूत्राणि

१. यद्यस्मिन् नित्यं विद्यमानं तत्तस्य तत्त्वम् ।

२ तत्त्वमेकमनेकधा ।

३. तत्र चेतनाचेतनात्मकं, व्यक्तमव्यक्त, सगुणं निर्गुणं, व्यष्टि समष्टि–समन्वितम्, सच्चिदानन्दं, सनातन तत्त्वं ब्रह्म निष्क्रियम् ।

४. स्वप्रकाश–प्रकाशितं सर्व–प्रकाशकं, सर्वादिमं च यत् स्वरूप तच्चेतनम् ।

५ तदेव चास्थिरम् पर–प्रकाश–प्रकाशित चाचेतनम् ।

६. स्वतन्त्रम् परतन्त्रम् चाखिल लोके ।

७ परस्पराश्रितं वा सर्वम् ।

८. स्वतन्त्रात् कारणात् स्वतंत्रं कार्यम् ।

९. अभेदादुभयोः ।

१०. सर्वं सर्वस्मात्समुद्–भवितुमर्हति ।

११. सर्वं च सर्वस्मिन् परिणमितुमर्हति ।

१२. एकस्मादेव कस्माच्चन कारण विशेषात् समेषामाविर्भावात् ।

१३. क्रियाजननी, त्रिगुणमयी, प्रतिक्षणं तत्तद्रूपान्विधारिणी काप्यनिर्वचनीया सदसद् विलक्षणा माया ।

१४. अद्वैते द्वैतदर्शिनीयम् ।

१५. आत्म–विस्मृति–जननी च ।

१६. अनयावृतं व्यष्टिमापन्नं ब्रह्मैव जीवः ।

१७. जीव व्यष्टिरहंकारः ।

१८. अहंकार–व्यष्टि–रिन्द्रियाणि ।

१९. ऐन्द्रियास्तेते विषया ज्ञानात्मकाः कर्मात्मकाश्च द्विविधाः ।

२०. ते चैव तत्तच्चेतन–तन्मात्रादि–विभाविनो भावाः ।

२१. शुद्धसत्वोपेतः समष्टि–स्वरूपः सर्वशक्तिमान् ईश्वरः ।

२२. माया सम्वलितोऽयमेव हरिहर – ब्रह्मादिरूपेण सृष्टिसंचालको मन्यते ।

२३. सृष्टिरियमस्य न काऽप्यनित्या वा केवलं मिथ्या भ्रान्तिजनिता मृग–मरीचिका ।

२४. मायामय्येव जगत्–मिथ्यात्व–प्रतीतिः ।

२५. विशुद्धे वैकल्याद् मिथ्यात्वभ्रान्तिः ।

२६. अहं व्यष्टिविकलो दिक्कालावच्छिन्नोऽल्पबलो जीवः स्वभावतोऽल्पज्ञः ।

२७ क्षुद्रस्य क्षुद्राः प्राणाः ।

२८. प्राणशक्तिरेव मनः शक्तिः ।

२९. प्राणशक्त्यै समष्टिशक्त्यधिगत्यै च संरक्ष्यं मनस्तत्तद्-इन्द्रियदोषविमुक्तम् ।

३० कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यादयो मुख्या दोषा ।

३१ विभक्तोऽहम्भाव एव तत्तन्मात्रा विभाजको भाव ।

३२ समष्टिगता व्यष्टिगता रूपरसाद्यनुभूतिरेव च मन ।

३३. अन्तर्भावयेद् विभक्तमहम्भावमविभक्ते परमे भावे ।

३४ सर्ववल्लभ स्थिरोभाव परमोभाव ।

३५. भक्ति प्रधानं तत्प्राप्तिसाधनम् ।

३६ आत्मपरमात्मरतिर्भक्ति ।

३७. पदे-पदे भगवदनुग्रहानुभूति र्वा भक्ति ।

३८ व्याप्ये व्यापकदर्शनानुभूति-र्वा भक्तिः ।

३९. तन्मयता भक्ति ।

४० उपास्योपासकयोरेकीभावेऽद्वैतम् ।

४१. प्रकृति पुरुषयोरेकीभवनं-रास ।

४२ प्रतिकर्म-रसास्वादो विहारः ।

४३ विहारी विहारिणमधिगच्छति ।

४४. विहारिणः सर्वकामा निष्कामा ।

४५ कर्म सकाम निष्कामं च ।

४६. सकाम कर्म नावरम् नचेत्केवल स्वार्थ-साधन-मात्र-संलीनम् ।

४७ सर्वं सर्वस्मै कृत सकाम कर्मैव निष्कामम् ।

४८ नि सङ्गेऽसत्यपि सर्वकर्माभावे भवत्येव वासनाना काम-नानात्वाभाव. ।

४९. हेया प्रमादोपेक्षालस्यादय कर्मप्रतिबन्धका दोषा ।

५० ऐहिकाभ्युदयापेक्षी निःश्रेयसाभ्युदय ।

५१ योगकौशलं कर्म ।

५२. अपनेयाऽत्मक्लान्तिः ।

५३. स्थैर्यञ्च नित्यम्प्रसन्न-चेतसा ।

५४. कर्त्तव्य-पूर्तिमृते न सुलभ आत्म – सन्तोष आत्मप्रसादो वा ।

५५ कर्मयोगी सदा सुखी ।

विकास-सूत्राणि

१. शक्ति हि स्वशक्तिः ।

२ नैषा चेतनेऽचेतने वा भिन्ना भिन्ना ।

३. उभयो. सयोग एव वेयं भवति समभिव्यक्ता ।

४. जनके जनन्या च सा समाना ।

५ विकासे पितु र्मातु र्वा प्राथम्यस्य प्रश्नस्तत्र कश्चन तात्विकः प्रश्नः ।

६ अभेदादुभयोः ।

७ अर्धनारीश्वरो ह्येव विकास-पद्धते सर्वसम्मतः परमेश्वरः ।

८. बीजवृक्षयो प्राथम्यस्य समस्यापि तत्र काचन तात्विकी समस्या ।

९. सहैवानयो सुविकासात् ।

१० शिवो विष्णुर्देवीच सर्वेऽप्येते सन्ति सृष्टि – प्रवर्तकाः साम्येन ।

११ केचिदनादिकालात् स्वत सिद्धामेव मन्यन्तेऽखिला सृष्टिम् ।

१२. केचिच्च पश्यन्त्येना तत्तत्कालेन प्रवर्तिताम् ।

१३. अपरे चैकस्मादेव कस्माच्चन भौतिकात् कारणविशेषात् ।

१४ नायं विकास सर्वथा निरर्थक ।

१५. न वा केवलम्पुरुषस्य प्रकृते र्वा स्वातन्त्र्याय ।

१६ न च केवलं मायया भासमानमेतदखिलम् ।

१७ यद् दृश्यते, यद् भाति, यद् विवर्तमात्रं यच्च परिणामि तन्निखिलं सत्य नियतेन क्रमेण विकसित चान्ते सर्वं सर्वस्मिन्-एकीकृतमेक-मेव सच्चिदानन्दं किमप्यनिर्वचनीयम् परमप्रेमात्मक परम शान्तमेतत् परमात्म – तत्त्वम् ।

१८ अस्थिरात् स्थिर मा नय ।

१९ भयादभय मा नय ।

२० कम्पादकम्प मा नय ।

२१ ॐ मृत्यो र्मा अमृत गमय ।

भारतीया संस्कृतिः

१ तत्ताद् आत्मसस्कार-द्रव्यगुणकर्म-प्रभावोद्भाविता शाश्व-तीव काचित् मन स्थिति संस्कृति ।

२ ज्ञानोज्ज्वला सा नित्या ।

३ अन्धपरम्परया अज्ञैरुपास्यमाना नैवाऽनित्या ।

४ नित्याऽनित्येति सा द्विधा ।

५ सच्चिदानन्दमयी नित्या सा भारतीया ।

६ प्रकृत्या सात्विकी नित्यमस्तेयादिपालनपरा दिव्या भारतीया-संस्कृति-र्नैषा परस्वोपहर्त्री पर प्रदेशाधिकारकरणप्रवणा तत्तत् प्राणि-प्राणापहारिणी वा ।

७ मन क्लान्ति निरासिनी प्रतिक्षणमन्त. प्रसादिनी च ।

८. भोक्तव्य कर्मफलमवश्यमिति अस्या. सुदृढो विश्वास कर्म-फल भोगायैव च पुनर्जन्म भवतीति चास्या सुनिश्चित. सिद्धान्त ।

९. त्रिकालवर्तिनी, त्रिभुवन व्यापिनी, निखिल विश्वहितैषिणी चेयं स्वभावात् ।

१०. स्वान्तः-परीक्षणशीला सन्ततं-परोपकर्त्री च ।

१० त्यागमूलेयं हृष्यति त्यागेनाथ दानेन ।

१२ सत्यशौचादि सम्पन्नेयम् चैवाऽहिंसा-निरता नित्यं सर्व-प्राणि-संरक्षिणी ।

१३ न सहते साऽहङ्कार-जनिता काञ्चन क्षुद्राम्प्रवृत्तिम् ।

१४ जुगुप्सते चानृतम् ।

१५ स्व स्वकर्मफलाधायिनी निखिलाऽत्र सुखदुःखावाप्ति ।

१६ स्वपुरुषार्थैः शक्य कर्मफलमपि यथातथा परिवर्तितुम् ।

१७ विचित्रोऽस्यामास्तिकाना नास्तिकाना च समन्वयः ।

१८. प्रायशः सर्वत्रैवेय सुप्रयतते सामञ्जस्याय ।

१९ सर्वत्रैकमेवाद्वितीय-दर्शनीयम् पोषयति सर्वत्र विश्वैक्य-भाव विश्वकल्याणञ्च ।

२० स्वदेशो भुवनत्रयम्, इत्यस्या व्यापक. सन्देश. ।

२१. चतुर्विधेषु आश्रमेषु वर्णेषु च सुविभक्ता अस्या निखिला वैयक्तिकी सामाजिकी च जीवन-प्रणाली ।

२२. ब्रह्मचर्यमाश्रित्यैव गृहस्थादीनामपरेषामाश्रमाणा भवति सर्वात्मकः सद्विकासः ।

२३ वागर्थाविव सम्पृक्तमत्राखिल दाम्पत्यम् ।

२४ ब्रह्मचर्येण सुरक्ष्यते शरीरं मनोबलं च ।

२५ आत्मविकासाय मनोविकासाय च शरीरम् आदिसाधनम् ।

२६. सुरक्ष्य ते च शरीरमायुषा ।

२७ चेतना-चेतन-सयोग-सरक्षणम् आयु ।

२८. पाञ्चभौतिके पिण्डे तत्तद्भूतभौतिक-द्रव्यमात्रा-सामञ्जस्य स्वास्थ्यम् ।

२६ स्व स्वव्यापारे यथास्थिति स्थान वा स्वास्थ्यम् ।

३० अचेतन संशोधनमावश्यकम् ।

३१. अशुद्धमचेतन चेतनव्यापार बाधकम् ।

३२ भौतिक यज्ञक्रिया-प्रवर्तक भोजनमथ पानम् ।

३३ नह्यन्नं बिना प्रकृतिरन्नादमुत्पादयति ।

३४ प्रथमं वनस्पतयस्ततो जीवाः ।

३५. समपेक्ष्यते सर्वविधाना धातूनामभिरक्षणाय सर्वेषामेव धातूनामुपयोगः ।

३६ चन्द्रदिवाकरयोरविहृतः प्रकाशो भवत्योषधप्रभावाय ।

३७. मरुस्थले निर्बाधा तत्समवाप्ति-संभावना ।

३८ स्वभावसिद्धं स्वास्थ्यसदन मरुस्थलम् ।

३९ सेव्य प्रात कालीनो वीरवायु ।

४० सदैव समुपास्यश्च भगवान् भास्करः ।

४१ सम्वर्धनीया शैत्यतापादिसहिष्णुता ।

४२ तदभावे पदे पदे प्रतिश्यायादिभयम् ।

४३ सेव्यानि सर्वविधान्यन्नानि ।

४४. नहि किमपि नित्यमासेवित खाद्य सद्यः परित्याज्यम् ।

४५. स्व स्वकाले प्रकृत्यापेक्षिताः निषेव्या रसाः सर्वे ।

४६ नावरोध्या निद्रा, न वा रोध्या वेगाः ।

४७ नहि रोग-लक्षणानि क्षणमप्युपेक्ष्याणि ।

४८. समये शयनं, समये जागरणं, समये च भोजनं भवति सदैव जीवन-सौख्याय ।

४९ निद्रादोष-जनका सर्वशान्ति विघातकाः सयम्या सदैव कामक्रोधलोभमोहादयो रजोगुणस्फोटा ।

५० सात्विकं भोजनं सुखस्वापाय ।

५१ स्वल्पाशी सदासुखी ।

५२ उदर–व्याधिग्रस्तो न भवेत्तत्सर्गी ।

५३. यत्सुपाच्य तदेव भक्षयेत् ।

५४. तक्रसेवी स्यात् ।

५५ मिष्टान्न गृण्हीयात् केवलं प्रसादरूपेण ।

५६ तत्तद्विविष्टै र्योगैर्वा परिसाधयेत् स्वानुकूलान् स्वादु–पदार्थान् ।

५७ योषिता स्तन्यं सदैव रक्ष्यम्पवित्रम् परिपुष्टञ्च ।

५८. संरक्ष्या बाला सदैव सुप्रसन्नाः ।

५९. अस्वस्था नारी जनयति सन्ततिमस्वस्थाम् ।

६०. सुरक्ष्या सदैव पाकशाला–विशुद्धिः ।

६१. भवति नारी प्रायः पथ्यविरोधिनी ।

६२. योषिता जिह्वास्वाद–संयमो भवेत् सदैव बालाना भैष–ज्याय ।

६३ परिणीतैरपि परिपाल्य ब्रह्मचर्यम् ।

६४ गृहस्थै सदैव सम्पालनीया कामधेनु. ।

६५ परित्याज्या मक्षिकादिभिर्विदूषिता आपणिका. पदार्था ।

६६ नहि शुद्धं गव्य विना भवत्यायुर्वेदभैषज्य–सिद्धि ।

६७ प्रतिग्रामं सरक्ष्या गोचरभूमि ।

६८ गृहस्थै. संस्थेय सदैव सर्वै. सुप्रसन्नै पारस्परिकेण कल–हेन विमुक्तैश्च ।

६९. अशान्ति–वर्धक. कलहो निमन्त्रयति स्वतो नानाविधान् मानसिकान् शारीरिकाश्च रोगान् ।

७०. यथासभवं सरक्ष्य रोगिस्थानमेकान्ते ।

७१ प्रतिगृह ममपेक्ष्यते स्वच्छतमं शौचगृहम् ।

७२ सदैव-ग्राह्यं-तुलसीपत्रम् ।

७३ मैथुनान्ते पिबेद्दुग्धम् ।

७४ पथ्यं विना न सेवेत किमपि तत्तत्पौरस्त्यम्पाश्चात्यं वा भैषज्यम् ।

७५ सदैव सेव्य हृद्य द्रव्यम् ।

७६ हितभुक् मितभुक् वामशायी च सदा स्वस्थः ।

७७ न परित्यजेत् कदापि भ्रमणम्प्राणायामं सुस्थिरं मौनं ध्यानञ्च ।

७८ भवति हिताय स्वरानुकूल भोजन स्वरानुगत च पानम् ।

७९ दक्षिणे भोजन वामे च पानम् ।

८० तथैव मैथुनं दक्षिणे ।

८१ स्वरसशुद्धि प्राणसंशोधिनी ।

८२ न पीड्यते स्वरसाधको वायोरवरोधेन ।

८३ प्राणायामोऽपनयति मस्तिष्कभ्रान्ति हृदयापशान्तिश्च ।

८४ प्राणशुद्धिश्च जायते ।

८५ स्वरपरिवर्तनेन भवति तात्कालिकी रोगशाति. ।

८६ स्वरा एव प्राणा ।

८७ अपथ्य जनयति सदैव स्वरवैषम्यम् ।

८८ स्वरसाधक सदैव सेवेत सुमितानि सात्विकानि द्रव्याणि ।

८९ रक्षेच्च नित्यं स्व विचारान् सर्वथा परिशुद्धान् ।

९० नित्यं हितावहा वैचारिकी चिकित्सा ।

९१ न भवेद् रोगी कदापि नैराश्य-विकल ।

९२ सुद्धाया विचारशक्त्या विचारेणैव भवंति वश्या अखिला रोगा. ।

९३ मत्ताना विचारचिकित्सा प्रधाना ।

९४ न कदापि सद्यो विरोध्यो निरोध्यो वा कश्चन प्रमत्तः ।

९५ सुविधेया. सदैव सुद्दढाच तस्य विचारशक्ति. ।

९६ शकित, सशयितः, पूर्वाग्रहशीलश्च जनः स्वस्थोऽपि भवत्यस्वस्थ ।

९७ शरीर नैर्बल्यात्मनो–नैर्बल्यम्पुराऽपनेयम् ।

९८ स्वस्थोऽपि निर्बलमानस सदैवानुभवत्यात्मानमस्वस्थम् ।

९९ भगवत्स्मरणं. तत्तत्कर्म – व्यासक्तिः सदैव सुसम्वर्धयति मनोबल सर्वेषाम् ।

१००. शरणागत–दीनार्ति–परित्राण–परायणे
सर्वस्यार्ति–हरे देवि, नारायणि नमोऽस्तुते ॥

१०१ ॐ यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभय कृधि ।

अथ कानिचित् तत्तत्–प्रकरण–गतानि प्रकीर्ण–सूत्राणि

१ सदैवाभिनन्दनीया परार्थ–सिद्ध्या स्वार्थसिद्धिः ।

२ अपहरेत् सर्वप्रथम वर्तमान सर्वविध दु खम् ।

३ निर्वृतिरियम् परमा निर्वृति–र्निवृत्तिश्च सर्वोत्तमा ।

४ ऐहिकाभ्युदयाय मुख्या कर्मोपासना ।

५ विहेयाश्च सतत निद्रातन्द्रालस्यादयोऽखिला दोषा. ।

६ स्वानुभवात् परं न किमप्यन्यत् प्रमाणम् प्रमाणमुत्तमम् ।

७ न कश्चिन्महान् भेद परिणामेऽथ विवर्ते ।

८ वस्तुगत परिणामः ।

९ द्रष्टृ–गतश्च विवर्त ।

१० साम्यमुभयो–र्लयेः ।

११ अनियतात्मक साहित्यिक विश्वदर्शनम् ।

१२. वैज्ञानिकी दार्शनिकी चोभे दृष्टी प्रभावयत. साहित्यिकी विश्वदृष्टिम् ।

१३ वैदिके साहित्ये च समभिलक्ष्यते सा सर्वत्र सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रा विश्वव्यापिनी च ।

अथ नय सूत्राणि

१ दूरदर्शिनी प्रथमत एव परिणामप्रबोधिनी च मति - राजनीति ।

२. न सदैव शुभाय आत्मोदयः परज्यानिरिति प्राक्तनं तल्लक्षणम् ।

३ पक्ष-सपक्ष-विपक्ष-शक्ति-परीक्षणमपेक्ष्यतेऽस्यां निरन्तरम् ।

४ सुपरीक्ष्या सुतर्क्या चात्र प्रतिक्षणम्-क्रिया-प्रति-क्रिया प्रतिघात-सभावना ।

५. समनुसधेयः प्रधानो विपक्षदोष. ।

६ प्रतिक्षणं सुप्रयत्यम्-तत्तत् मित्रसम्प्राप्त्यै ।

७ हेय. तुच्छ-प्रचार-प्रहार' ।

८ नह्येकस्यैव कस्यचन भावस्य रक्षणाय विरोद्धव्यो बहु-जन-भावः ।

६. पारस्परिक सद् विमर्शोऽनवरत हिताय ।

१०. स्वगत-राष्ट्रगत-विश्वगताखिलहित - संसाधिनी नीति. सन्नीति ।

११ धर्मानुप्राणितेयं नीति-र्भवति सदैव धर्म्या-सर्वप्राणि-हित कारिणी च ।

इति साहित्य-दर्शनादि-रहस्योद्भासकानामाचार्य-वर्याणां साहित्यो-द्याने समाकीर्णेयं विद्याधर शास्त्रि-साहित्य-पत्रावली भवतुकृतकृत्या विदुषां कृपापूर्णेन सुसमीक्षणेन ।

अथ विद्याधर–संस्कृत नाटकावली

तत्र प्रथमम् पूर्णानन्दे प्रथमोऽङ्कः—

सानन्दम् प्रकृति सहैव सततं योऽर्धाङ्गिनी रक्षति
प्रीत शून्यमिद यत सुविकसितं चालक्ष्यते सर्वत ।
नित्य नर्तन – संरतं सुमधुरं शान्तं स्वर तम्परम्
पूर्णानन्दमुपास्महे स कुरुतामानन्द – पूर्णं जगत् ॥१॥

संसारानल – दग्धाना मूर्धान जान्हवी – जलै
सन्ततं शीतलं कुर्वन् पातु वश्चन्द्रशेखरः ॥२॥

(नान्द्यन्ते सूत्रधार)

सूत्रधारः — देवदत्त, देवदत्त,

(प्रविश्य पारिपार्श्विक.)

देवदत्तः — आज्ञापयतु भाव ।

सूत्रधार — कथमद्य समुपस्थितायामप्यभिनय वेलाया न दृश्यते तवाभिनेतृषु कश्चन नवोत्साहो न वा कश्चन नवाशा–सचार ।

देवदत्त. — मान्यवर्याणामनुचरा वय सदैव वर्तामहेऽभिनवेन समुत्साहेन सम्पन्ना सदैवाद्वितीयया क्रिया – शक्त्या च समवेता ।

सूत्रधार — सदैव तदनुभवामि प्रत्यक्षम् । नाद्य किन्तु सा स्फूर्ति. कचिल्लक्ष्यते तथैव प्रस्फुरन्ती ।

पारिपार्श्विक.— भाव प्रेक्षस्व तर्हि पुनरेनाम्पूर्वतोऽप्यधिका परिस्फूर्तीम् ।

सूत्रधार· — "पुन"–ममिष ते शब्द कुरुते शंकितं भृशम्
व्यापारे निश्चिते कैश्चिद् – बुधैर्नायम्प्रयुज्यते ॥३॥

देवदत्त· — पूज्यवर्या, मान्यानामादेश–स्थले न भवत्यनिश्चयाय कश्चनावकाश· । पर प्रभाते सत्यपि कीदृशी किलेयं गीयतेऽस्माभि काचन सायन्तनी गीति । को नामाद्य तत्तद्देश–भाषाभाव–प्रभावितात्मनि–अभिनवेभारते भवतो जीर्ण–भाषानिबद्ध–मिद नाटक द्रष्टुमिहागच्छेत् ?

सूत्रधार· — (स्वगत) नून तर्कोऽस्य नास्तिसर्वथा निर्बलः (प्रकाशम्) देवदत्त सत्यमेतत् सर्वम्, परम् नित्यममराऽस्माक भारती श्रावयति सदैव कचनानुपममरमेव सन्देशम् ।

विस्मृत्य ता ता हि कृपा स्वमातु–र्भवन्तु केचित्तनया कृतघ्ना
स्नेहार्द्रचित्ता जननी पर सा तिष्ठेत् सदा कामदुघा तथैव ॥४॥

अपिचानवरतम् – अमरभारती – सदुपासनानिरतानाम्–असख्यात–प्रख्यात–शिष्यगणार्चित चरणाना महाभाष्या चार्याणा श्री हरनामदत्त शास्त्रि वर्याणाम् पुत्रस्य विद्यावाचस्पते श्री देवीप्रसाद–शास्त्रिणस्तनयस्य भारद्वाजान्वयस्य विद्याधर शास्त्रिण सुप्रथितेयं भणिति. ।

या नित्या सा सदा शुद्धा शुद्धाया विकृति. कुत
वाक् तन्त्री – निर्गता नित्या भारतीय सुधामयी ॥५॥

देवदत्त — भाव, भवतु भवता भारती सदैवामरभारती परमद्यतनी भारतीया जीवन – गतिस्त्ववगाहते काचन भिन्नामेव दिशामित्यत्र नास्ति कश्चन सशय ।

सूत्रधार — देवदत्त, अत्राप्याधुनिको लोको भ्रान्त एव सर्वथा। देशोऽयं न कश्चन सामान्यो देश । इहहि बहुलायामपि तत्तद्देश – सम्पर्क – दोषतमिस्राया–प्रकाशयति चैनमनिश किमपि तदेव दिव्यतम ज्योति–र्यन्न भवति कदापि मन्दं द्युति–हीनं वा ।

देवदत्त — यदीदृशमेव किंचनानुपम वस्तु पूर्णानन्देऽस्मिन् नाटके वर्ण्यते तदातु मामकीन चेतोऽपि त्वरयतीव मामेतद भिनेतुमविलम्बेन ।

सूत्रधार — अत्र सन्देह एव क । तत्र हि स्वयमेव प्रतिश्रुत नाटक प्रणेत्रा—

जातं सम्प्रति न समस्तमपि यद् दोषावृत्त जीवनम् ~
लोकै–र्विस्मृतमेव संयम–सुखम् प्रेम्णाश्च चिन्त्यागति ।
पूर्णानन्द–कृतावत सहृदयै–र्दृश्य हि तत् प्राक्तनम्
क्षेमाकाङ्क्षिभि–रार्य–संस्कृति–रतम् प्रेक्ष्यम् पुन पावनम् ॥६॥

(नेपथ्ये नृत्यध्वनि)

किमु सुप्यत आलि–अहो अधुना दिनमद्य सुरम्यमिद ह्युदितम्
द्युतिरस्ति नगा परित प्रतता नवमुल्लसित हृदय च हृद ॥७॥

कुसुमे कुसुमेऽनुपमा सुषमा सरस मरुदेशवन विरसम्
सरित प्रवहन्ति हसन्त्य इमा· प्रतिभाति जगत्–ललित निखिलम् ॥८॥

देवदत्त — (निशम्य) कीदृशोऽयायम् भाव । भवत्ययं जगति नवीन एव कञ्चनाशा–संचार ।

सूत्रधार — अरे, चिराद्–यत्समीहितमासीत् तदेव न सम्पन्नम् । गुरुवरस्य गोरक्षनाथस्य वर–प्रसादोऽद्य मूर्तिमान् भूत्वा महाराजस्य शैलेन्द्रस्य गृहे समवतीर्ण इति प्रतीयते ।

तत एवेय मंगलगीति मयी नर्तन-झकृति परित: प्रसरन्ती नर्तयति सर्वेषामेव न-चेतासि । पश्य पश्य, तत एव चेमे सर्वेऽपि लम्बशाटपटावृता त्वरितगति-प्रचलद्दुकूला पण्डिता अहमहमिकया राजप्रसाद-द्वारम्पर्यावृण्वन्त इतस्ततो विचरन्ति ।

(कश्चनैकस्तेषु श्रावयति चैतत् पद्य मन्दस्वरेण)

समुपैति सहैव तामसी प्रथमैरेव करै र्न कि रवे
नियत प्रति बिन्दुवर्ति वा सहज कि न विशेषण ह्यपि ।।६।।

सूत्रधार — (श्रुत्वा) अरे सुधासारेणैव सह कीदृशोऽयं वज्रपातोद्घोष । सर्वथा कल्याण कुरुताद् – भगवान् भूतभावन' सर्वेषाम् । इदानीतु आगच्छ प्रमोदावसरेऽस्मिन् आवामपि एभि पण्डितै. सहैव राजकुल वर्धापयाव समुपस्थिताना जनाना मनोरञ्जनाय च यत सामयिक तत् प्रस्तुम ।

द्वितीयं दृश्यम्

(पुरोहित , पण्डिता अर्थिनश्च)

कमलाकर — शास्त्रं हि कि कि नाम न प्रत्यक्ष प्रदर्शयति विशेषतश्च ज्योति शास्त्रम् । अस्यानुग्रहेण मया पूर्व वर्षेऽस्मिन् प्रबल सन्तानयोगो वर्तत इति समघोपि ।

हिमकर — अरे त्रिकालदर्शिन् ! प्रज्ञानेत्र ! क ते शास्त्रेणानेन स्थितमासीदद्यावधि त्वदुदरदरीगर्त-निलीनेन ।

महीधर. — अरे शान्तं पापम् ! प्रसिद्धोऽयं धूर्तगज. । किमस्य योगैर्वियोगै कदाचन किंचन ज्ञात वा भाति । विज्-

यतो सर्वमास्माकं सर्वसिद्धिदात्री भगवती चामुण्डादेवी। (गम्भीरमुद्रां नाटयन्) अहो कीदृशी भयावहासीत् साऽपि महाकालरात्रिः। बलिदानकाले सहसैव यस्यास्तनो ज्वलज्ज्वालाः परितः समुद्भवन्त्यो मत्समुत्समायासिषुः जनगः शिवाः ।

हिमकरः — अरे पाषण्डभाण्ड ! अलं तर्जनेन विकत्थनेन ।

कमलाकर — सजाते वृष्टि-सपाते कथमद्य भेकोऽयं न टर्टरायताम् स्वानन्दयेग ।

प्रभाकरः — कथय कथं न सुप्रभातेऽप्यस्मिन् वायसोऽयं न भवेत् कौकार-मग्न ।

महीधरः — (आक्षिप्य) अरे। जानाम्यहं युवां कमलाकर-कृपोप-जीविनौ दुष्टग्रहौ ।

उभावपि — आवां च भट्ट-भट ! त्वाम्—

जानीवहे यत्कुरुषे यथा वा प्रतार्य लोकान् तनुषे स्वजालम्
स्याता त्वमेव न परं चिराय क्रूरग्रहैः सम्प्रति वीक्षितोऽसि ॥१०॥

अस्माकं च—

कर्मकाण्ड प्रवीणानां ग्रहाः कुर्वन्तु किं क्वचित्
सलिले प्रपतन् वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥११॥

पुरोहितः — पण्डितवराः ! सौभाग्येन समुदितेऽस्मिन् मांगलिके दिवसेऽपि किमेवमिव यन्निरर्गलम्प्रलप्यते ।

कमलाकरः — आर्यमिश्राः । निःसंशयमपूर्व — एवंप कञ्चन सौभाग्य-सूर्योदयस्तथापि प्रत्यक्षत एवात्र कथम् पतत्यय परमो भयावहः कश्चन काष्ठिक-कुठारप्रहारः ।

कमलाकर — भगवन् ।

पुत्रोऽसौ नियत विलक्षणगुण· कश्चिन्महान् सयमी
पित्रो· स्यादनुगश्च, दर्शनसुख नैवाप्नुत किन्तु तौ ।
आदौ षोडशवार्षिकी ग्रहगतिस्तद्रोधिनी दृश्यते
को जानाति घटेत किं परमित पुत्र शतायु परम् ॥१२॥

अर्थिन. — (श्रुत्वा) हन्तहता स्म । पुत्रमुखमनालोक्य कथ कश्चना ऽपुलकित पिताऽर्थिभ्यो मुक्तहस्तो भवेत् । अपि च किं नाम तौ पितरौ,

स्मेराननं वीक्ष्य सुतस्य कान्तम् बोधस्य रम्या क्रमश प्रदीप्तिम्
श्रुत्वा वचासि स्खलितानि भूयः प्रमोदमग्नौ नहि चेत् प्रजातौ ॥१३॥

एक — कालावधिरपि तु कियान्—

पुरोहित — (आक्षिप्य) न भवतअधीरा. । भाग्यलिखितं न केनापि कश्चित् किंचनापहर्तुं शक्यम् । सुप्रसन्नै सम्प्रति शुभाशीर्वाद-प्रदान परै वचन-प्रयोगे च सावधानैर्भाव्यम् । समागतमिद सम्मुखमेव दुर्गद्वारम् । पश्यत—

नार्यो मगलगीतिगाननिरता· तौर्यत्रिक वर्धते
प्रासादेषु पदं न तत् किमपि यत् पूर्ण न पौरव्रजै ।
राज्ञामुत्सव एव क स नु भवेत् यस्मिन्न सर्वोत्सव·
राज्य तद् भुवि धन्यमस्ति निरति-र्यस्मिन् प्रजाना नृपे ॥१४॥

विजयता महाराज । चिरंजीवतु कुमार
(सर्वेसम्भूय) विजयता महाराज । चिरजीवतु कुमार ।
(सर्वेऽपि सम्प्रविष्टा दुर्गाऽभ्यन्तरम्)

तृतीयं दृश्यम्

(तत प्रविशति चिन्तामग्नो महाराज)

महाराज. — आः कष्टम् । हृदयेन मुहुर्मुहुर्बलवत्प्रेरितोऽपि नाह

कथमपि सुतमुखावलोकन – सुखमधिगन्तु शक्नोमि। कदा वा दीनमिद मानवीय मन स्वमनोरथानाम् परिपूर्त्या भवति पूर्णम्परितृप्तम् शास्त्राणि वा कदा कस्यचन कोमलवृत्तिरक्षणमपेक्षन्ते। इमानि हि केवलमदृश्य–भविष्यभावनामयानि प्रायशो भवन्ति वर्तमान विरोधीन्येव। अन्यथा कीदृशोऽयं नियम·—

यदर्थमाजीवनमीहमानै दुःखानि सोढानि पर शतानि
सम्प्राप्तिकालक्षण–एव सोऽय कचिन्निरस्यो वत सनिगूढ ॥१५॥

किमत. पर दौर्भाग्यम्—

पुरासीद्यत्राहो प्रकृतिजनित किचन तम
सहस्रांशौ पूर्णे समुदयति तत्र – द्युतिमये
स्वहस्ताभ्या नेत्रे स्वयमिह पिधायैव विधिना
मयैतद् द्रष्टव्य तम इह घन हन्त परित ॥१६॥

हतविधे! त्वदीय विधानमपि शक्यम् किन्तु केन निरोद्धुम्। अवश्यभाविनमर्थमन्यथा–कर्तुम् न कश्चित् लोके प्रभुरास्ते। (क्षण विरम्य) चिर जीवतु पर सम्प्रत्यय सुकुमार कुमार। स्वयमेवाऽहमपि पुन कदाचन भवेयम् परिपूर्ण–मनोरथ·।

(अत्रान्तर एव प्रविश्य पुरोहित)

पुरोहित· — जयतु महाराज भगवत्–कृपया परिसमाप्तोऽद्य निर्विघ्न कुमारस्य पञ्चमो वर्ष। कुलपरम्परामनुसरद्भि स्वामिवर्यै सम्प्रेष्योऽय सम्प्रति कस्मिश्चन–राजवशशिक्षानुकूले गुरुकुले यत्राय समवयस्कै सहपाठिभि सह स्वतन्त्र विहरन् समधिगच्छेत्–राजकुमारोचिता मर्त्र विधामाचार–विचारशिक्षाम्–अहमपि च समये समये

तत्रत्यां तत्-प्रगति सुनिरीक्ष्य-आर्यवर्येभ्योऽखिलं यथा-वत्-निवेदयिष्यामि ।

नरेश्वर. — गुरुपुत्र, अधिगत्यैतदद्य परमहर्षावहं शुभ सद्-वृत्त महमपि साम्प्रतमनुभवामि स्वस्थमात्मानम् । गुरुजनैर-नुगृहीते बाले न पुन· पितरौ तत्कृतेऽधिक चिन्तितौ तिष्ठतो न वा भवत पुन. प्रतिक्षणं तत्तद् – गति निरीक्षण-व्यग्रौ ।

योग्यं गुरुकुलस्थानञ्च तत्रभवतैव सम्प्रति समन्विष्य सूचनीयोऽहं यथासभवमविलम्बेन ।
(पुरोहितः शुभाशीर्वादमावेद्य प्रस्थित । नरेश्वरश्च प्रविशत्यन्त· पुरम्)

(इति परिपूर्णः पूर्णानन्दे प्रथमोऽङ्कः)

अथ पूर्णानन्दे द्वितीयोऽङ्कः

प्रथमं दृश्यम्

(यात्रा संभार-संग्रह-सम्भ्रान्त प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी — (आत्मगतम्) अकस्मादेवाद्य महाराज श्रीशैलेन्द्रो बाल्हीकानभियात्विति निशम्यैव प्रकम्पमानगात्रस्य मे-ऽङ्गानि महादेव्या आदेशेनाधुना सर्वथैव प्राणरहितानीव सजातानि (विरम्य) यात्रेति शब्दस्य श्रवणमात्रेणैव वार्धक्ये न वृद्धेनाऽपितु तस्य प्राणैरेव पुरतो गन्तुमिव भूयते सर्वथा समुद्यतैः ।

अहो कष्टं यष्ट्या कथमपि समुत्थाय चलतः
गृहे स्वस्थानेऽस्मिन् परिचित – पदे चापि यदि मे ।
मुहुः संजायेत स्खलितिरिह चेत् हन्त नितराम्
कथं ह्युच्चे नीचे नवतम – पदे स्यान्ममगतिः ॥१॥

अथवा वासुदेव, किमावहसि व्यर्थं–मेतत् तत्तद्–विकल्प–जनितं परिचर्या–धर्म–विरुद्ध वत वैकल्यम् । महाराजः कथमपि क्वचिद् यात्रायामथवा कस्मिश्चिदपि बाल्हीक–स्थले नानुभवतु शारीरिकं मानसिक वा किमपि शैथिल्य तदेवास्तेऽधुना मदीयं सर्वप्रधानं–खलु चिन्तनीय वस्तु तदेव विचिन्त्य चापेक्षितानि वस्तूनि–सम्प्रति सग्राह्याणि मयाऽविलम्बेन ।

(अत्रान्तर एव तत्र प्रविशति आर्या माद्री)

माद्री — आर्य वासुदेव, किमेवं खलुः परिभ्रान्त इव यत्र तत्र परिभ्रमसि । आज्ञप्तास्मि महादेव्या विज्ञापयितुं यद–त्रैव स्थितेन भवता द्रष्टव्य सुसम्पाद्य च सर्वं खलु दैनिक राजगृहे समपेक्षित तत्तद् – देवालय – प्रभृतीना प्रबन्धजातम् ।

वासुदेवः — आयुष्मती भवतु महाराज्ञी । तत्रभवती च गृण्हातु मदीयान् शतशः शुभाशीर्वादान् । शतायुषश्च सन्त्वस्माकम् परमप्रिया महाराज–प्रवरा । परं यदि नाहं तर्हि कोऽन्यः खलु परितिष्ठेत् महाराजस्य परिचर्यायाम् ।

माद्री — सर्वमेतत् सुसम्पन्नम् । इदानीमेवान्त. – पुरे समागतैः स्वामिवरै महादेव्या सह सर्वमेतत् सुमन्त्रितम् । यद्यपि न वेद्मि निश्चयेन कतमः खलु परिचारक. सम्प्रति – स्वस्थाने स्वामिपादाननुसरेत् परम्प्रवासोऽय न प्रतीयते सर्वथाऽल्प–कालीन । यथामया महादेव्या स्तैस्तैर्वचनैर–

नुमितम्—महाराजो वाल्हीकाना गतिविधि—पर्यवेक्षणान्तर प्रधानामात्य—पुत्रस्य वैवाहिकम्प्रसङ्गमपि निजोपस्थित्यानु—गृण्हीयादेवेति प्राय सुनिश्चितम्। मागलिकेऽस्मिन्नवसरे महादेवी अक्षराऽपि प्रधानामात्येन तत्रोपस्थातु सम्प्रा—र्थिता, पर साऽत्र स्थितैव कुमारस्य ता ता शिक्षानु—गताम्प्रगतिम्पर्यवेक्षितु दृश्यते पर्युत्सुका। महाराजश्च ततः काश्मीराधिपतिना प्रार्थितस्तत्रत्याना तेपा तेपां रम्यस्थलानामपि दर्शनाय यत्र तत्र विहरेदिति सर्व सुविचिन्त्य सर्वे—महादेव्या सेवाया त्वदुपस्थिति—र्निर्णीता परमापेक्षिता।

कञ्चुकी — अनुगृहीतोऽस्मि। निवेदय मे शतश शुभाशीर्वादान् महादेव्या सेवायाम्। शतायुषश्च भवन्तु दयालव स्वामिपादा.।

माद्री — सर्वमेतत् सुसम्पादयिष्यामि। परमधुना महादेव्या आदे—शानुसार भवता महाराजस्य यात्रा—सौख्याय पुरोहित—प्रवरस्य परामर्शानुसारं प्रासादमन्दिरे समारभ्य किममि सदनुष्ठानम्।

कञ्चुकी — कथय पुष्कल प्रसादश्च प्रासादे प्रतिदिन वितरणीय।

माद्री — वाति वासन्तिके वाते सार्वत्रिक परिमल—सौख्यं तु भवे—देव सुलभ्य सर्वं नास्त्यत्र कश्चन सन्देह।

(विष्कंभक.)

(२)

(ततो भव्ये नवनिर्मित—आस्थान मण्डपे प्रविशन्ति महाराजस्य—स्वागतं व्याहरन्तो मागधास्तेते तत्प्रदेशवर्तिन सामन्तप्रवराश्च)

प्रथमो मागधः —

संजातोऽद्य किलाऽस्मदीय – विषये नूनं प्रकाशो नवः
कश्चिद् दिव्यतमो जगत्यनुपमो रम्यो महानुज्ज्वल ।
शैलेन्द्रो नृपति-र्महान् गुणगणै-र्विभ्राजमानोऽनिशम्
सौभाग्यात् समुपस्थितः प्रमुदिता. सुस्वागतं कुर्महे ।।२।।

द्वितीयश्चारणः —

जयी-प्रतापी, प्रथितो दयालुः प्रजाजनानामनुरक्ति-केन्द्र
धर्म्यामि-व्यवस्थाम्प्रति-कर्म रक्षन् नून महानेष मही-महेन्द्र ।।३।।

प्रधानामात्यः — (समुपसृत्य) इमे च तत्तद्-गिरि-स्थलाधिपाः यश-स्विन सामन्तप्रवराः स्वामिन सेवाया समुपस्थिता अभिवन्दन-पुरस्सरं निवेदयन्ति-स्व-स्व-स्थल-वर्तिनी वर्तमानामखिलाम्परिस्थितिम्प्रगतिं च । (क्रमशः सम्मुखे समुपस्थितेषु सामन्तेषु तत्र प्रथम हरिवर्षाधिपो निवेदयति)

प्रभो प्रतापादिह सुप्रसन्ना सर्वे वय स्मो निरता. स्वधर्मे
न केऽपि हिस्रा न च कोऽपि शत्रु क्षेत्रेऽस्मदीये लभते प्रवेशम्।।४।

ततो वलक्षाधिपः श्वेतकेतु साष्टाङ्ग पातम्प्रणम्य निवेदयति—

क्षन्तव्याः स्मो महाराज, वय सर्वे कृपालुना
विलम्बश्चेत् कराधाने क्वचित् कश्चिदभूत् प्रभो ।।५।।

महाराज — श्वेतकेतो, इत प्रागप्यनेकश प्रायश प्रतिवर्षम् भवतो व्यवहारे भवत्येव यत्तत् परिस्खलनमिति नास्त्ययं कश्चन ते समुचित समुदाचार । व्यसनस्यापि भवति काचित् पराकाष्ठा परित्यज्य सम्प्रति प्रतिक्षणमद्य-पानम् परिष्कार्यं स्वकृषिक्षेत्रम्, परिरक्षणीया फलदा-

यिन. सत्तरवो राज्यकराधाने च न पुन. कार्य कश्चन विलम्बः (प्रधानामात्यमभिलक्ष्य) अमात्यप्रवर, इत परं श्वेतकेतो मंद्य–पाने यथा न भवत्यधिक–म्परिवर्धन तद्भवताऽपि कृपया प्रतिदिनमेव पर्यवेक्ष–णीयं सुसमाहितेन ।

प्रधानामात्य — स्वामिप्रवराणामादेशोऽयम् परिपाल्यता सर्वथा साव–हित मया । अपरैरपि परं सामन्त–प्रवरे सुविधेयमेतत् कृते मदीयं सदैव–साहाय्यम् ।

(सर्वेऽपि सामन्ता·—आम् आम् इति समुच्चारयन्तो–निवेदयन्ति पुन. स्व–स्व–विषय – वर्तिनीमखिला–म्परिस्थितिम् ।

महाराजः — सर्वमेतद्–वृत्त तत्रभवद्भयोऽवगत्य परम्प्रीतोऽस्म्यहं सजात· । वर्तमानेभ्य संभावितेभ्यश्च सर्व–विधेभ्य शत्रुभ्य. स्वस्वक्षेत्रस्य सरक्षणमेव नूनमस्माकम्प्रथमो धर्म. । तेन सहैव परमस्य क्षेत्रस्यार्थिकाय सास्कृति–काय च विकासाय विधीयमानाना कार्याणा क्षेत्रेऽपि स्थेयमस्माभि. सदैव प्रगति–परै । न काचित् सामान्याऽपि रूपरेखा परम् अस्या. प्रस्तुता केनापि महानुभावेन ।

(हेमकूटाधिप समुत्थाय सविनय निवेदयति)

परमश्रद्धेया भूपतिवरा, नैतदविदितमत्रभवताम् आर्यचरणानाम् यदस्मदीयेषु तेषु तेषु मठेषु तत्रासन् अनेके सुप्रसिद्धा ग्रंथागारा. । आक्रामकै–मंगोला–दिभि–दंस्युभि पर तत्तदाक्रमण – काले सर्वेऽप्येते ग्रन्थालया परिध्वस्ता अथ कृताश्च तथा खण्डिता यथा नैकमपि किंचन पुस्तकं साम्प्रतमत्रास्ते पूर्णरूपेण

पूर्णम् सुरक्षितम् । सर्वेषामप्येषा समुद्धाराय सम्प्रत्यपेक्ष्यन्ते तत्तच्छास्त्रानुशीलनेऽनवरतं निरता· शतशो विद्वत्प्रवरा । एषामावासादि-प्रबधाय-अशनपानादि-व्यवस्थायै चापेक्षितमखिलम्परिपूरयिष्यतेऽस्माभि-र्मान्यानामनुचरै. । विद्वद्भि - विधेय कार्यन्तु किन्तु विधास्यते विद्वद्भिरेव सुसम्पन्नम् । प्रवन्धश्चाय भवेदार्य-चरणैरेव सुविधेय. ।।

महाराज — सामन्त-चक्रचूडामणे, समभिलक्ष्य भवत खल्वेनं -विद्यानुरागं महान्तं सन्तोषमनुभवामि । अस्माभिरपि साम्प्रत नात्र स्यास्यते सर्वथा समुदासीनै. । सत्वरमेव चैतत्कृते त्वैन्नतै शारदादेश - विभूषणै विद्वद्वरैश्च सक्रियं सम्पर्कं सस्थाप्य ग्रंथागाराणामेषां समुद्धारेण करिष्यामोऽस्य प्रदेशस्य लुप्ता सास्कृतिकी सत्कीर्तिम् पुन· सुप्रतिष्ठिताम् ।

हैमकूटाधिप· — विजयता महाराज, प्रद्योततांतमांचार्य - वर्याणामेष विद्यानुरागस्त्रैलोक्येऽप्रतिदिनमधिकाधिकम्-परिदीप्य -मान· ।

प्रधानामात्य — सद्गुरो-र्गोरक्ष - नाथस्याभितमप्येवं भवेत्पूर्णतया-परिपूर्णम् । तत्तत् क्षेत्रपतयश्च भवन्त्वनेन सत्प्रकाशेन प्रतिक्षेत्रं सुप्रकाशिता. ।

(अत्रान्तर एव मध्याह्न - वेलासूचकेन घण्टानादेन सहैव पठति पद्यमेनम् सूत)

जाता मध्याह्न वेला प्रखरदिनकरो मूर्ध्नि-विभ्राजमान
छाया शीते प्रदेशे झटिति सुखमित प्रेरयत्येष गन्तुम् ।
देवागारेषु देवा अतिथिजनकृतै-र्मन्त्रघोषै प्रसादम्
सद्य प्राप्तुं नितान्त विकलित-मतयो भान्ति घन्टारवैश्च ।।६।।

प्रतिहारी. — (प्रविश्य) अथाद्य-प्रदोषावसरे सर्वैरेवात्र विराजमानैर्महानुभावैः – अमात्यप्रवरस्य चिरञ्जीविनः कुमारस्य मांगलिके शुभे वैवाहिकेऽवसरे कृपापूर्णया-स्वसमुप-स्थित्या-समनुग्राह्यम् अमात्य-मन्दिरम्। अवसरोऽयम् परम – सम्मान्यैः स्वामिप्रवरैरपि स्वसमुपस्थित्या सुविधास्यते सुसमलंकृतः (इति सर्वे समुत्थाय, विजयतां महाराज इति घोषयन्तो मण्डपाद् – बहिरायान्ति)

(३)

(वैवाहिके शुभावसरे, सुसज्जिते स्वभवने समागतानां मान्यानामतिथीनां तेषां तेषां सगीत – नृत्यादिकला-प्रवीणानाञ्च स्वागते निरतः प्रधानामात्यो विशिष्टे मण्डपे महाराजस्य सुस्वागतायात्यन्त व्यग्रोऽभिलक्ष्यते, सद्य एव च मधुरभेरी –स्वन-सुस्वर सनादयादित्र-वादन–ध्वनि समारभते)

प्रधानामात्य — अहो सुसमुपस्थिता एव महाराजाधिराज – पादाः समारभ्यतामधुना निर्लोभमा स्व–सस्कृतम् मधुर–गानम् समारब्धे नृत्ये नृपासन–सदारूढा सभासदा सविनय निवेदयन्ति ।

बलेन वा मद्-भिषक् प्रवर. कुर्यान्मा मण्डपाद् वहि-र्भूतम् ।

(महाराजस्य वार्तामिना निशम्य नृपासनमुपासीनः कार्केश्वर· सविनय निवेदयति)

क्षम्योऽहं महाराज, द्वयोर्मध्येऽनाज्ञप्तोऽपि किञ्चिद् विनम्रं निवेदयितुम । सुप्रसिद्धः किन्त्वस्मत्-क्षेत्रवर्ती प्राणाचार्यस्त्र्यम्बकेश्वर· । निद्रादोष – विशेषज्ञोऽय सप्ताहाभ्यन्तरमेव तत्रभवतः सुविधास्यति दोषेणा-नेन सर्वथा विमुक्तानिति मदीयः सुदृढो विश्वास । आज्ञाप्येत चेत् श्व प्रातरेवानयाम्येनं मान्यवर्याणाम् परिचर्यायाम् ।

नरेश्वर· — शतशो धन्यवादा· अर्प्यन्तेऽस्मै शुभाय प्रस्तावाय । समानेयाः प्राणाचार्या इमे श्वः प्रातरेव नववादनात् प्राक्-मन्मण्डपे । यत्र सुपरीक्ष्यैते मह्यं तत्रभवते वा यदस्ति सुसम्पाद्यम् तदखिलम्प्रतिपादयिष्यन्ति—

निद्रा प्रधाना जननी मता नः प्रस्वाप्य याऽस्मान् सततं सुखेन
रोगैरशेषैः कुरुते विमुक्तान् बिभर्ति शक्तिं च नवां सदैव ।।२।।

प्रधानामात्य· — भिषक् चूडामणे, महाराजस्यास्मै स्वास्थ्य-लाभाय सर्वेऽपि वय वर्तामहेऽत्रभवत· परमा· कृतज्ञा· । नैर्बल्येनानेन यथानाभिभूयता भूयोभूयो नरेन्द्रवरः तथाविधः कश्चन सुनिश्चित समुपायः सुनिर्देश्योऽधुनाऽत्रभवता सुविमृश्य सत्वरम् । भवतोऽनेनानुग्रहेण महाराज प्रवर शीतलकोट वर्तिनोऽन्ये चाखिलाः नागरिका स्मरिष्यन्त्येना यात्रा सदैव समादरेण ।

प्राणाचार्य — सद्बन्धो, नैषा काचन महती समस्या । महाराजः

समपेक्षते साम्प्रतं सुस्थिरा काञ्चन मनोविनोद-साम-
ग्रीम् ।

दाम्पत्य-सौख्येन चिराद् वियुक्तो वात्सल्य-सौख्येन हठाद् हृतश्च
कथम्विध हन्त मन· प्रसादं लभेत सम्राडिति-चिन्त्यमास्ते ।।३।।
स्वतो हि सौख्य-द्वयमेतदास्ता ममोपचारेण सुखेन लभ्यम्
निद्रा प्रसन्नानुगता स्वभावात् सुत नवोढा जनयेत् च रम्यम् ।।४।।

अस्माकमस्मिन् प्रदेशे तु यथा भवानास्ते सुपरिचित
प्रायश सर्वेऽपि सामन्ता· रमन्ते ताभि-स्ताभिरभिन-
वामी रमणीभि र्न च भवन्ति कदापि केनचित्
निद्रा-दोषेण विदूषिता ।

अमात्य — सम्यगवगतो मया मान्याना खल्वेष सुख साधीया-
नभिप्राय । अनन्येन सौन्दर्येण सम्पन्ना नानाविधैरन्यैश्च
गृहिणी-गुणै समवेता शतश सम्भ्रान्ता युवतयो
यौतुकदानादि-काठिन्येनाद्यापि पितृगृह-एव यथातथा
यापयन्ति स्वदिनानि । महाराजश्चे त्केनाप्युपाये
नागीकुर्यादिनम्प्रस्तावम् तर्हि सप्ताहाभ्यन्तरमेव
सर्वमेतद् भवेन् सुखेन सुसम्पादितम् । (विरम्य)
प्रस्तावोऽय किन्तु प्रस्तूयता श्रीमद्भिरेव नरेन्द्रवर्यस्य
सम्मुखे । परिपक्वावस्थायामपि दाम्पत्य-सौख्यमनु-
भवता वर्षशत च जीवता सज्जनानामुदाहरणै
सुसमर्थितेऽस्मिन् प्रस्तावेऽस्याङ्गी-कारणे न भवेत्कश्चन
सशयात्मकोऽनपहार्यो निरोध ।

प्राणाचार्य — वरम् स्व परञ्वो वाऽस्मिन्नपि सत्कार्ये भवेद् भवद्भि
सुलभ्यो मदीयो हार्दिक सहयोग । ममन्वेष्टव्याऽधुना
काचन हृद्या रमणी यया रममाणो नरेश्वरो न भवेत्
कदाचन केनचित् निद्रा-सौख्येन-वियुक्त ।

(निष्क्रान्तावुभौ तत्तत्परामर्श-संलीनौ महानुभावौ)

(४)

महाराज शैलेन्द्र — (स्वगतम्) राज्ञाम्प्रासादेषु घटनेयं न काचिद सामान्या घटना । सौख्यद्वय चानायासेन प्रकारेण सौकर्येण सम्प्रति सुलभ्यमिति नास्त्यत्र किञ्चिद् विशेषतः परिचिन्तनीयम् । (क्षण विरम्य) परिणत मे वयो नास्ति किन्तु नव-विवाह योग्यम् (पुनरात्मगतम्) प्राणाचार्यस्य कथनानुसारं किन्तु भवेदनेन नवदाम्पत्य-सौख्येन स्वत एव नवशक्ति-सम्प्राप्तिः आयुषश्च भवेत् नवरसै सरसा स्वाभाविकी सम्वृद्धिः । (पुनर्विरम्यात्मगतम्) कथं किम्वाऽनुभवेत् पर महाराज्ञी अक्षरा (अपवार्य) अथवा साऽपि तिष्ठतु स्वप्रासादे कथाश्रवणादि-मग्ना । समये समायाते भवेदेव तस्या तनयो यौवराज्यस्याधिकारी । अपेक्ष्यतेऽधुना केवल काचित् सामान्या सूचना । अद्यैव ता सम्प्रेष्य भवामि सर्वथा निवृत्तचित्त ।

(५)

(पूजा-गृहे भगवद्-ध्यान-सलीना विराजते महादेवी अक्षरा । प्रविशति चात्र परम-परिक्लान्ता आर्या माद्री)

माद्री — महादेवी अश्रव्यं श्रावयामि । इदानीमेव प्रधानामात्यस्यानुजेन सह समायाता अस्माकं चिरञ्जीविन कुमारस्याभिनवाया विमातु राज्ञ्या – नवीनाया दासी राधा प्रणति-पुरस्सरं विज्ञापयति यन्महाराजस्या–

देशानुसारम्प्रमदोपवनस्य पश्चिमेभागे स्थिते प्रासादे नव–राज्ञ्या स्वागताय समपेक्षित सर्वमपि तत्तत्प्रब–न्धजात मया वासुदेवेन च सद्य एव सुसम्पादनीयम् ।

अक्षरा — सर्वथा सादर शिरोधार्यो महाराजस्यायमादेश । यद–पेक्षित तद् विधीयतामविलम्बेन । नवराज्ञ्या दासी चेय सत्करणीया समुचितेन सत्कारेण (कञ्चुकी समु पसृत्य) महादेवि ममानुपस्थितौ महाराजस्येय वाल्ही–कयात्रा सम्प्रति सजाता तत्तन्नवसमस्याजननी प्रति–क्षण तत्तदशान्तिविवर्धिनी च ।

महाराज्ञी — आर्य वासुदेव–सर्वतन्त्र–स्वतन्त्राणा नरेन्द्राणामिय–मनुगति र्नास्ति काचन सर्वथा नवाऽनुगति । गुरोरनु–मति विना परिणतेऽस्मिन् स्ववयसि महाराजस्येयम् प्रणय–लीला न भवेत् किन्तु चिर मनस समुल्ला–साय । यज्जात किन्तु तज्जातमधुना । विहाय तश्–च्चिन्तनमन्यत् कुमारस्य पूर्णस्य कुशलमेवाधुना विधेयमत्रभवता प्रधान स्वसाध्यम् ।

कञ्चुकी — हे भगवन्, हे गुरो गोरक्ष—

रक्ष्य कुमार: सततं भवद्भ्याम् दूष्येत कैश्चिन्न भवत्प्रसाद.
न योगिनी क्रूरतरा ग्रहेभ्य क्वचित् कदाचिद् भवताच्च तस्मै ॥१॥

(इति परिपूर्णः पूर्णानन्दे द्वितीयोऽङ्कः)



अथ पूर्णानन्दे तृतीयोऽङ्कः

(१)

(प्रातरेव स्वकक्षे स्थिता निरुल्लासा-अक्षरा)

अक्षरा — (आत्मगतम्) कथमेकपद - एव सर्वं परिवर्तितम् । नवीना राज्ञी समायातेति महाराजदर्शनमपि दुर्लभ जातम् । दुर्निवारैव वा भवति सतत निष्करुणा विधिगतिरखिला ।

भवतु भवतु कश्चित् सर्वसम्पत्तिशाली
विलसतु सुखसिन्धुस्तस्य पार्श्वे सदा वा
तदपि जगति जाते केवल दु खहेतो
अमृत सरसि मग्नेऽप्यग्निदाहानुभूति ॥१॥

(वैक्लव्यं नाटयति नि श्वस्य च पुन) पूर्णाऽगमन-कालश्च समाप्तप्रायोऽपि साम्प्रतं प्रतिक्षणं प्रवर्धमान एव सलक्ष्यते । न जाने तस्यापि भाग्ये किं लिखितम् यौवराज्येऽस्य सुविधास्येत समधिष्ठापितो न वा इति सर्वमेव सम्प्रति सजात सशयापन्नम् । महाराज सम्प्रति न स एव महाराज । क गता न जानेऽस्य सर्वाऽपि सा प्राक्तनी विवेकबुद्धि । अथवा

क्वेद कदाचिद्घटना भवेऽस्मिन् कामो जनो य. स भवेद् विवेकी
कामाग्निना प्रोत्क्वथिते हि चित्ते शान्तास्तरगा. प्रकृते-विरुद्धा ॥२॥

(प्रविश्य माद्री)

माद्री — आर्ये अतिक्राम्यति स्नानवेला । अलं सम्प्रति – महा–राज–व्यवहारायात्यधिकेन व्यर्थेन चिन्तनेन ।

महाराज्ञी — सौम्ये, न केवल महाराज–व्यवहार एव परमन्यापि अज्ञात निदाचा काचनातुरता स्वयमेव सन्तत सम्प्र–त्याकुली करोति मदीयं चेत. । किं कुर्यामिति नैव निर्धारयितु शक्नोमि । समागतवत्येव कुमारे सर्वप्रथम तेन किं विधेयमिति भृश चिन्तयामि ।

माद्री — पितृचरणाना दर्शनानन्तर स गच्छतु विमातुरपि सद्दर्शनाय सद्य ।

महाराज्ञी. — अस्तु । प्रेषयिष्यामि तत्रैव त सर्वप्रथमम् । तत परं च भवेद् भगवान् भूतभावन एव अस्माक सर्वात्मकं शरणम् । (साजलि प्रार्थयति)

हे दीनबन्धो, करुणैक–सिधो भीते–र्जगत्या ह्यव मा सदैव
बलेन दीना कुरुते हि या मा भूयो विघत्ते हृत चेतना च ।।३।।

(२)

(तत प्रविशति परिपूर्णे पूर्णानन्दस्य गुरुकुलानुसृतेऽ–खिले पाठ्यक्रमे तत्प्रगतिस्पर्यवेक्षमाणो गुरुकुलस्य प्रधानाचार्य)

आचार्य — (स्वगतम्) अहो कुमारोऽयमासीत् कीदृशो विनत., साधुवृत्तो, गुरु सेवको गोसेवकश्च । विलक्षणश्चास्य मति–प्रकर्षोऽतिशेतेस्म सर्वेषामेवान्ते–वासिनाम्–प्रदीप्त–तम बुद्धिवैभवम् । महाराजाधिराज शैलेन्द्रो नूनमस्य विलक्षणया शिक्षा प्रगत्या प्रभावितो गुरुकुलस्याभ्यु–दयाय भवेत् सदैवास्माकमनन्यतम सरक्षक: । (क्षणं

विमृशन् पुनरात्मगतम्) स्वगृहं गते किन्तु कुमारे कुतः पुनर्वयमभि – लप्स्यामहे एवन्विध सर्वत्रैवादर्शाना स्थापक शिष्यवरम् । ईदृशा हि शिष्या न भवन्ति सदैव सुलभा । शिष्या अपि ते भवन्ति गुरूणामपि गुरव । एषा विषये वयमेषा शिक्षका एते वाऽस्माकं शिक्षका इति निर्णेतुमास्ते सदैव दुष्करम् ।

सत्यं चैतत्

स्वयं विकासो गुणिनो गुणाना विकासकस्तत्र निमित्तमात्रम्
यद्रत्नमाभाति गुण स तस्य प्रभाकरे पश्यति पोष्यमाण ॥४॥

अस्तु सम्प्रति शीघ्रमेवासावितो यातेति मयापि महा–राजप्रवरोऽस्य – सुस्वागताय सत्वरमेव ससूचनीय । (गम्भीराकृति. प्रविशति स्वविद्यामन्दिरमाचार्य)

(३)

(सभामण्डपे विराजमानो महाराज· शैलेन्द्र. । गुरु–कुलाचार्य प्रविश्य निवेदयति ।)

आचार्य — नरेन्द्रशिरोमणे

दिव्यै राजगुणै–र्न केवलमयं राजन् सुतस्ते युत
सर्वैरेव सताम्–प्रियै–र्गुणगणै–रेषोऽन्वितो राजते ।
नम्रोऽयम्–प्रभुकीर्ति–कीर्तन–रतो गोसेवक कृष्णवत्
शिष्यश्चापि–हृदात्तो गुरुजनै–रस्त्येष कश्चिद्यति ॥५॥

शैलेन्द्र — महनीय कीर्ते, गुरुमुखात्–निशम्यैनां–स्वसुतप्रशंसाम् सजातोऽस्मि सर्वथा कृत–कृत्य । ज्योति–र्विद्भि–र्नियते सुदिनेऽचिरेणैव सम्प्रत्यायोज्यमानोऽस्य यौवराज्य महोत्सवो मान्यैरपि स्वसमुपस्थित्याऽवश्यमलकर

णीय ।

पुरोहित — (सहसा समुपसृत्य) स्वामिप्रवरा, ज्योति – विदा कमलाकरेण शीतलकोट – वर्तिन· श्रीनगरस्थाश्च– साम्वत्सरिका कुमारस्य निर्दोषाय यौवराज्याधायिने सन्मुहूर्तायाऽनेकशोऽत्र – आकारिता· सुविमृष्टाश्च परं सिंहस्थ–दोषवशात् नाधिगतस्तै कश्चन सर्वथा विशुद्धो राजयोग ।

महाराजः — कथय, कुमारमेनमुद्दिश्य–शैलेन्द्र – मन्दिरे नोपलभ्य कदाचन कश्चन महोत्सव–योग ।

पुरोहित — शान्तम् पापम् । यदि नाद्य तर्हि परश्वः सम्भावनया ऽप्यधिकं समुल्लासिनी भवेदेव महोत्सवानाम्परम्पराऽत्र प्रवर्तिता ।

महाराज· — (नैराश्य–मुद्रां नाटयन्) सा भवेन्न वा भवेदत्र प्रव– र्तिता, परमधुनाऽयं क गच्छेत् किंवाऽनुतिष्ठेदित्यास्ते परम विचिन्तनीयम् ।

प्रधानामात्य — (अभिवाद्य) स्वामिप्रवरा·, मदीये विनतेमते परिमिताय कस्मैचन कालाय सम्प्रेष्योऽय कुमारवर्य· सर्व–सौख्य सम्पन्ने स्वमातुलस्य सदने । अद्यावधि केवलं गुरुकुले स्थितेनानेन नागरिक – जीवनगति – नैवा काचिद्– राज्यशासन व्यवस्था क्वचिल्लक्षिता । रामनगर– राज्ये समपेक्षितमिदमुभय भवेत्सारल्येन सुसमधि– गतमनेन ।

महाराज — (समाकर्ण्य सुसमाहितमेतत्–क्षण विचिन्त्य) अस्तु गच्छतु कुमारोऽधुना प्रथम रामनगरम् । ममधिगते च पुन शुभे मुहूर्ते शीतलकोट–मागत्य भवतु युवराज– पदासीन ।

पुरोहित — (निशम्य नृववरादेशम् सर्वैलक्ष्यम् अपवार्य) हता मन्दभागिनी महादेवी अक्षरा । अथवा—"वलीयसी नित्यमहो शिवेच्छा" (महाराजे सिंहासनात् समुत्थिते सर्वे महाराजमभिवादयन्तो मण्डपाद् वहिरायान्ति)

(४)

(अपूर्वेण ब्रह्मचर्यतेजसा पूर्ण विकसितेन यौवन - विकासेनान्विते कुमारे मुमूहूर्ते शीतलकोटमागते प्रफुल्लिता महाराज्ञी अक्षरा आयोजयति तानि तानि मांगलिकानि आयोजनानि प्रेपयति च कुमारम् पूर्णम् राज्ञ्या नवीनाया. प्रासादेपु तस्या. शुभाशिपा समवाप्त्यै अस्मिन्न–वावसरे—)

(नेपथ्ये कश्चन नवयुवको गायति मधुरेण सुस्वरेण वसन्त-प्रासादस्था राज्ञी नवीना च तेनाभिभूता भव–ति नितान्तमुत्कण्ठिता)

प्रति हृदयं लसनि सदुल्लास हरति मन. मद्दकारविकास.
परभृत–हृदयात्प्रवहति गीति–र्जयति जगत्या मनसिजनीति ।।६।।

प्रतिकलिक रागस्यावेग हृदये हृदये प्रेमोल्लास·
कथमिह विरही कश्चन जीवेत् कुसुम शरे क्रूरम् – परिपतति।।७।।

नवीना — अहो प्रमाथिनीयं रागिनी, विजयतेतमाम् चायम् परितो ऋतुराज–प्रताप ।

कथमहो परिरभ्य निजम्–प्रियम् कुसुमिता व्रतती परिनृत्यति
मधुरमेव च कूजति कोकिला–स्वदयित–स्मृतिमेत्य वलीयसीम् ।।८।।

सर्वमेतत् परम हृद्यम् (उष्ण नि श्वस्य) नवीने,

कीदृशी किन्तु दयनीयेयं तावकीना वत परि-
स्थितिः ।

रसमयं खलु यन्ममजीवनं कथमहोऽद्य हठात् परिशोषितम्
अमृतमेव यतोऽवहत् सदा क लहरी तव सा च गताऽखिला ।।६।।

अपि च—

प्रमुदिता प्रकृति हि यदाऽखिला नवमदेन युताऽस्ति विलासिनी
हतविधे कुरुषे हि कथं नु माम् सहज-सौख्य-हृता दयसे न च ।।१०।।

एष मधुमासः, उच्छृंखलितं चैतन्मदीयं नवं वय ।
स च स्निह्यन्नपि स्नेहशून्यो वत मे स्नेहागारो न
दृश्यतेऽधुना कुतश्चित्-केनचित् नवेन स्नेहेना-पूर्यमा-
णः (पुन-निश्वस्य)

सर्वैरेव परिजनैरन्यैश्च-स्वजनै-र्नित्यम्-अहो राज्ञीयम्
प्रियतमा महाराजस्य-एवम् परं समाहताया अथानेकैः
समादर-सूचकैः सम्बोधनैश्च प्रतिक्षण सुसम्बोधिताया
मे हृदय चेत् कश्चनापृच्छेत् तर्हि ।

जानामि राज्ञी-पद-भूषिताऽहम् प्रश्न सदा किन्तु विबाधते माम्
स्त्री प्राकृता चापि खलु स्वगेहे मत्तोऽधिक कि सुखिनी हि नास्ते ।।११।।

भवतु गौरवं गौरवे मन. सौख्यं पुनः किञ्चिदन्यदेव ।
कियत्कालं सौढव्यमिदं जीवनरसप्रशोषि नीरस राज्ञी
पद-गौरवम् । न जाने कतिथान्तरिकं किंचन प्रेरयति
मामकं चेत सत्वरमित. प्रधावितुम् । धर्मभीति·
समाजभीतिश्च क्षणान्तरमे पर सम्मुखे समापतत. ।
(मौन किंचिद्विचिन्त्य) कोऽयं नाम किन्तु धर्म ?

को वाऽयं नित्यमविमर्शशील. केवलं स्वार्थसाधन परः समाजः । कथं नाम काचन मानवजीवन-सुलभाभिः स्वदेहचारिणीभिस्ताभिस्ताभिः प्रवृत्तिभिराभिरात्मानं मोचयितुं शक्नोति । सयमस्यापि भवति काचन सीमा । समाज एव वा विधता कृत्याकृत्यनिर्णेता किमर्थं तर्हि तेन माधवीलतेव सुविकसन्त्यप्यहं प्रत्यारोपितास्मि प्रशुष्के केवल कण्टकावृतेऽस्मिस्तरौ । (वैक्लव्यं नाटयति गायति च पुनः कश्चन नेपथ्ये)

"ललित लवगलता परिशीलन कोमल मलयसमीरे
मधुकरनिकर करम्बित कोकिलकूजित कुंजकुटीरे,
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते नृत्यति युवतिजनेन समं
सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ।"

(आकर्ण्य समधिकमाक्लिन्ना)

नवीना — विलपति कुररी काचन दीना, शपते निजदैव कामानलदग्धा दयितविहीना ॥१२॥

(क्षणेऽस्मिन् वसन्त-विहार द्वारमनावृत्य प्रविशति कुमारः पूर्ण. वातायन-स्थिता नवीना च तरुणमेन सहसाऽवलोक्य तत्सौन्दर्येणाभिभूता पश्यति निर्निमेषमेनम्)

नवीना — अहो अपूर्वं लावण्यम् । कथं किन्त्वयमेति मदभिमुखमित एव स्वातन्त्र्येण ?

कुमार — (उपसृत्य चरणस्पर्श-पुरःसरम्) परमादरणीये, प्रणमत्यय ते चरणकमलेषु पुत्रस्ते कुमार. पूर्णानन्द. ।

नवीना — (सवैलक्ष्यम् स्वचरणान्तिकत अपकृष्य) पूर्णानन्द,

श्रुत न वा त्वया मनोहर वासन्तिकं गीतमेतत् । नाहं चरणस्पर्शाधिकारिणी । नवामेना वासन्तिकी सुषमाम् विलोक्याचरणीय पुनस्तदनुरूपमाचरणम् ।

पूर्णानन्द: — (परमं विचित्रमेतद् स्वविमातु. शुभाशिषाम्प्रकारमालक्ष्य विचकितः) मातर्मात्रा अक्षरया प्रेषितोऽहमार्याः शुभाशिषामवाप्त्यै ।

नवीना — कुमार, नैतेन ते मातृपदेन पुनः पुनरहम्- विधेयाऽपमानिता । स्मरसि चेत् श्रावय किंचन हृद्य गोपिकागीतम् । किं न पश्यसि कथमिय माधवी सहकारमेनमाश्लिष्य सुख विकसति, कथं च प्रतिहृद्यं भगवान् मीनकेतनस्तनुते कंचनानुपममेव नवमौत्सक्यम् ।

पूर्णानन्द: — (आत्मगतम्) मात र्नाहमवगच्छामि विचित्रायास्तेऽस्या भूमिकाया. कञ्चनाभिप्रायम् । अनुज्ञाप्योऽहमिदानीमितो गन्तुम् । अनुग्राह्यश्च शुभाशिषा ।

नवीना — अहो वालिश, प्रतीयते न मनोभुवाऽपावृतमीषदपि ते हृदय द्वारम् । यत्तदधीत्यापि नाधीतं च त्वया कुतश्चित् लोकलावण्यस्य-समीक्षणम् ।

पूर्णानन्द. — (स्वगतम् अपसर्तव्यमितः सत्वरम्) (प्रकाशम्) मातः क न दृश्यते परित. प्रसृतमेतल्लोकलावण्यम् ।

नवीना — (सकर-स्पर्शम्) एवं चेत्प्रवीणोऽसि लोकलावण्यस्य निरीक्षणे तर्हि चरणस्पर्शापेक्षया तदेवेक्षितुं कुरु ते सफल यत्नम् ।

पूर्णानन्द: — मात:, ~~अहं तु मनोज विजिते क्रूरस्य परिनिद्धा~~ नाहं किञ्चिदन्यद् द्रष्टुम् वाऽवगन्तु शक्नोमि ।

जाने नैव कथं मनोज-विशिखै-र्विद्धं मनो जायते
तद्दीर्णो मनुजस्तथाऽऽकुलमतिः कश्चित् कथं वा भवेत् ।
जाने किन्तु सदैव वन्द्यचरणा सर्वेऽपि मान्या जना
माता यत्र च सम्मुखेऽस्ति कतम-स्तत्राऽस्तु प्रश्नोऽपर ॥१३॥

इति सम्प्रति शुभाशिषा समनुगृह्याज्ञाप्योऽयं ते ।

नवीना — (आक्षिप्य मध्ये) हृदयचौर ।

पूर्णानन्द — (क्षमस्व मातः क्षमस्व) नाहं हृदयचौर. । अहमस्मि ते (इत्यर्धोक्ते)

नवीना — मे शोकशकु । मुहुर्मुहु प्रबोधितोऽपि यदि नावगच्छसि मे मनोरथम् जानन्नप्यवहेलयसि वा मदीयं मनोगतमेव निर्दयम् तर्हि नैतद्-भवेत तव कल्याणाय (कुमार समुत्थाय बहिर्गन्तुमारभते) नवीना च सरोषम् ब्रूते गम्यते चेद् गम्यताम् । भूयता चाद्यैव परमस्य वैयात्यस्य फल भोक्तु सर्वथा समुद्यतेन ।

(पूर्णेनैव-मनादृता नैराश्येन विकला, कोपेनाकम्पमाना च-प्रविशत्यन्त पुरम् नवीना)

(अन्त पुराद् बहिरागच्छन् श्रीशैलेन्द्रः)

महाराजः — (आत्मगतम्) अरे पुत्र पुत्र इति यत्राभवत् सर्वस्वमेव मे विकसितम् यश्चासीद् सर्वविधानामेव ममाशा लहरीणा, सुनिश्चितस्य विश्वासस्य च रम्यतम साक्षात् सगमस्थल स एवायमद्य विषकुम्भवत् भवेत् कश्चिद् निगूढ निक्षेप्य । कथ नामाहं सम्प्रत्यस्याधमस्य मुखमप्यवलोकयितु शक्नोमि । सर्वथैव हतोऽस्मि । समुज्ज्वला सर्वाऽप्यस्मदीया-कुलकीर्ति कृतानेन हतकेन सर्वथा मलीमसी । एतादृशात्तु पुत्रादपुत्र एव

वरमासम् । घोरेऽस्मिन् कलिकाले न वा विश्वसनीयः कश्चित् सिद्धो वा महात्मा "यतिवरोऽसौ कश्चन तव पुत्रो भवितेति" निगदता गुरुणा गोरक्षनाथेनापि भृशं वञ्चितोऽस्मि । नावगतं तेन यदिदानीन्तना यतय एव भवन्ति नितरा प्रणष्टगतयः । नैतादृशः कश्चन क्षमां दयादृष्टिम्वार्हति । आदण्डितेऽस्मिन् प्रजाजनेष्वप्यना-चारोऽयं वर्धेत सत्वरम् इति सत्यमुक्तं नवीनया—

प्रभावः पापवृत्तीनां धर्माधारस्य नाशक.
दोषाः सद्यः प्रवर्धन्ते दण्ड्यो यत्र न दण्ड्यते ॥१४॥

(परिचारिका प्रविश्य)

परिचारिका — देव । महादेवी अक्षरा सविनयं निवेदयति आर्यचर-णैरद्य दुर्ग–प्रासादेष्वपि दर्शनमवश्यं देयम् ।

महाराजः — दत्तं दर्शनम्, लब्धं च देव्यास्ते भ्रातृगृहे निवसत. पूर्णस्य पूर्णं फलम् । गच्छ कथय तां ते देवीमक्षरां यन्महाराज पातकिनस्तेऽस्य पुत्रस्य नामापि श्रोतुं नेच्छति । अविलम्बेनैव दुष्टोऽयमिदानीम् ।

परिचारिका — (आक्षिप्य) स्वामिन्–युगेभ्योऽद्य जातेऽस्मिन् निशाऽ-वसानेऽपि संभावयसि पुनः कतमामेनामाभिनवा घोर-तरा तमस्विनीम् ।

महाराजः — अपसर सत्वरमितो मौनम् ।

परिचारिका — (सम्भ्रान्ता–आत्मगतम्) हा हता महादेवी अक्षरा । अकरणीयमपि शंके कृतमद्या–नार्यया नवीनया क्लिष्ट-तरम् अनार्यमाचरणम् । सम्भावितमनन्यशायिन किं किं वा न हन्ताचर्यता सपत्न्या (मौनम् प्रतिनिवर्तते)

(मध्ये मार्गम्-परिचारिकाऽनुनीत· प्रविशति वृद्धः पुरोहित)

पुरोहित. — (स्वगतम्) अहो कथमिव न स्त्रियः स्त्रीणा भवन्ति दु.खकारणानि स्त्री नाम सर्वथाऽपकीर्तनीया काचन-विगर्हणीया स्वार्थस्थली । क्वचित्-स्नेहजनन्यपीयमेव स्नेहकर्तरिका सर्वसघर्षमूलंच (सचिन्तम्) विचिन्तयन्नपि नावगच्छामि किन्तु कथम् परिष्क्रियता महाराजस्येदम् बुद्धि-वैपरीत्यम् ?

को नाम जानाति पिता स्वपुत्र पुत्र. पितुर्वा हृदय कदाचित्
स्नेहो जनन्याः परमस्य गात्रे प्रतिक्षणं वृद्धिमिहातनोति ॥१५॥

(महाराजमुपेत्य पुरोहित)— देव अतिरभसं कृतानि कर्माणि पुनर्भवन्त्यामरणं शल्य-तुल्यानि । क्षम्यतामिद मे स्पष्टतम निवेदनम्-कुमारेण-पूर्णेन समो नापरः कश्चन दिव्यः कुमार. पुनरापतेद् दृष्टिपथं लोकानाम् ।

महाराजः — अलमधुना तत्तत्कथनेन वा विकत्थेनन । नायं नीचोऽधुना क्षणमप्यस्मत् प्रासादेषु क्वचित् स्थास्यति । (अत्रान्तर एवात्र प्रविशति परमविह्वला महादेवी अक्षरा ।)

अक्षरा — आर्य (इत्यर्धोक्ते)

महाराजः — अनाहूता अननुज्ञाता च कथमिह—

अक्षरा — महाराज अनाहूता अननुज्ञाता च यद्यहमिहास्मि समुपस्थिता क्षन्तव्योऽय मे अपराधः । तथापि सानुनयमिदमापृच्छ्यते कथविध· स्वामि – हृदयेऽद्य

कुमारम्पूर्णम्प्रति समुद्गतोऽयमकारणमाक्रोशो वा रोष· ।

महाराजः — अक्षरे यच्छ्रवणेनापि महापातकम्प्ररोहति तस्याकथनमेव भवेत् हिताय सर्वेषाम् । सुधाकर – स्थाने समुत्पादितवत्यसि त्व कचन धूमकेतुमेव सर्वारिष्ट जनकम् ।

अक्षरा — नाथ क्षमस्व, सदय चैप सम्प्रेक्ष्यः प्रियस्तेऽयं बालः

तव किमु नहि हृद्या मत्प्रसूति-र्वतैषा
भवति न किमुवाऽयं मे सुतः–ते सुतोऽपि ।
उपसि यदि विभाति द्योतमानोऽरुणोऽयम्
दिनकर–जनितः किं नैप नित्यं विभाति ॥१६॥

महाराज· — अक्षरे, नेदृश किन्तु किञ्चन सौभाग्यं विधिनाऽस्ते लिखितं मदीये मन्दभाग्ये—

त्रायते नरकाद्यस्मात् पुत्रोऽसौ परिकीर्त्यते
पातयन् निरये घोरे कथम्पुत्रत्वमर्हति ॥१७॥

अपसर तत् साम्प्रतमितः सत्वरम् । स्वय वाहं त्वामित· कारयिष्यामि बहिर्भूतम् ।

अक्षरा — आर्यपुत्र, क्षणमपि नाहमत्र स्यास्यामि । रक्ष्य किन्तु सदैव सदयमेवायं कुमारः ।

महाराजः — कथं न लज्जसे कुमार. कुमार इति मुहुर्मुहुः सम्बोधयन्त्येनमनाचारिणम् ।

अक्षरा — (सभयम्, स्वगतम्) हे प्रभो, अनाचारिणम्–अनाचारिणमिति असकृत–आक्षिपता महाराजेन गुरुजनै–

रप्याद्यतस्य कुमारस्याचरणे किमिदमसगत – मद्य मुहुर्मुहु संकेत्यते इति विचिन्त्य भवामि भृशमाकुला (प्रकाशम्) नाथ, किमद्य किञ्चिदनार्यं माचरित कुमारेण ।

गोरक्षनाथस्य गुरोः प्रसादात् प्राप्ते सुतेऽस्मिन् विनते विशुद्धे
पूर्णे मदीयस्तन–दुग्ध–पुष्टे किमद्य निन्द्य वत चिन्त्यमात्मम् ।।१८।।

महाराज. — भवत्वयं त्वत्स्तनदुग्ध–पुष्टः परं नवीना–प्रणयी ।

अक्षरा — (इत्यर्धोक्ते) हा हतास्मि । महाराज अलमधिकेन साम्प्रतमत्र भवतोऽनेन पूर्णस्य चारित्र्य–हननेन—

दूरे कथं चिद्यदि कार्यं एष कामं क्वचिद्दूरतरम् प्रहेयः
कलंकनीयं नहि किन्तु वृरा लोके परस्मिन्नपि घातक यत् ।।१९।।

महाराजः — न केवलं दूरतरे प्रदेशे लोकेदविष्ठेऽपि स यातुमर्हं.
पापात्मनां न क्षमते हि वोढुं भार क्षिति–र्यत् क्वचि–
दत्र कश्चित् ।।२०।।

(इत्याकर्ण्य मूर्छति अक्षरा)

(इति पूर्णानन्दे तृतीयोऽङ्कः)



अथ पूर्णानन्दे चतुर्थोऽङ्कः

(१)

(प्रदोपकाले नरेश्वरेण स्वदेशान्निष्कासित कुमारमादाय नयपालं गच्छन्तौ शीतलकोट सैनिकौ परस्परं विमृशत)

राजसिंहः — हरिसिंह, नगराद् सकुशलं वयमत्र सम्प्राप्ता महतीय कृपा भगवतो भूतनाथस्य। किञ्चिदत्र विश्रम्य पुनरारप्स्यते यात्रेय रात्रावेवास्माभि प्रच्छन्नैः।

हरीसिंह — वयस्य, दूरमितः किन्त्वस्माभिर्गन्तव्यम् । अपरिचितौ चावां वर्तावह स्थलस्यास्य तैस्तैरुच्चावचैर्भागैः ।

राजसिंह: — अस्तु तिष्ठतु भवानत्र कुमारेण सह यावदहं कस्माच्चन पथिकात् सर्वथा सरला सरणीमवगत्य पुनरावर्ते (अस्मिन्नेवावसरे प्रविशत्यत्र परतो गुरोर्गोरक्षनाथस्य शिष्य मण्डली, गुरोरादेशेन प्रकल्पते चैषासनादि-प्रवन्ध रात्रिविश्रामाय)

गोरक्षनाथ. — कि भो नरहरे । शीतलात् काश्मीर -प्रदेशादिहागतेभ्योऽस्मभ्यं यद्यपि नास्तेऽत्र किमप्याकर्षकं विमोहक वा स्थलम्, अत्येति किन्तु सन्ध्याकाल । कुतश्चन जलप्रवृत्तिमुपलभ्य विधीयतामत्रैव रात्रि-विश्रामः ।

नरहरि — पूज्यवरा, कुत किन्त्विह भवेत् किमपि भिक्षान्नम्पयोवा समुपलब्धम् ।

गोरक्षनाथ. — भगवतोऽनुग्रहेण तदपि व कुतश्चन स्वयमुप-

लब्धम् । न चेह चिरं स्थेयमस्माभिः । प्रातरेव भवि-ष्यामो वयमित इरावती-तटमाश्रिताः ।

नरहरिः — (स्वगतम्) यद्यपि नेदं स्थलमावासोचितम् परं सर्व-सिद्धि-सम्पन्नाय गुरुवराय किं किं न भवेत् सर्वत्र समुपलब्धम्, अस्तु आनयामि जलम् (समुपसृत्य याव दियं जीर्णां वापीमेकामासाद्य जलेनपूरयति स्वकम-ण्डलुम् तावदेव राजसिंहोऽकस्मात् चरणावस्य संस्पृ-श्य पृच्छत्येनं तत्प्रदेशादितस्ततो गामीना मार्गाणा कांचन सरलतमा सरणीम् । नरहरिश्च त सहैवादाय प्रतिनिवर्तते गुरुचरणाना सेवायाम् । क्षणेऽस्मिन् मन्दं मन्दम्प्रभोः पदे करुणस्वरेण किञ्चिन्निवेदयतो कस्यचन जनस्य विह्वल स्वरमाकर्ण्य गुरुवरेणा दिश्य च नरहरे. सहाध्यायी ज्ञाननाथः—

गोरक्षनाथः — ज्ञाननाथ, प्रेक्ष्यताम् परित.

रहोऽत्र कोऽयं करुणस्वरेण प्रभोः पदे प्रार्थयतेऽतिमंदम्
तमानये मंत्सविधे यतिष्ये हर्तुं व्यथामस्य न चेदसाध्या ॥१॥

(सद्य एव करुण-स्वरप्रवृत्तिमुपलभ्य ज्ञाननाथः सूच-यति)

ज्ञाननाथः — गुरुचरणा', शीतलकोट निवासिना सैनिकेनैकेन निग-डितस्य दिव्याकृते रेकस्य युवकस्यायमासीत् करुण-स्वरः । नायं किन्त्वधुना शृणुते मदीयं कंचनानुनय वा विनयम् तिष्ठति च सर्वथा मौनम् । (वृत्तमेन-माकर्ण्य भयभीतो राजसिंहो यावत्त्वरितमितोऽपसर्तु-म्प्रयतते तावदेव गुरुवरेण अरे, अयमपि प्रतीयते तस्य सैनिकस्यैव कश्चन सहचरः (इति स्पष्टमाघोष्य)

निरुद्धो राजसिंहः प्रकाशयत्यखिलं रहस्यमेकान्ते गुरु-चरणाना सेवायाम् । रहस्यमेनमखिलमाकर्ण्य तत आदिश्यते गुरुवरेण)

गोरक्षनाथः — राजसिंह, पलायन-विचारम् परिहाय, उत्सृज्य च सर्वविधा निर्मूलामागच्छामथ भयम्, साम्प्रतमानय तमपरमपि ते सहचर सैनिक निगडितेन तेन युवकेन सह मत्सविधे सत्वरम् ।

राजसिंहः — (सभयं सोत्कम्पं च) नाथ, राजदण्डेन दण्डितैः क्व लभ्यते पुन· किंचन शरणमस्माभि. ?

ज्ञाननाथ· — (आक्षिप्य) अरे न वेत्सि किमखिलेऽपि भूमण्डले सर्वैरेव जनेश्वरै-र्जनैश्च शिरसा धार्यमाणं गुरुचर-णानामद्वितीय महाप्रभावम् आगच्छ, निगडितं तं तरुणमखिल-बंधन-विमुक्त विधाय सद्य एव समान-यावस्तं गुरुचरणाना सेवायाम् । (कम्पमान. सैनिको गुरुचरणौ संस्पृशन् तिष्ठति पुनस्तत्रैव सर्वथा-निश्चल)

गोरक्षनाथ· — अलं भयेन स्थीयता निर्भयम्-अखिलैरेव युष्माभिर-स्माकम्-अस्यां मण्डल्याम् । पश्चात्तापेन प्रतप्ते महाराजे शैलेन्द्रे समधिगच्छति नैर्मल्यमन्त करणे, प्रशान्ते च प्रजाजनानामाक्रोशेऽथ वर्तमाने रोषे स्वयमह वस्तत्र नीत्वा यथास्थानं स्थापयिष्यामि ।

(गुरुणैवमाश्वासितो राजसिंहो हरिसिंहमुपेत्य विधाय च बन्धनमुक्तं कुमारम् समुपस्थापयति तं गुरो सम्मुखे । पूर्णानन्दश्च साष्टांगपातम्-प्रणम्य निवेद-यति सविनयम्)

पूर्णानन्दः — हे अशरणशरण, महामहिम सद्गुरो,

आज्ञाभङ्गं कथमपि पितु-र्नैव कुर्यां यथाऽहम्
नह्यादेशः क्वचन भवतश्चावहेल्यो यथाऽस्ताम् ।
तादृक् कश्चित् सुकृतजनको दर्शनीयः सुमार्गः
लक्ष्यं किञ्चिद् ध्रुवमिहगुरो वेद्मि नाहं हि धर्म्यम् ॥२॥

गोरक्षनाथः — वत्स जीव शरदांशतम्, आर्यजनोचितया तवानया मनोवृत्या जातोऽहम् परमम् प्रीतः । पालय साम्प्रतं ममादेश विना काचन राजभीति वा धर्मभीतिम् । नियतात्मनैनमादेशमनुसरतः ते पितरौ, प्रजाजना अथ ते विमाता नवीनाऽपि वर्तमानै निखिलैरेव दोषै-र्दु:खैश्च सुतरा विमुक्ता । त्व चावाप्स्यसि स्वतएव ते सर्वविधस्याभ्युदयस्य सर्वानन्दपूर्णमिह विकासाव-सरम् ।

(एव समाश्वस्तः पूर्ण. पुनर्गुरु-चरणावभिवाद्य तेनै-व सह स्वयात्रा कुर्वन्समागच्छत्यानन्दाश्रमम् । तत्रत्या दैनिकी चर्या चानुपालयन्नचिरेणैव विलक्षणेन स्वबुद्धि वैभवेन, सौहार्द-पूर्णेन व्यवहारेण च सर्वेषामेव सहाध्यायिना चेतास्यनुहरद् भवति तेषा सर्वमान्य. स्वाभाविको मुख्याधिष्ठाता । यत्र चैकस्मिन्-हृद्ये शिशिर-मध्यान्हे पूर्णानन्देन सह स्वतन्त्रं विहरन्त तत्तदामोद-प्रमोद मग्ना ते सर्वे दृश्यन्ते स्वतन्त्रं विहरन्त.)

प्रेमनाथ· — ज्ञाननाथ । नूनं परमाल्हादपूर्णोऽयमद्यतनो मध्यान्ह-कालः । प्रवात-प्रकम्पित-शरीरेऽस्मिन् शिशिरे प्रस-रति सर्वत· परिपाण्डुरेऽस्मिन् खलुहृद्ये मधुरांतये किं किं नाम सुखं नानुभूयता सर्वैरेव प्राणिभिः ।

ज्ञाननाथः — अत एव तु पश्य—

बाला: खेलन संरता बहुविधं कोलाहलं कुर्वते
रात्री कासविमर्दिता· प्रवयस: सुस्था. सुख शेरते।
गावो लोचनमीलितात्मरतय: कण्डूयमाना सुखम्
आकाशे च वियच्चरैः प्रमुदितैश्चक्रम्यते सर्वत ॥३॥

विद्यानन्द. — वयस्य ! अद्यावकाश इति सर्वं जगत् स्वयमेव मनोहरं प्रत्येष्यति।

कर्मानन्द· — अरे अवकाश इति किं कारणम्। कस्मिन् दिनेऽस्मिन्नानन्दाश्रमे नानुभूयते नवं नवं सुखमस्माभि.।

सत्यानन्द. — विशेषतश्च समागतेऽत्रास्मिन् प्रतिक्षणमप्रसन्ने पूर्णानन्दे किं किं नानुदिनमिह भवति स्वतः सुविकसितम्।

विजयानन्द· — अरे मूढा· । किं भवता भग्ने भागधेयेऽपि विधात्रा लिखिताऽस्ति काचन सौख्यानुभूति —

लोके यैं विजया न सर्वसुखदा ससेव्यते सिद्धिदा
यस्या चित्तगति. स्वय विलसिता पार पर पश्यति।
दृष्ट किं सुविचिन्तित च किमहो किम्वानुभूत नु तै
नित्य ससृति चक्रदीर्ण–हृदयैश्चिन्तापरै–र्मानवै ॥४॥

—

अथानुदिनं सौख्यानुभूतिश्चेद्–भवतामभिमता तर्हि– (गायति)

पेया पेया नित्यं पेया आपूरम् प्रिय, विजया पेया
विजयानन्दे चित्ते मग्ने हर हर गीति–नित्य गेया ॥५॥

आयुर्गच्छति धावति काल कामं वत नृत्यति उत्तान
शुष्यति सन्तो मधुर रसाल. मौनस्तिष्ठसि किं रे बाल ॥६॥

किमपि न विरसं धात्रा विहितं भस्मन्यपि सौन्दर्यम् पिहितम्
अमृतं वत जीर्णघटे निहितं पश्यसि किं नहि रे संनिहितम् ।।७।।

कर्मानन्दः — हृतमते । किमेतत् प्रजल्पसि प्रचारयसि वा निरर्गलम् ।

विजयानन्द· — कि कि यत्सत्य यच्चापेक्षितं तदेव, नाहं वसामि चिन्तातुर· न वा भवामि सुहृदा परिहासेनापि विकलोऽथवा पदे पदे सशयग्रस्त ।

मदीये साम्राज्ये वहति-सतत निर्मलगति·
सदाधारा धारा, भवति च मन· शान्तिनिरतम् ।
शिवाच्चान्यत्तत्वं किमपि नहि वीक्षे त्रिभुवने
मति· खिन्ना मे वा तव तदिति वेद्यं हि रसिकै· ।।८।।

(पूर्णानन्द प्रविशति–तमवलोक्य)

अहो पूर्ण । स्वागत महाभाग । स्वागत सर्वथा समये समुपस्थितेऽसि ।

प्रपूर्यंते प्रार्थिजनाभिलाषा नित्य गत्या जगदीश्वरेण ।
तस्य स्मृतिः स्याद् विकलैव लोके सहायकस्त्वेन्न भवेत्स काले ।।९।।

पूर्णानन्द — (विहसन्) मत्तमूर्ते कुत इयं आपत् कीदृशम्वा साहायमपेक्ष्यते ।

विजयानन्द· — महानुभाव । एते एते नीरसा, निर्दयाश्च महाराक्षसा निष्फलं अखिलमपि मन्मस्तिष्कस्नेह पिवन्तो नाधुनापि प्रजल्पनाद् · ···विरमते । यदि सम्प्रति किंचन स्निग्ध रसमय वा तत्त्वं नोपलभ्येत तर्हि ···· (इत्यर्धोक्ते)

पूर्णानन्द· — तर्हि जगति भवेत् महाप्रलय. ।

विजयानन्द· — अथकिम् । जानात्येव भवान् ।
देवा सर्वेऽपि तृप्यन्ति प्रसन्ने जठरानले
अतृप्ते च तथा तस्मिन् सृष्टिरेव विषीदति ॥१०॥

पूर्णानन्द — शान्त पापम् विद्यमाने विजयानन्दे विषादस्य नामैव कथ कुतश्चिच्छ्रयते श्रोतुम् । आगच्छ यथाकथश्चित्पयसापूरयामास्ते महाकुण्डम् ।

(सर्वे स्व स्व कुटीरम्प्रविशान्ति)

(३)

अथापरस्मिन् दिने महादेव्या अक्षरया प्रेषितः कञ्चुकी वासुदेवो राजकुमारस्य निर्वासनान्तरं राजधान्यां घटितमखिल तत्तद्वृत्त गुरुचरणाना सेवाया निषेद्याज्ञातवासस्य राजकुमारस्य दुर्दशाक्रान्तस्य शीतलकोटस्य च रक्षणाय गुरोः सविशेषमाश्रयमभियाचते । गुरुणा पूर्णमाश्वास्तश्च अक्षराया· सेवायाम् पुनरागत्य ता कुरुते समाश्वस्तां कुमारस्यावश्यम्भाविने पुनरागमनाय)

(ततएकान्ते गुरुवर. पूर्णानन्द समाहूय आर्येण वासुदेवेनावेदितं तन्निर्वासनानन्तर शीतलकोट–घटित सर्व वृत्तजातम् सश्राव्य तमचिरेणैव पित्रो परिचर्यायै विचलिताया राज्यव्यवस्थायाश्च पुनः सुसस्थापनाय शीतलकोटमभिगन्तुमादिशति)

गुरुवरः — वत्स पूर्णानन्द, यथाऽहमिदानीमेव ससूचितोऽस्मि त्वज्जननीप्रेषितेन शीतलकोटादागतेन कञ्चुकीवरेणार्येण वासुदेवेन—

प्रतीक्ष्यमाणे हि चिरात् प्रजाभि रुद्धे ह्यकस्मात् तव यौवराज्ये

भृश विलापेन युताऽक्षराभूत् रोषो जनानामभवच्च दीप्त ॥११॥
हृताधिकारो विहितो नृपस्तै-स्तिरस्कृतास्तैरथ ते विमाता
राज्यव्यवस्था निखिला विशीर्णा जाता जना कष्टशतैश्च पूर्णा. ॥१२॥

प्रतिक्षणमधिकाधिक विश्रृंखला भवन्ती राज्यपरि-स्थितिर्भवेत् सर्वथैव क्षतविक्षता नहि चेत् त्वं सद्य एव प्रतिनिवर्तसे तत्रसाम्प्रतम् ।

पूर्णानन्दः — वंद्यचरणाः, प्रतीयते पुनरद्य निर्दयमाक्रान्तोऽस्म्यह केनापि क्रूरतमेन ग्रहयोगस्य चक्रेण । अन्यथा प्रतिक्षणमानन्द-सागर-कल्लोलै कल्लोलिते, परिमुक्त-वातावरणे विहरन्तं मा दयामयाः गुरव स्वय परम पङ्किले तस्मिन् राजगृहाणां वातावरणे परिक्षेप्तुं नाभविष्यन् समुद्यता । स्त्रीणा दर्शन मात्रेण चाह भवामि भृश विक्षिप्तो किं कर्तव्य-विमूढ. ।

गोरक्षनाथ — वत्स, कर्मयोगाश्रिते संन्यस्तधर्मे दीक्षितस्य ते मुखात् नाहमेतान् विकलान् विचारान् श्रोतुमस्मिसन्नद्ध स्त्रियो हि नून भवन्ति प्रकृत्याऽस्मिन्नाश्रमे परम-चचला, परस्पर दु ख शतानामुद् भाविन्य सर्वविधाना सम्बन्धानामुच्छेदिन्य, प्रशोषिण्यो वाधव जन-स्नेहाना परमतीक्ष्णाः कर्तरिकाश्च । जननी रूपेण किन्तु-सर्वेषाम परिपोषिण्यस्ता सन्ति सदैव सर्वेषमभिनन्द-नीया समादरणीयाश्च । किमप्यद् भवतु न वा भवतु ते कर्तव्य शीतलकोट पर सरक्ष्या एव त्वया तत्र परम दु खिन्या, दयनीय दशाया अक्षराया मातुस्ते प्राणा । परिभ्राप्त-मतिना जनकेनाथ ते चेत्त्व निराकृतोऽसि नात्र किमप्याश्चर्यम् ।

कस्तत्त्वतो वेत्ति पिता स्वपुत्रम् पुत्र पितु र्वा हृदय कदाचित्
स्नेहो जनन्या परमस्य गात्रे क क विकार लभते न नित्यम् ॥ ॥

स्त्रियोऽपि सन्त्येव चास्माभिः सन्तत सुरक्ष्या अथ माननीयाः—

स्त्रीणा हि योनि नहि गर्हणीया घृणास्पदा वाऽहमिहाऽमृणामि
क्षेत्र हि ताः सन्ति विलक्षणानाम् सन्तानरत्न–द्युति–दीपितानाम् ॥१४॥

तद् विस्मृत्य ते तिरस्कारं विमातु र्वा त विचित्र व्यवहारम् प्रीतेन मनसा गच्छ न केवल शीतल–कोटमपितु मध्ये मार्गम्प्रविश्य राज्या. सुन्दर्या अद्वि–तीयाया केवलं महिलाभिरेव प्रशासिताया माहिष्मत्या राजधान्या तत्रापि त्वयाऽनुशासनीया परमविचित्रा सा सर्वतन्त्र–स्वतन्त्रा देवी समुद्धार्याश्च ततः कारागारे निक्षिप्ता. शतशः परिव्राजकाः ।

(४)

(गुरोरादेशमनुसृत्य ज्ञाननाथेन सह मातृदर्शनाय शीत–लकोटमभिगच्छन्, पूर्णानन्दो मध्येमार्गं महिष्याः सुन्दर्या राजधान्या माहिष्मत्याम्प्रविश्य राजप्रासादाना द्वारि भिक्षा याचमानोऽवरुध्यते तत्रत्याभि सशस्त्राभि परिचारिकाभि)

भीमनयना — अरे ओ रक्तदन्तिके, सत्वरमपसारय दुर्गान्तरमाविश–न्तमेन धृष्ट कचन सन्यासिनम् ।

(रक्तदन्त्या निर्भत्सितः पूर्णानन्द तत्रैवोपविश्य)

पूर्णानन्द — देवि, अनुपलब्धे भिक्षान्ने न वयमेकस्मात स्थानादपरं स्थानम्परिव्रजाम । लब्धे च भिक्षान्ने नाहमिहैकमपि क्षण तिष्ठेयम् ।

भीमनयना — रक्तदन्तिके, अलंबहुनालापेन, धृष्टोऽयम् न चेदित

उत्तिष्ठति, स्वामिन्या आदेशेन नयैनमपि नियते खल्वे-
तेषामेवावासे ।

पूर्णानन्द — तत्रभवत्या राज्ञ्याः दर्शनं विना नाहमन्यत्र क्वचिद् गमिष्यामि—(इति निगदन् यतते दुर्गान्त-प्रवेशाय। रक्तदन्तिका च वेगेनाग्रे सरन्ती निवेदयति राज्ञ्याः सुन्दर्याः सेवायाम्)

रक्तदन्तिका — (सहसाऽग्रे सरन्ती) आर्यवर्ये ।

तारुण्य-पूर्णोऽनुपमस्वतेज. कान्त्या प्रदीप्तोऽथ भयेन हीन·
आदेशमुल्लङ्घ्य विशन् हि दुर्गे रुद्धोऽप्यरुद्धो बलवद्दृढांगः ॥१५॥

कोऽप्येष धृष्टो यतिवेषधारी हठेन भिक्षामिह याचमान·
निवार्यमाणोऽपि वचो न शृण्वन् बलेन व सम्मुखमेत्यभीतः ॥१६॥

राज्ञी — (सरोषम्) बलेनेति कथयन्ती कथं न लज्जसे । सर्वाभिरेव युष्माभि. सम्भूय निगृह्यतामय धृष्ट समानीयता च मत्समक्ष सद्य (पुन स्ववातायनात् स्वसम्मुखमेनमायान्तमवलोक्य-अपूर्वेणास्य सौन्दर्येण निर्भीकया, गम्भीरया चास्य स्वतन्त्रया गत्याऽकृष्ट-मानसा स्वगत चिन्तयति) अरे,

कोऽसौ मनोज्ञोऽभिनवो मनोजो भवेऽवतीर्णो हि विरक्त-वेषे
नेत्रे मदीये तरसाऽपकर्षन् अन्तस्तले मे विशति प्रमादात् ॥१७॥

(समक्षमागते-प्रकाशम्) किं न श्रुता भवता माहि-ष्मत्याम्प्रवर्तमाना-अस्माकं ते ते राजकीया आदेशा. । नह्यत्र स्त्रीणा जन्मजाता शत्रव. केवलम्पराान्नभक्षण मात्रोपजीविनः केचन निष्कर्मण्या मुण्डिनो दण्डिनो वा प्रवेश लभन्ते ।

पूर्णानन्दः — क्षमस्व देवि क्षमस्व, अनभ्यस्ता चेत् स्मो वयमीदृशाना विचित्राणा–मादेशानाम् । न चैतादृश कञ्चनादेशो विद्यतेऽखिलेऽपि–जम्बूद्वीपे क्वचित् प्रवर्तमानः ।

भीमनयना — (सहसाऽग्रे समुपसृत्य) मुण्डिन् यदि यूय–मनभ्यस्ता खल्वीदृशानामादेशाना तर्हि वयमपि न वर्तामहेऽभ्यस्ता यत् तत् श्रोतुं यस्मात् कस्माच्चन मुण्डिन । (इति तं बलान्निगृह्यान्यतो नेतुमारभते)

(राज्ञी सुन्दरी चाथ तं ता तथा निर्भीकमनुसरन्तमवलोक्य) पुनरयम–पराण्हे अस्माक सम्मुखमानेय इत्यादिश्य परिक्लान्तेव प्रविशति स्वभवनाभ्यन्तरम्)

अपराण्हे परिचारिकाभि. पुनः स्वसमक्षमानीतं तं निर्निमेषमवलोकयन्ती चिन्तयत्यात्मगतम् सुन्दरी)

सुन्दरी —

कस्यापि चित्ते न विधि. कदाचित्–आरोपयेद् रागविषाक्तशल्यम्
शक्य विरोप्तुं न हि यत् कथञ्चित् आमूलमन्तर्गतमन्तराले ॥१८॥

अस्तु पश्यामि तावत् कथमेषोऽनुवर्तते मदीयामेना–म्प्रवृत्तिम् (प्रकाशम्) दण्डिन्, कुत. समुद्‌गतोऽयं भवति वैराग्येणराग । कथं वा पित्रो. शुश्रूषा–मवगणय्य—

इदं किलाव्याजमनोहरम् वपु–र्व्यर्थं विशीर्णं कुरुषे वनेषु
रस हि कस्याञ्चन वा तरुण्याः प्रशोष्य किं निष्करुणोऽसि जातः ॥१९॥

पूर्णानन्द. — (स्वगतम्) अहो अत्रापि स एव शीतलकोट–वर्ती प्राक्तनो भूमिकावतारः । प्रथमत एवावरोधयामि

तावदेनम् । (प्रकाशम्) आर्यवर्ये—

समर्पित यैरखिलं स्वचेत पुरैव कस्मैचन चिन्मयाय
स्थिरास्थिति काऽप्यथ नैवयेषा लक्ष्य च येषा नियत न किञ्चित् ।
रागेणरिक्ता हृदयेन हीना. स्नेहम्-प्रशोष्यैव च येभ्रमन्ति
का नाम मूढा हि कदापि तेभ्य समर्पयेत् चित्तमहो स्वकीयम् ॥२०॥

सुन्दरी — (आक्षिप्य) नायमास्ते किन्तु कश्चन सुनियत. प्रसक्ति-प्रकार. ।

रागेऽनुरागे न मन. कदाचित् क्षणम्परेषा शृणुतेहि किञ्चित्
एकं हि तत्पश्यति विश्वचित्रे ध्याने च तस्यैव तदस्ति मग्नम् ॥२१॥

(अत्रान्तर एव तत्र काचनैका परिचारिका प्रविश्य निवेदयति)

स्वामिनि — ज्ञाननाथ इति कश्चनापर परिव्राजक प्रतीक्षतेऽस्मै (अगुल्या पूर्ण निर्दिशन्ती) स्वसहचराय दुर्गद्वारि च मुहुर्मुहुरनु रुणद्धि सद्य एवैनम्परि द्रष्टुम ।

पूर्णानन्द — (आकर्ण्य) देवि, दूरमितोऽस्माभिर्गन्तव्यम् । कृपया-ऽनुजानीहि माम बहिर्गमनाय ।

सुन्दरी — (अकस्मादापतितेनानेन विघ्नेन विक्षुब्धा परिचारिका सकेतेन ततोऽपसारयन्ती पूर्णानन्द वन्दीकृतेन त्वया वन्दीकृताहं न क्षमेऽधुना भवन्तमनुमन्तु क्वचिदन्यत्र गन्तुम् । नावहेल्या च भवताऽपि निर्दयमेव-मस्मदी-याऽनुरक्ति ।

पूर्णानन्द. — देवि सुसमाहितयाऽवधेयमेतन्मे निवेदनम् ।

रागेण मोहेन च पीडिताना गतिं व जाने वत कीदृशोयम्

पश्यामि ते किन्तु दशां विचित्राम् कर्तव्यमूढश्च भवामि भूयः ॥२२॥

नहि किन्तु नृपालाः प्राकृत जनवदाश्रयन्ते किंचन मनोदैन्यम् । स्मरणीय चैतत् प्रतिक्षणमेवाखिलाभिः प्रशासिकाभि र्यत् स्वशासन विना न भवति पर-शासनं सुकरम् । गुरोर्गोरक्षनाथस्यादेश विना न चावामत्र स्थास्याव· क्षणमेकम् । (इति निगदन् चेष्टते बहिर्यातुम्)

सुन्दरी — साधो, साधुनापि नैवमसाधु साम्प्रतमाचरणीयम् । गते त्वयि न मदीया. प्राणा अपि चिरमत्र तिष्ठेयुः सुरक्षिताः ।

(परमविचित्रयाऽस्याऽनया चेष्टया भृशमाकुल)

पूर्णानन्द. — स्वगुरुप्रवरं गोरक्षनाथम् सस्मरन्–प्रार्थयते—

कृपालो हे गुरो सद्यो रक्ष मां धर्म–सकटात्
सह्या नैषा मया घोरा माया ते साम्प्रतं चिरम् ॥२३॥

(प्रार्थनाऽनुक्षणमेव तत्राविर्भूत श्रीगोरक्षनाथः— तिष्ठ नि शकमिति पूर्णानन्दं समाश्वासयन् प्रबोधयति सुन्दरीमेवम्)

गोरक्षनाथ — कल्याणि महाराज्ञि, मंगलमये त्वदीये प्रशासने कीदृशोऽयं धर्मसकटोऽनुभूयते सन्यासिनाऽनेन (सलज्ज चरणेष्ववनता तिष्ठन्तो तामवलोक्य पुनरपिमादिष्टा गुरुप्रवरेण) सत्प्रशासिके नहि नरेश्वरा नरेश्वर्यो वा सहसैव समाश्रयन्ते प्राकृतजनवत् किमप्यात्म नो दैन्यम्, न च स्वशासनमितरा भवति परशासनं सुकरम् । (गुरुचरणरज. शिरसि धारयन्ती सलज्जमधोमुखी

सुन्दरी)— नाथनाथेश्वर सर्वमेतत् सत्यम् परम्—

योगे वियोगे हि मनः प्रवृत्ति र्नहि स्वतन्त्रा बत जीविना नः
न चापि दुर्दम्यमिदं कठोरै रुन्मृद्य मृद्वी महिला-प्रवृत्तिम् ॥२४॥

गोरक्षनाथः — देवि, प्रवृत्तयोऽपि न भवन्ति किन्तु सर्वत्रैव यथा तथा प्रवर्तनीया·

मृषा न कार्यं क्षणिके शरीरे वृथाऽवलिप्तं स्वमनोऽपि मोहात्
योज्यं ह्यवश्यं यदि चैतदास्ताम् नियुंक्ष्व तत् प्रेमनिधौ हि कृष्णे ॥२५॥

सुन्दरी —

हे नाथ-मह्यं ह्यधुनैष एव, कृष्णस्तवायं खलु शिष्यवर्य.
नातः परः कोऽपि ममार्ति-हारी न वा परः कोऽपि ममास्ति पूज्यः ॥२६॥

गोरक्षनाथः — अस्तु एष एव चे ते प्रियतम कृष्णस्तर्हि – अस्यैव कस्याचन प्रियतमायायाम्प्रवृत्तौ—अस्य सहधर्मिणी (इत्यर्धोक्ते)

सुन्दरी — (सानन्दमुच्छ्वस्य अपवार्य सजीवितास्मि गुरुणा ।

गोरक्षनाथः — भूत्वा समये समयेऽस्यापि साहचर्यमासादयन्ती भव सदैव सर्वानन्द सम्पन्ना । अथ—

समर्पितं मनो यस्मै त्वयैतद्—हे वराम्बरे
सोऽप्यर्पयेत्मन· स्वीयम्-हृद्येऽस्मिन्नम्बरे हि ते ॥२७।

अहं चापि तथा तस्मिन् भवेयं व. सहायक
राज्ञ्या सहाथ भूयास्त्वम् प्रसिद्धा कर्मयोगिनी ॥२८॥

एकस्मिन्नेव यन्मग्नं मनस्ते दिव्य सुन्दरि
आर्तानामार्ति नाशार्थं व्यापक तद्-विधेहि ते ।।२९॥

आतुराणां च सेवाया सह पूर्णेन सन्ततम्

वसन्ती सुखिनी भूया. पूर्णस्ते सेवको भवेत् ॥३०॥

(निगम्यैतत् स्तब्धा चिन्तनमग्ना च तामवलोक्य स्वकरस्पर्शेन तस्यामेकामपूर्वा नव – चेतनामाधाय तत्रैवान्तर्दधे सद्य । सुन्दरी च साष्टागपातम्प्रणम्य निवेदयति पूर्णाय)

सुन्दरी — शिष्याऽह् ते प्रशोधि त्व घृष्टा मां नावमानये
सेवाया सदनं स्थाप्यम् स्थेयं चेह पुनस्त्वया ॥३१॥

पूर्णानन्द —
कृता कृतार्था गुरुणाऽसि धन्या शिष्या प्रिया मे च सदा भवेस्त्वम्
नून च तस्मिन् सदने त्वदीये सेवा मदीया सुलभैव ते स्यात् ॥३२॥

इति मातृदर्शनानन्तरं सद्य एव पुनरत्रागमनाय ताम्पूर्णमाश्वास्य तयाऽनुज्ञात. समारेभे स्वयात्राम-ग्रत. ।

(इति पूर्णानन्दे चतुर्थोऽङ्कः)

अथ पूर्णानन्दे पञ्चमोऽङ्कः

(१)

(शीतलकोटमभिगच्छन् आत्मगतम् तत्तत्प्रश्नाभिभूतः पूर्णानन्द)

पूर्णानन्द — (स्वगतम्) मातृदर्शनाय नितान्तमुत्सुकोऽपि कथ नाम नृपाज्ञया निर्वासितोऽहम्–ऋते तदादेशम्–तत्र प्रवेष्टु-मर्हामि । यथा तथा तत्र प्रविश्याप्यथ कियत्कालम्

पुनः प्रच्छन्न एव तत्र तिष्ठेयम्–नैतत् किञ्चिन् सुस्पष्टमुत्तरयति परिभ्रान्तेय मे मतिः साम्प्रतम् (क्षणमुपविश्य–सहसा च पुन· संस्मरन्निव विस्मृतामात्म शक्तिम्) अथवा गुरु कृपाधिगत–तत्तत्–सिद्धिशक्तये मह्यम् नास्त्येतत् किञ्चिदसाध्य साध्यम् । केषाचना साध्याना रोगिणा रोगनिवारणपुरस्सरमात्मानम्प्रख्याप्य भवाम्यचिरेणैव कश्चन महान् सिद्धः । स्वप्नैश्च तैस्तैरथ स्थापयामि स्वसम्पर्कम् – सर्वैरेवादरणीयै. स्वजनै ।

(२)

(ब्राह्मे मुहूर्ते दृष्टेनैकेन शुभेन स्वप्नेन प्रबुद्धा नवीना महाराज्ञीमक्षराम्प्रबोध्य निवेदयति)

नवीना — मात·, प्रतिभात्यद्यास्माकं नैराश्यनिशाया सजातमात्यन्तिकमवसानम् । नाहं यद्यपि महाराजाय स्वय किञ्चिन्निवेदयितुम्प्रभवामि परं सम्प्रत्येव दृष्टो मया महाराजो मदुत्सगाद् दिव्य बालमेकमादाय त्वदुत्सगे तं निदधानः । त्व च पुलकित नयनाभ्यामेनमालिङ्ग्य यावत् स्मरसि कुमार पूर्णानन्दं तावदेव तत्र प्रादुर्भूत् परमतेजस्वी एकस्तरुणः संन्यासो महाराजस्य चरणौ सस्पृश्याभवच्चान्तर्हित· ।

अक्षरा — नवीने, किमिदमसंभावित श्रावयसि कुतो वाऽजीवनम् प्रतिकूलं मे दैवमद्य भवेत् सहसैवेत्थमनुकूलम् ।

यद् भाति नित्यम्प्रतिकूलमेव स्वतोऽनुकूल यदि तद् भवेन्नः
लोके विचित्र किमपीह नैतद् सदैव भिन्न. समय–प्रवाह. ॥१॥

अक्षराः — भगवान् सहस्रदीधिति–र्विधत्ता ते सुस्वप्नम् सर्वथा

सुफलितम्। मदीये प्रशुष्कतमे स्तनमण्डलेऽप्यद्यानुभूयते कश्चन नवतमः पयसां संचारः।

(अत्रान्तर एवात्रप्रविशति देवार्चनाय कुसुमादि साम-ग्रीमादाय-शिवोद्यानपालो रामदत्त)

रामदत्तः — महामान्ये महादेवि क्षन्तव्योऽहमद्याल्पीयसामेषा कुसु-मानामानयनाय। गतेऽपराह्णे कुतश्चिदागतं परम-दिव्यमेकं सन्यासिनमनुसरद्भिर्जनैः तत्रत्यानि सर्वा-ण्येव पुष्पाणि समर्पितानि तस्य चरणेषु। महानय कश्चनसिद्ध इत्युद्घोषयद्भिश्चभिः कैश्चन तत्रैवाधि गताऽपि पुनः स्वदर्शन्-शक्तिं' खञ्जाश्च केचन तत्रैवा-रेभिरे कर्तुमस्य प्रदक्षिणा नृत्यन्तोऽथ गायन्तः।

अक्षरा — महाराजश्चेदाज्ञापयेत् आवाभ्यामप्यपनीयतामस्य शुभेन दर्शनेनावयोस्तास्ता वताधयोऽथ व्याधयः। महाराजः स्वयं-वाधिगच्छतु नैराश्यग्रस्ते स्वजीवने कञ्चनाभिनवं भव्याशा सञ्चारम्।

नवीना — भवत्यैव प्रस्तूयतामेष मांगलिकः प्रस्तावः पुरोहित प्रवरो वा भवेदत्रास्मान्मनोरथानाम्परिपूरकः। (प्रेष्यते प्रतिहारी पुरोहितस्यानयनाय)

(३)

(प्रासादेभ्य समागतात् शिवोद्यानपालकात् रामदत्तात् अचिरेणैव महाराजस्य सकलत्रम् शिवोद्यानागमन प्रवृत्तिमुपलभ्य सम्भ्रान्तः पूर्णानन्द. भवति भृशं आत्मकर्तव्य-निर्धारणव्यग्र)

पूर्णानन्द. — (स्वगतम्) अहो परम पापीयानयम् भवेद् व्यत्ययः

समुदाचारस्य। सत्वरमुद्यानाद् बहिर्निष्क्रान्त्यैव पावया-न्यात्मन पूज्यानां खल्वेषां चरणरजसा (असंख्यैरनु-यायिभिर्भक्तजनैरन्वित· पूर्णानन्द यावत् महाराज-स्य शिविकाम् मध्ये मार्गं निरुध्य यतते अभिवादयितुं पितृचरणेषु तावदेव महाराज –शैलेन्द्र.)

शैलेन्द्र. — सिद्धशिरोमणे पापीयसो मे पापं परिवर्धयन् न विधेहि मा भूयसा महापातकिनमेवम् इति निगदन् चेष्टते तस्य चरण–स्पर्शाय (पूर्णानन्दश्च वेगेन जन-न्या. अक्षराया. विमातु नवीनायाश्च चरणौ संस्पृश्य कृताञ्जलि निवेदयति महाराजाय)

हे हे क्षमाशील नृपेन्द्रवर्य,
क्षम्योऽस्मि ते कोऽपि जनः प्रजाया.।
गोरक्षनाथस्य गुरोर्निदेशात्
समागतोऽहं तव दर्शनाय ॥२॥

नवीना — (ससम्भ्रममपवार्य निवेदयति महादेव्यै अक्षरायै) जननि एष एव स्वप्ने दृष्ट. स दिव्य सन्यासी एष एव च ते वत्सल. कुमारः पूर्णानन्द ।

अक्षरा — (सरभसम् पूर्णानन्दमवलोक्य मुहुर्मुहुस्त परि-चुम्बन्ती) वत्स सत्य सत्यमद्य स जात गुरोर्गोरक्ष-नाथस्य दयामय तत् प्राक्तनमाश्वासन। सम्प्रति परि-हाय विरक्ताना वेषमेन स्वतातचरणै. सह राजधान्या प्रविश्य अनुरञ्जय वर्षेभ्यः प्रतीक्षमाणानां प्रजाजना-नामुत्कण्ठितान्यन्तस्तलानि परिपूरय च महाराजस्य प्रतिजनमन. समुल्लासकस्य नागरिकस्य महामहोत्सव-स्य चिरन्तनीमभिलाषाम्।

पूर्णानन्दः — मातर्न्नैष मे वेषो भवेत् क्षणायापि परिपथी क्वचित्

केषाञ्चित् तवादेशानाम्परिपालने । तातचरणैः सह नगरे प्रवेशश्च मया महारुद्राभिषेकस्य मे परिसमाप्तावेव विधीयेत–इति तदर्थमिदं शिवोद्यानमेवास्ते सर्वोत्तम स्थलम् ।

महाराज–शैलेन्द्र. — अरे कीदृशोऽयं महारुद्राभिषेक. प्रतिभाति नाद्याप्यस्य तत्तदरिष्टजनकानां ग्रहचक्राणां तानि तानि चक्रमणानि जातान्यस्मद् गृहप्रवेशानुकूलानि ?

पूर्णानन्दः — राजन, कालस्यानुकूलत्वम्प्रातिकूल्यं वा नभवत्यस्मन्मनोरथाधीनम् । परमिदानी हि न केवलं मे अपितु अखिलस्यैव राजकुलस्य ग्रहा अवगाहन्ते काचन सर्वश्रेष्ठां तां शुभा सरणी येन ही नरेन्द्रवर्याः स्वस्थाश्चतुर्मासाभ्यन्तरमेव यौवराज्याधिकारिणं वैमात्रेय मेऽनुजम्परिलालयन्त स्थास्यन्ति प्रतिक्षणं तत्तल्लीलादर्शनमग्नमानसा । अहं च महादेव्या अक्षरायास्त त धार्मिक मनोरथम्परिपूरयन् रक्षिष्यामि ताम्प्रतिक्षणम्प्रसन्नाम् । (इति किंचित् स्पष्टमस्पष्टं च समुच्चारयन् "विकलामक्षरा च समयोऽयं रुद्राभिषेकस्य" प्रत्यहस्त्वया प्रातः सायमभिषेकसामग्री प्रेषणीयेति निवेद्य जातस्तत्रैवान्तर्हितस्ते च सर्वे तिष्ठन्ति तत्र मूका अथ चकिता ।

(४)

(शिवोद्याने पूर्णानन्द यत्तत् परिपृच्छन्ती महादेवी अक्षरा)

अक्षरा. — पूर्णं किमद्यापि न परिपूर्णं ते तदनुष्ठानम् । स्ववाललीलादर्शन वञ्चिता मा कियच्चिरमधुना नववधू–

मुखावलोकेन सौख्येनापि हीनमेव रक्षितुमीहसे । (अधोमुखं निरुत्तरं पूर्णमवलोक्य) कुमार, अलमधुना ते किलैभिस्तैस्तै र्व्यपदेशैः । वस्तुतस्तु नहि दृश्यते लेशतोऽपि त्वयि काचिदस्मद्-गृहप्रवेशाभिलाषा ।

पूर्णानन्दः — मातः, सत्यं चेत् श्रोतुमिच्छसि । आशैशवात् आश्रमेषु कान्तारेषु च वसतो मे मनः प्रवृत्ति र्न भवति क्षणा-यापि कदाचिद् गृहावासोन्मुखी ।

अक्षरा — यदाशंकितमासीत् तदेव कृतमद्य त्वया सुव्यक्तम् । परं जनन्यपि किं नापेक्षते स्वतनयात् स्वमनोरथानां काचित् ता तामभिपूर्तिम् कान्तारेषु निवसतस्ते न जाने कदा कीदृशी भवेत्ते सुखदु.खादि परिणतिः । पुत्रमुखावलोकनमतिरिच्य जनन्यै न भवति जगति किञ्चिदपरम् परमाकर्षकम् । इय चेतो मानसिकी प्रवृत्ति.—

स्वप्ना हि सर्वेऽपि ममाद्य शीर्णा लीनाश्च सर्वे मम हृत्तरंगाः
गृहेस्थितैश्चापि परा सहस्रैः किं योगिभिर्नाधिगतं स्वलक्ष्यम् ॥३॥

पूर्णानन्दः — मात', सत्यं सर्वथा सत्यमेतत्ते कथनम् । सत्यापि किन्तु गृह जीवने सर्वं सौख्यनिधाने, बन्धनमपि परमं नातः परं भवति जगति किमप्यपरम्—

आश्चर्यं यदि मानवै र्न सदनं सन्त्यज्यते सत्वरम्
स्वातन्त्र्यं निखिल भवेदपहृत नृणा हि यत्र स्वत. ।
यत्रस्था भवबन्धनेऽत्र पतिताः केचिन्न मुक्ता पुनः
संकीर्णञ्च समं न येन हि भवे किञ्चित् परं जीवनम् ॥४॥

अक्षरा — पूर्ण, गुरुकृपया परिपूर्णत्वमाप्तेन त्वयाऽन्विष्यता नाम कामं विश्रुतयं ते लोक' परं मह्यमयम् ऋते त्वा

सदपि तद् भवेन्नितान्तमसत् । सति च त्वयि निखि-
लाऽपि मे जगती प्रासादानामेषामङ्गण एव विभर्ति
सर्वाङ्गसम्पन्नताम् ।

सेव्या च किं नाहमहोऽस्मि बृद्धा सेव्यो न वात जनकोऽपि जीर्णं
प्रजाजना वा नहि सेवनीयाः नातः परः कोऽपि तवास्ति धर्मः ॥५॥

फलन्ति सर्वत्र गृहे वने वा कुमार कर्माणि शुभानि सद्य.
जहीहि तद् बालहठं तवैनम् आगच्छ यामो मुदिता स्वगेहे ॥६॥

(जनन्या स्नेह–विह्वलैरेभि–र्भावै–र्भृं श द्रु तान्त बृत्तिः
पूर्णानन्देऽपि पुनश्चिन्तयति—)

स्थेयं मया नहि चिरं सदनेऽत्र नूनम्
पित्रो–र्भवेच्च सुलभाऽनुमति र्नं गन्तुम् ।
द्वन्द्वात्मके हि घटके पतितो वतास्मिन्
कुर्वे नु किं न नियत किमपीह वेद्मि ॥७॥

(विमृश्य) अथवा भूयोऽप्यस्या. समक्षं वैशद्येनावेद्य
वस्तु स्थिति सुस्पष्टं–प्रबोधयाम्येनामेवम्—(प्रकाशम्)
महादेवि, परिसमाप्तानि सम्प्रति खलु मेऽखिलान्येवा–
वकाश दिनानि । गुरोराज्ञा बिना नेत परमहमिह
स्थातुं शक्नोमि । न च मेऽन्त. प्रवृत्तिरेवाऽधुना
प्रेरयति मामाश्रमावासात् क्षणमपि क्वचिदन्यत्र
स्थातुमिति तत्रभवत्यापि न निरोध्योऽहमधुना
स्वगुरु ।

शक्या विरोद्धुं नहि बालवृत्ति र्नं चापि मेऽन्त. करण–प्रवृत्ति
अस्या स्थितौ मे शरण किमन्यत् भवेद्धे त्वामिति मामवेस्त्वम् ॥८॥

इति मुहुर्मुहुस्तमेव साप्टागपात संस्मरन्ती भवति

भृशम्पर्याकुला ।

(पूर्णानन्दस्याक्षरायाश्चोभयोरेवानया प्रार्थनया परिद्रावित-चित्तोऽथ गुरुर्गोरक्षनाथोऽत्र सहसा प्रादुर्भूतो व्यवस्थापयति पुनरेवम्)

गुरुः — पूर्ण, पूर्णमुत्तीर्णोऽसि परमदुस्तरास्वपि ते तासु तास्वखिलासु खल्वेतासु परीक्षासु । न केवल प्रत्यक्षम्परिपालिता त्वया स्वगुरोराज्ञा, न वा केवल सुरक्षितस्त्वयाऽखण्डित स्ते यतिधर्म. । अपितु सहैवानेन नहि त्वया क्वचिदपि निर्दयं दलिता कस्याश्चनाप्य बलाया' स्वल्पापि काचन मृद्वी मानसी वृत्तिः । यतिवरेणापि राजपुत्रेण त्वया पर राजर्षिणैव स्थेयमिति मदीया खलु प्राक्तनी मनोऽभिलाषा । अथ च यथा सुविदितं ते मदीयाया हि दीक्षायाम् ।

न कापि माता हृदये विदीर्णा गोरक्षनाथं कुपिता शपेत ।
सेवा विहीनो न च कोऽपिवृद्ध. पिता भवेद् वा स्वसुतै-वियुक्त. ।।६।।

सिद्धान्ता' खल्वेते भवन्ति सदैव सुदृढ परिरक्षिता इति यावत्तेऽनुजो राजेन्द्रो यौवराज्याधिष्ठितो न क्षमते महाराजस्य शैलेन्द्रस्य शासनभारं वोढुम्, यावच्चाजीवनं दु:खशतैराक्रान्ता तपस्विनीय ते जनन्यक्षराऽपेक्षते खलु ते साहाय्य तावदिहैवास्थितेन त्वया साधनीयेय परमा कठोराऽपि परमकोमलेय ते साधना । संस्थापनीयश्च कर्मयोगस्याभिनवं किमप्येतद् विलक्षणमुदाहरणम् ।

नवीना — अहो अलौकिकं खल्वेतद् गुरुचरणानां किमपि कृपामयं परमं गौरवम् ?

नरेन्द्रः-शैलेन्द्र — सिद्धानां चेयं सर्वमनोरथपूरयित्री काचनानुपमा संसिद्धिर्यया मृता अपि वयमिदानी जाताः स्म. पुनरुज्जीविताः ।

पूर्णानन्द — गुरुचरणानां शुश्रूषया परिवञ्चित किन्त्वह नानुभवाम्यत्र कंचन महान्तमात्म-सन्तोषम् न च परिलक्ष्यते खलु महादेव्यक्षराप्यनया व्यवस्थया पूर्णम्परितुष्टा ।

गोरक्षनाथः — पूर्णानन्द, त्वादृशस्य यतिवरस्य जननी त्यागमूर्तिरियमक्षयरा परेभ्य. परित्यजेच्चेदितोऽप्यधिक किञ्चित् सर्वमेतद् भवेत् तस्यामुपपन्नम् ।

पुरोहित — अथवा परितुष्टे गुरौ तुष्टा एव वयं सर्वे, तथापि भवत्वेतदपि भरतवाक्यम्परिपूर्णम्पूर्णानन्दे ।

पूर्णा. सन्तु मनोरथा सुकृतिना नैराश्य नाशो भवेत्
मोदेताम् पितरौ सुतैश्च सुखिनौ दिव्यात्मसम्पद्युतै. ।
सन्तृप्तं ह्यथ गोकुल हि निखिलं जायेत वर्षामृतैः
सद् - ज्ञानामृत - वर्षणैश्च नितरामानन्दपूर्ण जगत् ॥१०॥

इति विद्यावाचस्पति श्री देवीप्रसाद शास्त्रितनयेन विद्याधर शास्त्रिणा विरचिते पूर्णानन्देऽस्मिन्नाटके परिपूर्ण. पूर्णानन्द परिपूरकः पञ्चमोऽङ्कः ।

॥ श्री ॥

अथ दुर्बलबलम्

(१)

अपूर्वः संगमो यस्मिन्–अमृतस्य विषस्य च
स नागेशो महाकाल. पातु व अन्द्रशेखरः ॥१॥

स्थितिं समाजस्य सदैव शुद्धां संरक्षितुं यो हि सत. सुरक्षन्
खलान् समूलं सतत समस्ता–नुन्मूलयेत्सोऽवतु नो मुरारिः ॥२॥

(नान्द्यन्ते प्रविश्य सूत्रधार.)

सूत्रधार — सुविहित सुमङ्गलम् । श्रूयतां सम्प्रति सावहितं तावत् कीदृशोऽयमाकर्ण्यते तद्दिशि महान् कश्चन जन-कोलाहल ।

पारिपार्श्विकः — (ससंभ्रमम्) भाव, यथाहं तर्कयामि विशाले कस्मिंश्चन जनसमाजे भवितव्यं तत्र केनापि वाग्मिवरेण सम्भाषमाणेन ।

सूत्रधारः — एवं चेद्–आगच्छ, आवामपि तत्रैवोपसृत्य सुस्पष्ट-तरमेतदाकर्णयाव. ।

ऋते विशिष्टमाख्यानं व्याख्यान नैव शोभते
सविशेषं सदाख्येयम् सामान्य न हर हृदाम् ॥३॥

(प्रस्थितौ)



(२)

(तिलकचत्वरे सभाषमाणो भिक्षुरानन्द)

आनन्द. — बान्धवा । कथयत सुस्पष्ट कथयत एतत् । किमेकान्ते शान्ते प्रकृति-स्थले सस्थिते स्वधर्मकर्मनिरते तपस्विनि त्रिव्रते, दुर्वृत्तै र्मातुङ्गचैनै रद्याचरितोऽयमनार्यो व्यवहारो न दुनोति श्रीमतामान्तरमशेषतः ।

जना — महाभाग ! विहाय कतिचिद् राष्ट्रद्रोहिणो दुर्वृत्तान् कामयोनिष्ठान् इतरान् वा काश्चिददूरदर्शिनो जनान् को नाम भारतीयोऽद्य निशम्यैतद् विश्वासघातक जघन्यं वृत्त न भवेत् सर्वथा विदीर्णहृदयः ।

आनन्द — सर्वथा आर्यजनोचितेय श्रीमतां चेतोवृत्ति.—

आर्यत्व सहते नाल्पं पापिनामंकुशं कचिद्
मुक्तिकामा वयं नित्यं सर्वस्माद् भवबन्धनात् ॥४॥

एक पार्षद. — भगवन् भवबन्धन-मुक्तिरपि किन्तु प्रथमं नित्यमपेक्षते स्वराष्ट्र-बन्धन-मुक्तिम् ।

आनन्द — सुनिश्चित सर्वथा सुनिश्चितमिद बन्धो, परतन्त्रे हि राष्ट्रे स्वधर्माचरणस्यापि स्वातन्त्र्यं न भवति सदैव सौकर्येण सम्प्राप्तम् । पारतन्त्र्यात् कथमद्य त्रैविष्टपाना धार्मिकी सस्कृतिरुच्छिद्यते पापैश्चैनैरिति सम्प्रत्येव मया विशद निरूपितम्, तस्मात् दु शक्तिरियमस्माभिर्दूरत एवाद्य वर्तते सत्वर सुनिरस्या ।

दु:शक्तिर्भववाघनाय नियत निम्न तलं गाहते
दुर्नीतिश्च परापकारनिरता दोषान्निजान्नेक्षते ।

तीरत्रोटनतत्परा यदि सरित् तीरे न संरुध्यते
नूनम्पार्श्वंगताऽखिला वसुमती पूरैः परिप्लाव्यते ।५।।

जना — निर्दिश्यता र्तर्हि तन्निरोधक साधनमविलम्बेन ।

आनन्द. — तदप्यहमचिरेणैव निवेदयिष्यामि श्रीमता सेवायाम् । धारयत धैर्यं यावदह कार्यानुरोधेन सारनाथ गत्वा पुनरिह प्रत्यावर्ते ।

(वन्देमातरम्–राष्ट्रगानेन सह सभाविसर्जनम्)

(३)

(ततो दृश्यन्ते सुरक्षिते भारतीये क्षेत्रे प्रविशन्तो दल–पति–पुरस्सरास्त्रैविष्टपा· ते ते वर्गा)

रामोदलपतिः — सद्धर्मानुरागिणः ! सर्वशक्तिमतो वज्रभैरवस्य परमानुग्रहेण सम्प्राप्ताः स्म सम्प्रति वयं सकुशलं तथागतावतारिणि सर्वजनवन्दनीये पावनेऽस्मिन् भारतीये प्रदेशे । एत तत् सर्वंत प्राक् समवेत्य तमेव सकल ससृतिदुःखापहारकं परमकारुणिक भग–वन्तं मैत्रेय सर्वात्मना सस्मराम ।

(ध्यानमास्थाय क्षणं सर्वे मौनमाधाय पुनरश्वानारु–ह्याग्रेसरा भवन्ति)

राम. — अविलम्बेनैव सम्प्रति वयमस्मदपेक्षापूरकस्य कस्यचन सद्ग्रामस्योपान्तमाश्रयिष्यामः ।

शाक्य. — (दूरमभिलक्ष्य) यथाहम्पश्यामि केचनाश्वारोहिण इत–एव सवेगमागच्छन्तोऽभिलक्ष्यन्ते ।

रामः — भवेत् कथंचन भारतीयैं शासकैरुपलब्धाऽस्मदागमन–

सूचना ।

(अत्रान्तर एव तत्र प्रविशन्ति आनन्दपुरस्सरा· कतिपये पौरा जानपदाश्च)

आनन्द· — (सादरमभिवाद्य) विश्ववन्द्या महाभागा ! सेवाया-समुपस्थिता वय समनुग्राह्या केनापि कृपामयेन मान्याना शुभेनादेशेन ।

राम· — वन्धुवर्या ! भारतीयै शासकवरैरभिशासितेऽस्मिन् राष्ट्रेऽस्माक सर्वा अपि गतय· सन्ति केवलं तेषामादेशाधीना· । अतोऽत्र यदि भवेत् निकटस्थ. कश्चन शासनाधिकारी सत्वर तर्हि तत्र सम्प्रापणीयाऽस्मदागमन-सूचना—

रामसुरक्षकोऽधिकारी (अग्रे समुपसृत्य) ततोऽपिप्राक् भवद्भिरप्यथ कृपया समनुग्राह्योऽयं जन स्वपरिचयदानेन ।

आनन्द· — वयं वर्तामहे त्रिव्रतभारतमैत्रीसघस्य सदस्या· । त्रिव्रते विद्यमानेभ्योऽस्मद् वयस्येभ्य कथंचन श्रीमदागमन सभावना वृत्तमेनमुपलभ्य वयमत्र समागता स्मः । नि·शङ्कमादिश्यतामादेश्यम् । यावदहं सत्वरंगच्छाम्यधिकारिणं सूचयितु तावदिमेऽस्माकं सुहृदोऽपि आतिथ्य-ग्रहणेन मान्यैरवश्यमनुग्राह्याः ।

रामः — प्रिया सुहृत्प्रवरा. ! वन्धुवर्याणां भारतीयानामादिकालात् सर्वसुलभमातिथ्यमिति- सुनिश्चित्यैव निश्चिन्तमिह वय समायाता. स्म. । यथा रोचते तथा सर्वं सम्पादयत । आतिथ्यादपि पुरा पर तैस्तैरनिश्चितैरलक्षितैश्च विकटैर्मार्गैं भारतम्प्रविशन्तोऽस्माक अन्ये-

ऽप्यनुयायिनोऽन्विष्यान्विष्य इहैवानेयाः ।

आनन्दः — अनुगृहीताः स्मः (ततः समागतेभ्योऽनुसारिभ्यः कतिपयान् युवकान् पृथगाहूय रामरक्षिभिः सुविमृश्यच प्रेषयति तान् तेषु तेषु स्थानेषु)

रामः — साधु भो भिक्षुवर, साधु । अधुनाहि

दृढोऽसौ विश्वासो दृढतम इदानी हि जनितः
स्वभावात् सर्वेषामुपकृतिरता भारतजना. ।
दुराचारं केषाञ्चिदपि नहि सहन्ते वहुतिथम्
स्वतन्त्रा. स्वातन्त्र्य भुवि सततमीप्सन्ति फलितम् ॥६॥

अस्तु आनन्दमहाभाग ? सत्वरमित' सम्प्रति मदीयेन दूतेन सह द्रष्टव्यो निकटस्थोऽधिकारी । (अभिवाद्य आनन्द. अंत्रतेन दूतेन सह प्रतिष्ठते)

आनन्दः — (मार्गे) शक्तिरक्षित बन्धो ! यथाहम्प्रत्येमि भारतीयैरधिकारिभि र्भवेद् विज्ञातमेव मान्यवरस्य दलपते रागमन–मेतद् । पुनरपि रामसन्देशोऽस्माभिर्यथावत् श्रावयिष्यतेऽधिकारिणे ।

(दूरतो राष्ट्रध्वजालंकृतं माण्डलिककार्यालय दृष्ट्वा) सम्प्राप्ता. स्मो वय सम्प्रति स्वाभिमतं स्थानम् । (कार्यालय रक्षक द्वारा सूचिते माण्डलिके, वहिरागत्य माण्डलिकः)

माण्डलिक. — महात्मन् ! तत्रभवतो रामवरस्य सन्देशेन सहैव समुपलब्धः सम्प्रत्येषमयास्मत्–केन्द्रीयोऽप्यादेशः। सर्व प्रथम सुरक्षाप्रवन्धोऽस्माभि' सुविधेय आस्ते । गच्छत युवा सम्प्रति समाश्वस्तौ । अचिरेणैवास्यप्रदेशस्य मुख्य

मन्त्रिमहोदया मान्यानां सविधे समुपस्थास्यन्ति ।

(धन्यवादेन माण्डलिकमभिनन्द्य उभौ निवर्तेते)

आनन्द — अस्तु सद्बन्धो । सम्पादितमस्माभिरस्माकं कर्तव्यम् । सम्प्रति रात्रावत्र विश्रम्य प्रातर्भवान् प्रतियातु स्वशिविरम् । अहंचान्यान् मान्यान् महानुभावानपि वृत्तेनानेन सुपरिचितान् कर्तुं म्भवामि प्रयत्नशील: ।

(विश्रामालयम्प्राप्तौ सुखं शाद्वलावृते स्थाने समुपविष्टौ शृणुतो यात्रिणाम्पारस्परिकमालापम्)

प्रथम: — श्रुता न वा भवताद्यतना सायतना नवीना: समाचारा ?

भारतेऽद्य सम्प्रविष्टे दलपतौ रामे चैनै प्रेषितमेकं विस्तृतं विरोधपत्रम् ।

अपर — किमनेन विरोधपत्रेण । अतिथीनां सुविधेयमातिथ्यमेष न सनातनोधर्मः ।

प्रथम — सत्यमेतत् । चैनैरपि परमस्माभि: सुरक्ष्यते सुदृढो मैत्री सम्बन्ध: ।

अपर: — वर्ततां नाम तत्तथा किन्तु सम्प्रत्यस्माभिरपि स्थेयमेव सर्वथा सतर्कै. देशकालानुकूलैवानुसरणीया च पर-राष्ट्रनीति । त्रिवृत्ते घटितेयं घटना नास्ते काचन सामान्या घटना ।

तृतीय. — क्षम्यो मदीयो वचनान्तराय । मम मते-किन्तु

साम्प्रतं भारते नास्मिन् शासका: क्षात्ररक्षका.
आजिनाम्नापि भीताना नैषा नीतिः स्थिरा क्वचित् ।।७।।

नेमेऽश्वमेधविधायिना विजिगीषूणा प्राक्तनानामार्याणां सरणी कश्चिदनुसरन्ति अतोहि यदि कदाचिदस्य त्रिव्रतप्रश्नस्य भवेत् किञ्चित् समाधान तर्हि तत्तु विहाय राष्ट्रसंघं नान्यत्र क्वचिद् दृश्यते सुसमाधेयम्।

प्रथम: — श्रीमन् कृपया वुद्धौगरणमन्वेष्टव्यम्। किं न वेत्सि ?

भाषणानाञ्च विवादाना व्यर्थै. कोलाहलैर्वृते
राष्ट्रसंघे हि विश्वास: कथ कस्यापि जायताम् ॥८॥

आनन्दः — (अपवार्य–शक्तिरक्षितम्) कृपया भवतेह स्थेयं केवलं मौनेन (समुपसृत्य च तत:)

सुहृद्वरा: ? नैव सर्वथा नैराश्यमग्नैर्भवद्भिर्भाव्यम्।

त्रैव्रता न स्थास्यन्ति चिर परायत्ता:। महामात्ये रामेऽत्र समायातेऽपि तत्र–स्थिता: क्षेत्रपाला: सन्ति निरन्तरं सघर्षनिरता। राष्ट्रसंघञ्चास्ते विश्वसंघ:—

विश्ववाणी विभोर्वाणी अमोघा सा स्वभावत:
साधिनी सर्वसाध्याना खण्डितैश्चेन्न खण्ड्यते ॥९॥

विश्वदौर्भाग्यादद्य वैकल्येन ग्रस्तायामप्यस्या वाण्या नेयं स्थाता सदैव विकला। पराकाष्ठामधिगतेऽत्या-चारे भीम गर्जन्त्येषा क्षणेनैव विधत्ते निखिलानप्या-ततायिनोऽध: पतितान्। प्राक्तनी भारतीया क्षात्र-शक्तिश्च पुरा यावत् केवल क्षत्रियेषु एव देदीप्यमाना आसीत् —

जनतन्त्रेऽद्य सा शक्ति समुद्भूता जने जने
शक्तिरेषा प्रबुद्धाहि किं न कर्तुम्प्रकल्पते ॥१०॥

अपिच—

जनतन्त्रे जनाः पूर्वं सेव्याः शासक शासकाः
समर्थनमृते येषा शासका पङ्गवोऽखिला ॥११॥

तस्मात् पदे पदे सर्वदा परमुखेक्षणवृत्तिम्परित्यज्य यदस्माभिर्विधेय तत्सुविधेयम्—

किं न साधयितु शक्यमेकेनापि दृढात्मना
यच्चापि यत्र दौर्बल्य तदस्माभि निरस्यताम् ॥१२॥

अस्माभिर्निरर्थकं स्वराष्ट्रशासनालोचनम्परिहाय प्रतिनगरम्प्रतिग्रामञ्च त्रैविष्टपाना स्वातन्त्र्यायाद्य प्रवर्धनीय समुत्साह—

व्यक्तौ व्यक्तौ भवति निहिता संहति जातिधर्मात्
भावस्यांशो दृढगतिमितो जायते ब्रह्मघोष ।
त्यक्त्वा तस्मात् स्वबलफलिते संशय वर्तमानम्
सद्योऽस्माभि – नियतविषये भाव्यमग्रेसरद्भि. ॥१३॥

यात्रिण — महात्मन् सत्स्वपि श्रीमतामेषु वचनेषु सर्वथा सारसम्पन्नेषु दुष्करं कार्यमेतत् केवल साधारणाना जनाना समर्थनेनैव न भवेत् सुनिष्पन्नम् ।

आनन्द — एतदर्थं कृपलानी महोदयै श्रद्धेयैरन्यैर्लोकसभा–सदस्यैश्च मयाऽचिरेणैव स्थापयिष्यते स्वसम्पर्कः ।

यात्रिणः — सर्वथा सर्वै. सुसमर्थनीया श्रीमतामियं सुयोजना ।

(उत्थाय) अस्तु आगच्छत सम्प्रति शतविहायभोक्तव्यमिति भोजनमण्डप एव प्रसादप्रसन्नेन मनसा सर्वं सुविमृशाम । (प्रस्थिता सर्वे)

(स्नानादिभिर्निवृत्तः स्वमण्डपेचिन्तामग्नो दलपतिः)

रामः — (विचिन्त्य निःश्वस्य चात्मगतम्) हतविधे !

त्रिवृत्ते स्वाधीने जन – हृदयभावामृतझरी
स्वतन्त्रा सद्वाचां खलु विकसितायात्मलहरी ।
निरुद्धा सा कण्ठे दुरितहतकै रैभिरसुरैः
नहि स्पष्टं वक्तुम्प्रभवति न शान्तैव भवति ॥१४॥

(अत्रान्तर एव तत्र प्रविशन्ति केचन त्रैव्रताः)

रामः — अपि सुविहितं सर्वैं स्नानादिकं सर्वम् ?

त्रैव्रताः — मैत्रीसंघस्य सदस्यै मण्डलाधीशस्त्र पुरुषैश्च सुविहिते प्रबन्धे सर्वमेतन्निष्पन्नं सौकर्येण ।

रामः — नास्माभिश्चिरमिह स्थेयम् । आनन्दसहचरे शक्ति-रक्षितैऽत्र समायातेऽचिरेणैव मया श्रीमता नेहरू महोदयेन सह संस्थाप्य. स्वसम्पर्क. ।

त्रैव्रता — महामान्याः, श्रीमच्चरणानामनुग्रहेण निर्विघ्नमिह सम्प्राप्तेष्वप्यस्मासु त्रिवृत्ते स्थितानामस्माकं बन्धूना सम्प्रति भवेत् कीदृशी स्थितिरिति विचिन्त्य नितरा खिद्यन्ति नश्चेतासि। (उष्णमुच्छ्वस्य) स्वजन्मभूदर्शनं सम्प्रति जात स्वप्नदर्शनम् ।

राम — वरवीरा न भवत एवमधीराः । रक्षत विश्वासमेन सुदृढं सन्ततम् । नास्माक जन्मस्थली स्थास्यति चिर चैनै-र्दुरधिष्ठिता । पारम्परिकोऽयमस्माक चैनानाञ्च उच्चावच-यायी पारस्परिक ऐतिहासिको विद्वेष. । घनेन तमसाच्छन्नऽपि वर्तमानेऽस्माकम्प्रिये देशे—

न चिरं दुर्दिनाक्रान्त स्थाता भाग्यनभो हि न
भास्यत्येव — पुनर्भानु — र्नैर्मल्यम्पुनराप्स्यते ॥१५॥

त्रैव्रताः — महामान्या ! मान्यवराणामनुग्रहेण सर्वमेतत्सुसम्पत्स्यते इति दृढं विश्वस्ता अपि को नाम भवेदस्माक समुद्धारक. कियता कालेन वा सर्वमेतद्घटेत इति चिन्तयन्तो वयं क्षणमपि नाधिगच्छाम कथंचन काञ्चन शान्तिम् ।

राम — अहो दयनीयं मनोनैर्बल्यम् !!

नहि क्लान्तैरशान्तैश्च साध्ये सिद्धिरवाप्यते
समुत्साहे च साफल्यं स्वयं सिद्ध स्वभावत ॥१६॥

अपिच किं न जानीथ यूयम्—

परायत्तै क्वचित् स्थातुं क्षेत्रपालै* र्न शक्यते
क्षेत्रपालेषु जीवत्सु त्रैव्रत क्षेम शाश्वतम् ॥१७॥

अथच चैनी जनतापि न चिराय सहतां मायोरिदं निरंकुशं शासनम् ।

(अत्रान्तर एव घोटकादवतीर्य तत्रप्रविशति शक्तिरक्षित)

राम. — शक्तिरक्षित ! भवदागमनात्प्रागेवात्र समागतै राज्याधिकारिभि. सुनिष्पादितास्मदपेक्षिता सर्वा सविधा ।

शक्तिरक्षित. — महाभागा । आतिथ्योचितयाज्ञया सपर्यया सह अन्यदपि सर्वमस्मदपेक्षितमेभिर्भारतीयै र्बन्धुभिरवश्यं

* क्षेत्रपाल—खम्पा

सम्पादयिष्यते इति मदीयः सुदृढो विश्वासः ।

रामः — क्व वर्तते सम्प्रति भवत्सहचरो भिक्षुवर आनन्दः ?

शक्तिरक्षित — महामान्याः ! प्रातरद्य स प्रस्थित इन्द्रप्रस्थम् । त्रिव्रत्तस्योद्धाराय महती तस्य काचन योजना। असाधनस्यापि तस्य साधनानि च प्रतीयन्तेऽतर्क्याणि मादृशैः सामान्यैः जनैः । तथापि यथाहम्प्रत्येमि तस्य शुभैः प्रयासैः भारतसंसदि राष्ट्रसंघे च त्रैव्रतानामयम्प्रश्नोऽविलम्बेनैव भविष्यति सुविचारितः ।

रामः — कर्मठेन तेन विदग्धेन शक्यते सर्वं सुसम्पादयितुम् । अस्तु सर्वेऽपि भवन्त सम्प्रति गच्छन्तु स्वस्वशिविरम् सायम् पुनः सर्वैरेवास्माभिरत्र समवेत्य सुनिर्धारयिष्यतेऽस्माकमग्रेतनः सर्वोऽपि कार्यक्रमः ।

(सर्वे प्रस्थिताः स्वस्वशिविरम्)

(४)

(इन्द्रप्रस्थ-यायिनि रयलयाने समासीन आनन्दः)

आनन्दः (स्वगतम्)

न दृश्यते कश्चन निश्चितोऽध्वा
नचापि कश्चित् पथदर्शको मे ।
तथापि लक्ष्यं मम निश्चितं यत्
नान्तर्हितं तन्नच हीयमानम् ॥१८॥

दुर्बलबलाधायिनी मातरं मतिशक्तिमतिरिच्य न वर्तते मदीयः कश्चनान्यः सुव्यवस्थितः समाश्रयः । नूनं

भारतेऽद्य सर्वमपिकर्तुमकर्तुञ्च समर्थः श्री नेहरू महोदयोऽत्र भवितुमर्हति सर्वार्थसायकः (क्षणं विरम्य) नासौ किन्तु क्षणेनैव परित्यजेच्चीनमैत्री न च तद्-दृशि विद्यते मदीया काचन सत्ता। (अत्रान्तर एव स्थितिस्थाने स्थिते वाष्पयाने ततोऽवतीर्य बौद्धविहार-मुपगम्य दूरभाषकेण ततोऽचलेन विहारिणा सूचिते समये तत् सदन गच्छति)

(अचलसदने)

अचल — स्वागतं भो आनन्दभिक्षो! स्वागतम्। कुनीतिग्रस्तै-र्मतुङ्गचैनै सन्त्रासितानां त्रैव्रतानां स्वागतमाचरद्भि-र्भवद्भि साधु संरक्षितोऽद्य भारतीयानाम्परम्परागत आतिथेयो धर्मः। स्वराष्ट्र स्वातन्त्र्यसंरक्षणाय प्रति-क्षणं जागरुका इमे त्रैविस्टपाः सन्ति सर्वेषामेव सद्राष्ट्राणां हृदयेनाभिनन्दनीयाः सम्माननीयाश्च।

सति राष्ट्रे परायत्ते परायत्ता समुन्नतिः
स्वायत्ते च निजायत्ता स्वराष्ट्रस्याखिला गति. ॥१९॥

ध्वस्ते राष्ट्रे च सर्वेऽपि ध्वस्ता एव न संशयः
मानवीये समाजेऽस्मिन् राष्ट्रमूलं हि जीवनम् ॥२०॥

भारतेऽच त्रिवृत्ते च न भेदः कोऽपि भूतले
अस्माकम्पूर्वजैरेव स्वशक्त्येतेविकासिते ॥२१॥

गौरवेऽस्य सति क्षीणे क्षीणं भारतगौरवम्
हिमालयस्य ये देशा सहजास्ते स्वबान्धवाः ॥२२॥

तेषां सम्मानरक्षार्थं प्रयतमानेन भवता रक्ष्यते भारतस्यैव सम्मानमिति वर्तसे सर्वेषामस्माकं

साधुवादार्हः ।

आनन्दः — अनुगृहीतोऽस्मि श्रीमतामेभि-र्नवप्राणप्रदै-र्वचनैः ।

यदि भवेदखिलै—र्भरतानुगै
रनुसृतैय महोसरणी शुभा ।
नहि खलै. प्रसभं भुवि कस्यचिद्
गतभयै क्रियता हि गलग्रहः ॥२३॥

पर सखेदमिदमद्यानुभूयते मया यत् पर राष्ट्रनीति-निर्धारणे न वयं वर्तामहे सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः ।

अचल· — वर्तमानमेतत्केषाञ्चिन्मानसिक कार्यं न तेष्वपि स्था-स्यति चिरमिति रक्ष पूर्णम् विश्वासम् ।

आनन्द· —

क्षणे मित्रं क्षणे शत्रुर्यैयैः कश्चिद् विधीयते
कथं कस्यापि विश्वास· तेषु नेतृषु वर्धताम् ॥२४॥

प्रतिक्षणं विश्वासघातमाचरद्भिः सैन्यबलमदान्धैश्चैनै. सह सख्यं, सनातनैः सुहृद्वरै स्तापहरैश्च तेपेह वासिभि. वैमनस्य पालयद्भिरेभि र्महापुरुषैः कीदृशीयमद्य परराष्ट्रनीति समनुस्त्रियते इति न मे मतिमारोहति । (सावज्ञम्) अन्यथा र्वटितेऽस्मिन् त्रैव्रते व्यतिकरे सद्य एव समुच्छेद्येयमासीत् चैनी मैत्री ।

नोपस्थितस्यैव नये विचार. न शत्रुताया न च मित्रताया
क्षणे क्षणे तस्य नवैव रीति त्रिकालमत्येत्यथवास्य वृत्तिः ॥२५॥

अचल. — प्रियबन्धो ! स्थाने सत्यपि भवदीयेऽस्मिन् आक्रोशे क्षणे क्षणे परिवर्तमानेयं राजनीतिरपि नित्यं प्रतीक्षते

योग्यमेवसरम्—

अवाप्तौ लक्ष्याणां भवति समयः शुद्धघटकः
विना यस्यालम्ब नहि किमपि लोके सुघटते ।
परीक्षन्ते तस्मात् स्थितिपरिणतिं नीतिनिपुणाः
विपाकात् प्राक् छिन्नं भवति न फलं चारुमधुरम् ॥२६॥

एवं सति मान्येन चाङ्गेन[1] परिपोष्यमाणेऽपि मैत्री-सम्बन्धे नहि माथुनापि[2] सन्ति सुस्पष्टमस्माभिः सर्वविधा अस्मत् सम्बन्धा क्षणेनैव विच्छेद्या —

आनन्दः — मदीयोऽयम्प्रश्न किन्तु न सहते क्षणिकमपि कंचन घातक विलम्बम् ।

साध्यानां श्वोविधेयानां सिद्धिरद्यैव शोभते
को जानाति क्षणेऽन्यस्मिन् विधेय किं भवेन्नवम् ॥२७॥

अचलः — (आत्मगतम्) नूनं नैव्रतोऽयम्प्रश्नो तत्र चैनेषु बद्ध-मूलेषु न भवेत्पुन. सुसमाहितुं सुकर· । (प्रकाशम्) अस्तु भिक्षुवरा ! कार्यमेतन् सुसम्पादयितु सर्वप्रथम-मस्माभिरपेक्ष्यते सर्वेषामेव विज्ञाना नयज्ञाना सक्रियः पूर्णः सहयोगः—

सर्वे सम्भूय सद्रीत्या यद्यल्लोके विधीयते
तस्य सिद्धिः स्वय सिद्धा पार्थक्यं सिद्धि-घातकम् ॥२८॥

आनन्द — श्रीमन्त ! सुनिर्धारितपूर्वं सर्वमेतत् । विकल्पस्तु केवल श्री नेहरू महोदय· । सर्वप्रथम स मया द्रष्टव्य.

---

१ चाङ्गकाइशेक

२ माओ

उत कृपलानी प्रभृतयोऽन्ये महानुभावा अत्र मान्या-नामपेक्ष्यते निश्चितमुत्तरम् ।

अचलः — (विमृश्य) मन्मतेऽन्येषा नेतृणा दर्शनापेक्षया सर्वत. प्राक् भवता यथा तथा श्री नेहरू दर्शनायैव विधेयः सत्प्रयत्नोऽन्यथास्माभिः सगतस्य भवतः स न शृणु-यात् काचन वार्ताम् ।

आनन्दः — अहो महान् विक्षेपः । तथाप्यवगतो मया श्रीमताम-भिप्राय. । सम्प्रत्यहं पूज्येन श्रीदलपति महोदयेनैव स्वसम्पर्कं स्थापयितुं पुरा प्रयतिष्ये (उत्थाय धन्य-वादाश्च सुसमर्प्यबलेन सह बहिरागच्छन्ति ।

इति श्री देवीप्रसादात्मज विद्याधर शास्त्रि विरचिते दुर्बलबले प्रथमोऽङ्कः ।



अथ द्वितीयोऽङ्कः

(१)

यवसे त्रैव्रते स्थले प्रत्यूषसि तत्र तत्र. परिभ्रमति देवदत्तेऽजापले प्रविशत्यपरतोऽपरो यज्ञदत्तोऽजापाल)

यज्ञदत्तः — (देवदत्तमुपसृत्य) अरे प्रातरेवाद्य किमितस्ततो भ्रान्त इव निर्लक्ष्यमाहिण्डसे ।

देवदत्त. — नाहं भ्रान्तो नवाहमटामि निर्लक्ष्यमपितु दुर्दैव–हृतकेन हृतस्तमेवाक्रोशन् विचरामि साम्प्रतमितस्तत. ।

यज्ञदत्तः — अरे कीदृशमिद ते दुर्दैवम् । कुतोवैतदापतित सहसा ।

देवदत्त. — न जाने कथ कुतो वेदमापतितं, परं नृशस – मति नृशसमिद मे दुर्दैवम् । न केवलम् एका, द्वे वा तिस्र अपितु अव्यर्वं न जाने क विलीनोऽद्य मे सम–स्तोऽप्ययमजैडक–संघ. ।

यज्ञदत्त. — गते दिवसे शुङ्गेनापि न लब्ध स्वीयो मेष· । यथा तथा तमाश्वास्य यावदिहागच्छामि तावदिहापि वर्तते सैव वार्ता । किन्तु नेय काचन प्रायिकी वार्ता । नहि वृकादिभि–र्युगपदेव व्यर्थमेवं व्यापाद्यतेऽखिलोऽप्यजैडक वर्ग. ।

देवदत्त· — मदीये मतेऽपि न ते व्यापादिता केनचित् हिंस्रेण प्राणिना । क्षुधाशान्ति–हेतुमृते नूनमेभि व्यर्थ न हृ–न्यन्ते केचित् प्राणिन. ।

(अत्रान्तर एव नेपथ्ये श्रूयते डिडिमघोषपुर· – सरम् क्रियमाणैषा घोषणा)

"सर्वैरेव त्रैग्रतैर्बन्धुभि सावधान श्रूयतामसौ नवतमः सम्वाद· । प्रदेशेऽस्मिन् अग्रेसरद्भिश्चैनैर्हृतकै रपहृयते ऽस्माकं पशुधन समुत्साद्यन्ते च सस्य क्षेत्राणि । सर्वे सम्भूय सुविधीयतामाशु स्वरक्षायत्न· सस्थाप्यता चा विलम्बेन सुपरिचितेन स्वबन्धुना स्वसम्पर्क ।"

देवदत्त — श्रुत्वा सकरुणम्

नापहृतास्तैः पशवः हृतं जीवनमखिलं मद्गेहस्य
किं कुर्मः क यामः केषामग्रे रुदिमोऽधुना ॥१॥

यज्ञदत्तः — अरे साम्प्रतमलं व्यर्थेन अनेन ते करुणाक्रन्दनेन । गच्छ पल्लीम् । अहमपि शुंग दस्युभ्योऽतन्द्रं विधाय अचिरेणैव त्वया सह संकेतितं जनस्थानमुपयास्यामि ।

(उभौ प्रस्थितौ)

(२)

(यज्ञदत्तो यावत् शुङ्ग–क्षेत्रमुपैति तावदेवतत्र प्रविशन्ति पञ्चषाः चैनाः सैनिका आरभन्ते च तत्क्षेत्र रेखाङ्कित कर्तुम्)

शुङ्गः — (सवैलक्ष्यं तानुपगम्य) कीदृशीयं रेखा किञ्चास्याः प्रयोजनम्;

सैनिकाः — सैनिकेऽस्मिन् क्षेत्रेऽयमङ्कयते लद्दाखमार्गः ।

शुङ्गः — सैनिके कीदृशे सैनिके, क्षेत्रमिद मदीयम् । अङ्गुष्ठमात्रेऽप्यस्य भूखण्डे निर्मिते लद्दाखमार्गे कावशिष्येत कृषियोग्य कश्चन क्षेत्रांशः ।

सैनिकाः — यथावशिष्येत तत्तथावशिष्यताम्, स्वयं वयं च युस्मभ्य कुडव कुड़वं धान्याना दास्यामः । सम्प्रतिरेखाङ्कितेऽस्मिन् स्थले यत्र यद् विषमं तत् समीक्रियतामनति चिरेण ।

शुङ्गः — (सोद्वेगम्) कथ स्वहस्तेनैव स्वकण्ठमह छिन्द्याम् मयि जीवति नेह केनापि निर्मीयता कश्चन मार्ग ।

सैनिका. — (विहस्य) अरे किं ब्रूषे, (आग्नेयास्त्रम्प्रदर्शयन्) आरभस्व स्वकार्यम् ।

यज्ञदत्त. — (स्वगतम्) खलानामेषामादेशपालनमतिरिच्य नवर्तते-ऽधुना जीवनस्य कश्चन अन्यः समुपायः (अपवार्य शुंगम्) तिष्ठ तूष्णीम् (प्रकाशम्) क्षम्यता क्षम्यता यावद्धि कर्तुम्पार्यता तावदवश्य करिष्यावः ।

सैनिका — नहि-नहि, यावदग्रेतनानि क्षेत्राणि रेखाङ्कितानि कृत्वा वयम्प्रत्यावर्तामहे तत. प्रागेव परिपूर्यताम्परि-पूरणीयम् । (आदिश्य प्रस्थिता अग्रे)

यज्ञदत्तश्च हस्तेन शुंग-माकृष्यारभते प्रस्तरादीनाम-पसारणम् ।

यज्ञदत्त' — (शुंगमुद्दिश्य) धारय धैर्यम् । अचिरेणैव सर्वं सम्प-त्स्यते सुसम्पन्नम् ।

शुंग — (सनिर्वेदम्)

हतविधे किमिद, वत दर्शितम्
निज-गृहेऽपि वय यदि दासवत् ।
प्रतिपदं खलहुंकृति-भीषिता.
नहि मृता नहि वा वत जीविताः ॥२॥

यज्ञदत्त — अरे धारय धैर्यम् । प्रयातेष्वेतेषु एतत् शिखरपर-वर्तिनि क्षेत्रे वयमपि यत्र गन्तव्य तत्र गमिष्याम ।

(पर्वताग्रम्पश्यन्तौ क्षण विरम्य निष्क्रान्तौ)

(३)

(तत. प्रविशति कतिपया-स्त्रैव्रतान्तरुणान् साधुवा-देनाभिनन्दन् भिक्षुणा काश्यपेनान्वितः क्षेत्रपालः तिष्यरक्षित·)

तिष्यरक्षितः — वधुवरा., एकपद एव मध्येमार्गं निखिलानपि पशुमोषिणो बर्बरान् चैनान् निहत्य नि.शेषमजैडकवर्गं च सकुशलमादाय प्रतिनिवृत्ता यूयं नहि न स्थः केषा नाम त्रैव्रतानामभिनन्दनीयाः । अद्वितीयेन वो वीरोचितेनानेन स्पृहणीयेन स्तुत्येन च कर्मणाऽरयोऽपि सदैव स्थास्यन्ति भृशं भयभीताः प्रकम्पमानाश्च ।

वसुरक्षितः — श्रीमन्त·, श्रीमन्निर्दिष्टात् स्थलादकस्मादेव पृष्ठतो निपतद्भि-रस्माभि - र्युगपदेव सकृत्कृतेनासिप्रहारेण सम्प्रापितास्ते नि शब्द यमसदनम् ।

तिष्यरक्षितः — सुहृद्वराः, इदमेव युष्माकं हस्तकौशलं वर्ततेऽस्मा-कम्प्रधानं सम्बलम् । अस्तु, सम्प्रति क्षण विश्रम्य गच्छत पुन र्निर्दिष्टेषु तेषु तेषु स्थानेषु सत्वरम् । द्रष्टव्यश्चाह पुन-रत्रैव ब्राह्मे मुहूर्ते । अथच—

सद्य कार्यानुरोधश्चैतत्, नम्यता वज्रभैरव ।

तरुणा· — गृहीत आदेश, सकेतश्च । (प्रणम्य प्रतिष्ठन्ते)

काश्यप· — (तिष्यरक्षित हस्तेनाभिस्पृशन्) चिरजीव्या·, विद्यमाने त्वयि विद्यमानमेव त्रैव्रत स्वातन्त्र्यम् ।

तिष्यरक्षित — अस्तु भदन्त, किमन्यत् सूचित भिक्षुवरेणानन्देन । अपि सर्वथा स्वस्था· पूज्यपादा श्रीदलपति-महोदया

अन्येचास्मदीयाः सर्वेऽपि प्रिया बाधवा. ।

काश्यपः — स्वस्था· सर्वथा स्वस्था· । पूज्यप्रवरै र्दलपति-चरणैः सर्वेभ्योऽपि युष्मभ्यम् पावनायास्मै स्वातन्त्र्यसंघर्षाय साधुवाद पुरस्सर सम्प्रेषित एष शुभ. सन्देश ।

तिष्यरक्षितः — अनुगृहीताः स्मः ।

(काश्यप पुस्तकमनावृत्य पत्रमादाय श्रावयति)

यूयहि धन्या निजराष्ट्ररक्षा—
धृतव्रतास्त्रिव्रत – वीरवर्या· ।
जीवत्सु युष्मासु न कोऽपि दस्युः
स्थातुं क्षम त्रिव्रतभूमिभागे ॥३॥

वयं हि दूरे निजराष्ट्रवार्ता-प्रतिस्वनेनापि न संगताः स्मः
व्यालस्य चैनस्य खलस्य यूय दंष्ट्रागतास्तेन मुखेच रुद्धा. ॥४॥

विदार्य दुष्टस्य मुख स्वकीलै
स्तिष्ठन्तु नित्य समवेत्य सर्वे ।
नून सदाव्यात् भवतो हि सर्वान्
तथागत पाशविमोक्षदक्ष ॥५॥

विधीयतेऽस्माभिरपीह तत्तत् प्रवासिभि-र्कर्तुं मिह क्षमं यत्
प्रयत्यते चानिश – मेतदर्थं यथा भवद्भि. समितिर्भवेन्न ॥६॥

सन्देशमाकर्ण्य गद्गदस्तिष्यरक्षितो भिक्षुमभिवाद्य तमनुसरन् प्रयाति वज्रभैरव-मन्दिरम् ।

(४)

(तत प्रविशत्येकेन सीमा सेनानायकेनान्वित त्रिव्र-तस्य प्रधानश्चैन. सेनाध्यक्ष)

सेनाध्यक्षः — (सेनानायकमुद्दिश्य) अपि पूर्णो लद्दाखमार्गः, क्वेदानी युष्माक मुख्य· शिविरावास. ।

सेनानायकः — श्रीमन्, महता प्रत्यूहेन पदे-पदे वाधितानामस्माकं मार्ग-प्रगते-वंर्तमान वृत्त नास्ति किंचन सतोषावह वृत्तम् ।

सेनाध्यक्ष. — प्रत्यूह ! कीदृश प्रत्यूह· !!

सेनानायक — सुसंगठितैः क्षेत्रपालैः प्रायः प्रत्यह एवाकस्मादाक्राम्य-न्तेऽस्मत्सैनिकाः क्रियते च कृतं सर्वमकृतम् ।

सेनाध्यक्षः — (सरोपम्) अविश्वास्यं लज्जास्पदश्च तत् सर्वं वृत्तम् ।

सेनानायक. — (नतमुख) मान्या·, अविश्वास्यं सर्वथा लज्जास्पदं च नूनमेतन्मे वचनम्, परमीदृश्येव साम्प्रतिकी तत्रत्या वस्तुस्थिति. ।

सेनाध्यक्षः — (उत्थाय सव्यग्रम्) वस्तुस्थिति·, कीदृशी वस्तुस्थिति । कथं च केवल मजैडकवर्ग-केशकर्तननिपुणैः कैश्चन ग्राम्यैः प्रत्यवस्थातु शक्या अस्माकं दुर्दान्ता सैनिका. ।

सेनानायक· — मान्यवरा पुरा मन्मतेऽपि ते तथैवासन् केवलं भार-वाहका केचन लामादासा परमिदानी सुसगठिताना केनचिद् विचक्षणेन सेनानायकेन च संचालिताना तेषा-म्पुरतो लघुपुल्लेषु नियुक्तानामस्मत्-सैनिकाना नास्ते काचन सुदृढा सस्थिति ।

सेनाध्यक्ष — (पुन· सरोपम्) अहो परम शोच्यमिदं युष्माकं कात-र्यम् । परिस्थितावस्यां किं न सहस्रश सैनिकान्

सम्प्रेष्य सद्य एव विध्वस्ता भवता युगपत्सर्वेऽपि मार्गोपान्तवर्तिन स्त्रैव्रतावासा ।

सेनानायक. — मान्या· सर्वथा जनसंचार विरहिणि निर्जने निर्जले चास्मिन् विषमे प्रदेशे न सुकरं युगपदेव बृहतां सैन्यानां संचालनम् । नवात्र भवति क्वचन काचन खाद्य-सामग्री सुलभा यत्र चैषा संगृह्यते तत एव सापनीयते त्रैव्रतैरेभि काकैः ।

सेनाध्यक्षः — अहोगण्डोपरि युष्मत्कृतोऽयमपरो विस्फोट ।

सेनानायकः — अक्षम्योऽपराध परमितोऽपि परा परिशोच्या परिस्थितिरेषा । व्यतिकरेऽस्मिन् प्रतिक्षणम्प्रवर्धमानेऽस्मत् सैनिकानामसन्तोषे किंकर्तव्यविमूढा वय न जानीमहे किमत्र प्रतिविधेयम् ।

(अत्रान्तर एव अंगरक्षक· प्रविश्य सेनाध्यक्ष-हस्तेऽर्पयति विशिष्टम्पत्रमेकम्)

सेनाध्यक्षः — (पत्रमनुशीलयन् आत्मगतम्) अहो केन्द्रस्थैः प्रभुभिः प्रतिदिनम्प्रेषिता इमे नवा-नवा आदेशा.—

निर्देश.सुकरो लोके पालन दुष्करं महत् ।
व्यत्येति यद्यथा यस्मिन् तत्तेनैवानुभूयते ।।७।।

(प्रकाशम्) अस्तु सेनापते, समस्येयं नूनमास्ते परमा-विषमा । परं मार्गस्तु यथातथा निर्मेय एव प्रागस्मात् सप्ताहान्तात् । असन्तुष्टान् सैनिकान् श्रीक्रम-सीम्नि सम्प्रेष्य नियुज्यता नवा सैनिका अविगणय्य च पुनर्हताहताना काचन संख्या यत् साध्य तत् साध्यतामविलम्बेन अहमपि स्वय तत्रागत्य यद्विधेयं

तद् विधास्यामि ।

(अभिवाद्य सेनानायकः प्रयाति सेनाध्यक्षश्चान्त र्गृहम्प्रविशति)

(५)

(शालिकूट-शिविरे पाकराष्ट्रपतिः आयूबः)

आयूबः — (स्वगतम्) जातेऽपि दिनकरे मन्दातपे नाद्युनाऽपि-प्रशान्त आतपतापः । अनतिदूरे स्वच्छन्दम्प्रवहन्त्या स्तापत्या विशाले पुलिने च रसियामरीकाभ्या-मुभाभ्यामेव विश्वस्य विशालाभ्यां राष्ट्राभ्या सुदृढीकृतेऽपि मैत्रीसम्बन्धे नाद्यापि जातमस्मद्-विहरणं सुकरम् ।

(प्रविश्य वैयक्तिकः सचिवः)

सचिवः — स्वामिवर्याः, मान्यानामादेशमनुपालयन्तः समुपस्थिताः परराष्ट्रमन्त्रिणो भुट्टोमहाभागा ।

आयूबः — सादर सुप्रवेश्याः । (प्रविष्टे परराष्ट्र-मन्त्रिणि) ।

आयूबः — मन्ये नानुभूताऽद्य भवता कापि विशिष्टातप-ताप-क्लान्तिः ।

भुट्टोः — सैंधवेन मया नानुभूयते ईदृशः कश्चनातपतापः अ एव च मया पुनर्गन्तव्यो हैदरावादः ।

आयूबः — अपि स्थिरीकृतो भवता परराष्ट्र यात्रा कार्यक्रमः ?

भुट्टोः — आगामिनि सप्ताहे मलययवद्वीपादि यात्रानन्तरं जय पानं गन्तुमीहे ।

आयूब — शोभन. कार्यक्रम. सर्वेऽप्यमी देशा भारतम्प्रति प्रतीयन्ते विशेषेणाकृष्टाः ।

मुट्टो: — सर्वमेतदास्ते मया सुपरीक्ष्य सुसंस्कार्यञ्च। विषयमेनमधिकृत्य गते सप्ताहे मयाकारितास्तत्तद्राष्ट्राणां राजनयिका मत्कार्यालये तत्तद् वार्ता प्रसंगेन जिज्ञासिताश्च ते मया —

पाकै सति संघर्षे भारतजानाम्
पक्षो नु भवद्भि ग्राह्य कतरस्य ?
मौनेषु निशम्येदं तेषु नवाशा—
पूर्णागतिरासीन् चैनी न सतोषा ।।८।।

आयूब. — यौक्तिकं सर्वथा यौक्तिकमिदमाभाति ।

मुट्टो: — कीदृशोऽयं मान्याना तर्क. ?

आयूब — दलपतेर्भारत प्रवेशानन्तरं स्वाभाविकोऽय चैनानामसन्तोष ।

समा चेत् स्वार्थ ससिद्धि समं चेद् वैरकारणम्
स्वय सम्बर्धते मैत्री नयज्ञाना ध्रुव वच: ।।९।।

मुट्टो — एव चेन्मान्यै रादिश्यते तर्हि रसीयामरीकयो रन्यथा सभावनामविगणय्यापि प्रयते चैनान् प्रस्थातुम् ।

आयूब — भवानेवात्र प्रमाणम् ।

मुट्टो. — अनुगृहीतोऽस्मि ।

आयूब. — नचाद्यावधि रसीयैरामरिकैर्वा काश्मीर – समस्या समाधानाय प्रदत्तोऽस्मभ्यं कश्चन वास्तविक सक्रिय

सहयोगः।

भुट्टोः — महानुभाव, यथार्थन्त्वेतत् उभेऽपीमे राष्ट्रेऽस्मदर्थ-साधनापेक्षया स्वार्थं साधनायैव वर्तेतेऽस्माकं कृत्रिमे मित्रे।

आयूवः — अत एव च किञ्चिदित किञ्चिच्च ततो निक्षिपद्भि-रेभि यथास्माकं तथैव हिन्दुस्थानीयानां समक्षेऽपि नाट्यते द्विरंग नाट्यम्।

भुट्टोः — तर्हि प्रेक्ष्यतां जगत्यास्माकमपि किञ्चिन्नवं त्रिरंगं नाटयम्।

आयूवः — विभासिता चात्रैव भुट्टोवैशिष्ट्यम्। अस्तु सम्प्रत्यप-नीयतां शीतलेन सेवतीशार्करेण निजातपक्लान्ति (शार्करं निपीय उभौ यथा स्थानम्प्रस्थितौ)

(६)

(सारनाथीय विश्ववौद्ध-सम्मेलन संयोजयन् भिक्षु-रानन्दः)

आनन्दः — महाभागाः, नून धर्म-चक्रस्येय गति परमा विल-क्षणा सर्वथैवाविज्ञेया च मादृशै कैश्चन नितरा मविवेक ग्रस्तै सामान्यै-र्मानवैः। अन्यथा क नाम द्विसहस्राब्दिके महोत्सवे पारिता लोकोपकारिण स्तेऽस्माकं पावना प्रस्तावा क्वाद्यतनीयं दयनीया श्चैव्रती दुष्परिस्थितिः। असामयिकी किन्तु साम्प्रतं तेषाम्प्रस्तावाना पुनरावृत्ति। अद्यत्वे यत्सर्वतोऽधिकं विमृश्यं तदेतदेव—

राष्ट्रेषु यत्राप्यवशिष्यते यत्
धर्मस्य किञ्चिद्द्युतिमत्स्वरूपम् ।
मार-प्रहारै-र्विषमै र्यथा तत्
सुरक्षित स्यात् तदिहाद्य चिन्त्यम् ॥१०॥

इदमुद्दिश्य मान्यानामध्यक्ष महोदयानामादेशेन सम्प्रति सर्वं प्रथमं समभ्यर्थ्यन्ते जयपानीया श्रद्धेया सुजुकि-महोदया कृतार्थयितु - मेना समिर्ति पथ - निर्देशकै स्पष्टम् परिस्थिति समालोचकै स्वविचारै ।

सुजुकि — धर्मप्राणा सभासद, सुविदितमिदं तत्र भवता सर्वेषाम् यत् —

राष्ट्रे-राष्ट्रे प्रसरति भृशं हन्त मिथ्याप्रयोगे
गेहे-गेहे महति कलहे वर्धमाने च घोरे ।
हिंसावृत्ती वचसि मनसि व्यापकत्व गतायाम्
बौद्धोधर्म प्रभवति नहि क्वापि गोप्तु स्वलक्ष्यम् ॥११॥

अस्य लक्ष्यस्य सरक्षणाय यच्चास्माभि कश्चिन् किञ्चिद् निर्धार्यते वा तस्याखिलस्य समूलमुच्छेदनायाधुनिका दार्शनिका राष्ट्रनायकाश्च सन्ति प्राय. सर्वत्रैव परिकर-बद्धा । एतेषामस्य दुष्प्रयासस्यैव चाय दुष्परिणामो—

चैने राष्ट्रे प्रतिगृहमहो निन्द्यते बुद्ध-धर्म.
मायो-मूर्ति प्रतिपदमथाभ्यर्च्यते बुद्धबुद्धया ।
ग्रथश्चैको भवति सुलभस्तत्र नाचारमूल
छिन्ना भिन्ना अथच विहिता धमभावा समस्ता ॥१२॥

चैनीमेना दुर्गता बौद्ध धर्मस्थितिमतिरिच्य त्रिव्रतेऽद्य यद्यथा घटितं यथा च महामान्या दलपतयो भारत-मायातास्तन्नापेक्षते किंचन विशिष्टमाख्यानम् ।

ग्रतोऽयं व्यतिकर. किन्तु नास्ते कश्चन सामान्यो व्यतिक्रमः—

तत्राद्य घटमानं यत् परत्रापि घटेत तत्
श्रीकमे ब्रह्मदेशे च सद्यस्तज्जायतां स्फुटम् ॥१३॥

सर्वमिदम्प्रत्यक्षमालोक्य यदि नाद्यापि क्रियतेऽस्या. प्रतिक्षण विजृम्भमाणाया धर्मदुर्गतेः कश्चन तात्कालिकः प्रतिकारस्तर्हि शकेऽखिलमपि विश्वजीवन भवेदचिरेणैव परिशून्य निखिलै-र्मानवीयैः सुसस्कारैः ।

(भाषणान्तर सभाध्यक्षो व्यवस्थापयति)

सभाध्यक्ष — मान्यैः सुजुकिमहोदयैः सुविशद प्रदर्शिते दुःसाध्येऽस्मिन् साक्रामिके दुरामये, भाषणापेक्षयाऽस्योपचाराय सम्प्रति तत्तद् विषय विमर्श समितिषु समवेत्य मान्यैः सदस्यैः समुद्भावनीया कापि सा व्यावहारिकी सुयोजना, यामनुसृत्य धर्मप्राणा जना प्रयतेरन् स्वधर्मरक्षायै विरोधिनश्च भवेयुः सर्वथा निर्व्यापारा ।

सदस्याः — सर्वथाभिनन्दनीयो मननीयश्च मान्यानामयमादेश सुविहिते च धीरे गभीरे विमर्शे कश्चन सुमार्गोऽप्यस्माभिरवश्यमासादयिष्यते नात्र कश्चन सशयः ।

शस्त्रं मुख्यतमं लोके बुद्धिरेव न सशय
ग्रसाध्यान्यपि सिध्यन्ति प्रयोगाद्यस्य तत्क्षणम् ॥१४॥

(सर्वसम्मत्या स्वीकृते प्रस्तावे जाते च मध्यावकाशे यथारुचि केचिद् बहिर्गच्छन्ति केचिच्च तत्रैव तिष्ठन्ति)

(७)

मातुङ्ग — सदनस्थेऽतिथिस्वागत-कक्षे समासीनश्च्यवनः (प्रविश्यमातुङ्गपत्नी चार्वङ्गी)

चार्वङ्गी — (च्यवनमुद्दिश्य) । कृपया नावचेयं मातुङ्गकृतेऽस्मिन् समयातिक्रमे रात्रौ निद्रादोषात्सर्वेऽप्यद्यतना· प्रातः कालीना. कार्यक्रमाः सञ्जाता सर्वथा कालातिपात-ग्रस्ता ।

च्यवन — (स्वागताय ससंभ्रममुत्थाय) महाभागे ! यदि अस्वस्थास्तर्हि अपराण्हे ततः प्राग् वा निर्दिष्टे समये पुनरागच्छेयम् ।

चार्वङ्गी .— नहि, नहि तादृशा कश्चन चिन्त्य. अवसर । स्वस्थैरपि राजधुरंधरै किन्तु स्थीयतेऽस्वस्थैरेव प्रायशः ।

च्यवन — सत्य महाभागे ! सर्वथा सत्यम् । राजनयाक्रान्ता· स्वभावत· भवन्ति सदैव संशयामयग्रस्ताः ।

दृश्यन्ते शत्रवो व्याप्ता जगत्या यै पदे पदे
मित्रेष्वपि न. विश्वास क्षण यैश्च विधीयते ॥१५॥

शत्रुदर्शनरोगेण व्याकुलैस्तै – रहर्निशम्
कथं काचित्मनः शान्ति क्षण चाप्यनुभूयताम् ॥१६॥

परं मातुङ्ग महोदयानामनुग्रहेण नास्माकं दले वैमत्याय वर्तते कश्चन स्वल्पोऽप्यवकाश ।

चार्वङ्गी — भवतु न वा भवतु तदर्थं युष्माक दले कश्चन स्वल्पोऽप्यवकाश परमस्मन्महानायक. स्वचिन्तन-विपरीत स्तोकमपि न सहते कस्यचन विचारस्वातन्त्र्यम् ।

(अत्रान्तर एव शनैःशनैश्चलतोऽपि दीर्घं निःश्वसतो निशम्यते मायोः पादध्वनिः)

चार्वङ्गी — समायाता मातुङ्गमहोदया । विस्रब्ध सम्प्रति सुविधीयता स्वविचार – विमर्शः (इत्युक्त्वा यावत् जिगमिषति तावदेव प्रविश्य मातुङ्ग)

मातुङ्ग — अहो क गम्यते श्रीमत्या युष्मत्परामर्शंमृते कथं स्यादस्माक कश्चन निर्णय. सर्वथा गतसशयः ।

च्यवन — (स्वगतम्) अहो सर्वथा दुःसहमिद मातुङ्गदारपारवश्यम् । अनेकशोऽनया विधीयतेऽस्मन्–कृतम–कृतम् ।

(प्रकाशम्) नून तत्रभवतीनामुपस्थिति–र्भवति सदैव सद्य फलदात्री ।

(देव्यामुपविष्टायाम्)

मातुङ्ग — अस्तु महामन्त्रिन् पाकस्थस्यास्मद्–राजदूतस्य सूचनानुसारं पाकस्थानमद्यत्वे भारतमधरीकर्तुं भृश समीहते चैनी सन्मैत्रीम ।

च्यवन — क्षणे क्षणे यथावसर सम्बन्ध स्थापयतामुच्चाटयता चैषा मैत्री यद्यपि नार्हति कञ्चन दृढ विश्वास तथाप्यस्मत् – साध्यसंसिद्ध्यै स्वयमस्माभिरपि सुविधेय एवास्य शुभावसरस्य तदुपयोगः ।

चार्वङ्गी — शोभन. सर्वथा सुशोभन श्रीमतामेष प्रस्ताव । भारतं यथास्थान संरक्षितु पाकमैत्री भवेत् सदैव समपेक्षिता ।

च्यवनः — अहो अपरत्र श्रीमत्या सकेतः नून तदप्यास्ते सर्वथा दूरदर्शितापूर्ण स्वागतार्हश्च श्रीमत्या आकूतम्पर ततोऽपि प्राग् सुविच्छेदनीया एवास्माभि आमरीकाणा सर्वेऽपि ते ते जम्बूद्वीप – वर्तिनो राजनयिकाः सम्बन्धा. ।

चार्वङ्गी: — क्रियतां तदपि क्रियता यथावसरं परमधुना भारते दलपति–प्रवेशानन्तर भारतमुद्दिश्य सदैव स्थेयम–स्माभि सतर्कै. ।

(अत्रान्तर एव द्वारपाल प्रविश्य समर्पयति तड्डित्स–न्देशवाहक–मेकम्परमावश्यकम्पत्रम्)

चार्वङ्गी. — (मौनं पठित्वा मातुङ्गहस्ते पत्रमर्पयन्ती) त्रैव्रतस्य सेनाध्यक्षस्याय सन्देश । क्षेत्रपालाना शक्तिसक्षयाय सेनाध्यक्षो भारतीये सीमाक्षेत्रे स्वसैनिकानाम्प्रवेश–मनुते सद्य एव परमम् समपेक्षितम् ।

मातुङ्गः — अहो गुर्वर्थोऽय सन्देश (च्यवनमभिलक्ष्य) अस्तु महामन्त्रिन् कृपया रक्षामन्त्रिणा सह मध्यान्हेऽनु–गृण्हातु भवान् चार्वङ्गया भोजनशालाम् ।

(तत उष्णपेयानन्तरं सर्वे समुत्थाय प्रस्थिता यथा–स्थानम्)

(८)

(चतुर्थे त्रैव्रते प्रतिज्ञादिवसे सर्वानपि नैजानुयायिन. सम्प्रेरयन् राम)

रामोदलपति — सद्बान्धवा., अयमद्य स्वजन्म भूदर्शन वचितानाम–स्माकं चतुर्थो मास । देवदुर्विपाकेन जन्मभुवो दूर–

स्थितैरप्यस्माभि र्न भाव्यं किन्तु केनचित् नैराश्येन पराभूतैः । त्रिव्रतेऽस्माकं वीरवरैः क्षेत्रपालैश्चैना दस्यवस्तथाहर्निशमाक्लिश्यन्ते यथा ते कथमपि तत्र चिरं स्थातुं न प्रभवेयु । अन्ताराष्ट्रीये च क्षेत्रे यथेदम्प्रत्यक्षमनुभूतमस्माभि–विश्वबौद्धसम्मेलने सर्वैरेव सुसमर्थ्यतेऽस्माक न्याय्य. पक्षो निन्द्यन्ते च दुराचारिणश्चैनाः । ईदृशेऽनुकूले वातावरणे कथमस्माभि स्थीयेत केनचिदात्मदैन्येन पराभूतैः । तस्मात् पावनेऽस्मिन्नस्माकं चतुर्थे प्रतिज्ञादिवसे सम्भूय प्रतिज्ञायतामिदं सुदृढेनात्मविश्वासेन.—

वयं स्वतन्त्रा खलु जन्मजाता
सदा स्वतन्त्राश्च वयं वसामः ।
स्वातन्त्र्यमेतद् भुवि यो जिहीर्षेत्
स्वयं भवेत्स स्वविनाशहेतु ॥१७॥

(सोत्साह सर्वे सामूहिकीमेनाम्प्रतिज्ञा मुहुर्मुहु. पुनरावृत्य जयदलपते, जयत्रिव्रत, इति समुद्–घोषयन्ति. विरते जयघोषे पुनर्दलपति समादिशति)

दलपतिः — बन्धुवरा. एषास्माकम्प्रतिज्ञा सम्प्रत्यस्याः परिपूर्त्यै सर्वैरेव भवद्भिः निःशङ्कं सुप्रकाश्याः स्वस्व विचार. स्वातन्त्र्येण ।

(सर्वे—अनुकम्पिताः स्म, मित्ररक्षितश्च रामचरणौ अभिवाद्य स्वमतम्प्रकाशयति)

मित्ररक्षितः — महामान्या । नूनं यथास्माभि प्रतिज्ञातं तत्तथैव सुसम्पत्स्यते । परमेव सुखं स्वकालमिह यापयद्भिरस्माभि. कथमेतत् स्वसाध्य सुसाध्येत इति मुहुर्मुहु

विचिन्तयताऽपि मया नाद्यावधि लब्धमस्य प्रश्नस्य किञ्चिद् वास्तविकं समाधानम् ।

वसुरक्षित — मान्यप्रवरा, मित्रवरस्य मित्ररक्षितस्य नूनमेष प्रश्नो वर्ततेऽस्माकं सर्वसामान्य प्रश्न । मौखिकी सम्वेदना मतिरिच्य किं नामेह वसद्भि-रस्माभि कदापि समधिगम्यता विश्वमित्रादस्मान् भारतीयात् सर्व-कारात् । अत्र स्थितैरस्माभि. प्रतिदिन स्वराष्ट्र-सेवायां स्वप्राणाञ्जलिमर्पयद्भयोऽस्माकम्प्रियेभ्यो बन्धु-भ्यः साधुवादा अपि सम्प्रेषयितुं न शक्यन्ते, अत्रत्यै र्नेतृप्रवरैश्चाद्यापि गीयन्ते तान्येव जीर्णानि विस्वराणि चीन भारतमैत्री गीतानि । चैनैश्च न गण्यते विश्व-मानचित्रे भारतस्य काचन स्वतन्त्रा सत्ता । वास्त-विकी स्थितिश्चैषा—

न निर्बलस्य वाक्याना क्वचिल्लोके समादर.
भावना विश्वकल्याणी तस्य वन्ध्यैव तिष्ठति ॥१८॥

शक्तिरक्षित — अलमावेगेन । स्थाने सत्यपि भवदीयेऽस्मिन् नैराश्या-क्रान्ते रोषे नास्माभि भारतीयानां सौहार्दमधिकृत्य क्षणायापि भाव्य कदाचित् केनचित् सशयस्य लेशे-नापि सग्रस्तै । अत्र स्थितै-रेवास्माभि समर्जिता विश्वस्यापि विश्वस्य सम्वेदना अचिरेणैव विज्ञाते च चैनानामान्तरिके हृदये भारतीयैरपि यत् करणीय तत् स्वत एव करिष्यते ।

आनन्द. — सर्वेषा वो निशम्यैतान् स्वतन्त्रम्प्रतिपादितान् सुविचारान् नैराश्यस्थाने समधिगतं मया नवं सम्बलम्—

चिकीर्षा प्रथमा शक्ति प्रबुद्धा यत्र वर्तते
स्वयं तत्र स्वलक्ष्याप्ति–र्जायते–नियतात्मना ।।१६।।

प्रतिराष्ट्र धर्मप्रसाराय विचरद्भि: प्राक्तनै–र्विद्वद्व–रेण्यैः परमार्थ–प्रभृतिभिरिवास्माभिरप्यतः त्रिव्रतस्य स्वातन्त्र्याय निखिलेष्वपि राष्ट्रेषु सुप्रबोधनीया सा सम्वेदन–शक्तिर्यया प्रेरितै–रनिवार्यतस्तै र्विच्छेद्येरन् चैनैः सह स्वीया सर्वविधा सम्बन्धा, राष्ट्रसंघेन च सुविधीयता स्वकर्तव्यस्याचिरेणैव सम्पालनम् । आरब्धश्च विश्ववौद्ध सम्मेलनेनास्या दिशि स्वप्रयत्नो भारतीयैश्च बन्धुभि र्यद्यथा क्रियते करिष्यते वा तदपि न स्थास्यति चिर सम्प्रत्यलक्षितम् ।

वसुरक्षित — दिनमेतत् प्रतीक्ष्यते प्रतिदिनम् ।

आनन्द — एष चास्माक कृते तिष्यरक्षितात् काश्यपेनाधिगतो नवतमः समाचार —

"स्थापितोऽस्माभि–र्मंगोलिया क्षेत्रेणास्माकं दैनिक पारस्परिको विचारादान–प्रदानसम्बन्धो विधास्यते च सुविधेयमन्यदचिरेण ।

रामो दलपति — नूनमनेन समाचारेण प्रत्युज्जीवितास्माक विच्छायता–गता सदाशालता साम्प्रत सुप्रसन्नचेतसा सम्प्र–र्थ्यता भगवान् मैत्रेय स्थीयता च सर्वै सदैव धैर्येण स्वस्व–कर्तव्य पालनतत्परै: ।

(तत्तद्वाद्यवादन पुर सरं सर्वे भवन्ति प्रार्थनानिरता)

(६)

(अध्ययनकक्षे–लोकसभा–प्रस्ताव सूचीमनुशीलयन् भारतीयः परराष्ट्र मन्त्री)

मन्त्री (स्वगतम्) आरब्धे चैनैराणविकानामस्त्राणा-म्परीक्षणे भारतीयैरपि तत्तथैव विधेयमिति सत्यपि सर्वथा सामयिके प्रस्तावे, यद्यस्माभिरप्यनुस्रियेत विकृतमतीना-माधुनिकाना नेतृणा विश्वसंहारक स एव पन्था' तर्हि क्वनाम स्थीयतामहिंसोपासिन्या मानवमनो-वृत्तो. केनाप्यशेन जीवितेन । (गाभीर्येण विचारमुद्रामाश्रित्य) कीदृशी वा भवेदस्माकं गाधि-दर्शनस्य सा शोचनीया परिस्थितिः । अथवा सर्वथा परित्यक्तेऽपि गांधिमार्गे के नाम देशा' सन्ति समूल-मुन्मूल्याः । भवेन्नाम पाकस्थानं सम्प्रत्यस्माकं जन्म-जात. शत्रु पर वस्तुतस्तु दशवर्षेभ्य प्राक् सर्वेऽपि तत्रत्या आसन्नस्माकमेव भारतीया भ्रातर. । तत्रैव च

रम्ये लवपुरे तस्मिन् राव्याश्च पावने तटे
शुभ स्वातन्त्र्यसिद्धान्तो भारतीयै प्रतिश्रुत. ॥२०॥

कथमेकमपद एव प्रियं च तत् लाजपतपत्तन शक्य-मस्माभि विस्मर्तुम् ।

अथ चैनाश्चेदानी भवन्तु हितैषिणो वा हितघातिन' परं भारतीये चैने च सम्बन्धे सति प्रतिदिन सुदृढे पाश्चात्यै र्बलेनाधिकृतानि स्वप्लुतमान्यपि पूर्वदक्षिण-वर्तीनि राष्ट्राणि भवेयुरचिरेणैव स्वतन्त्राणि नात्र कश्चन सशय. ।

(अत्रान्तर एव श्रुते दूरभाषध्वनिरवे तदादाय)

पर० मन्त्री. — अहो विस्मृतम् । अतिक्रान्त समयः । अपेक्षितानि पत्राण्यादाय सत्वरमागच्छतु भवान् । (ध्वनिवाह-कं स्थाने निधाय पुन' स्वगतम्) प्रेषितेऽप्यद्यतने पत्रे

तदुद्देश्यसिद्धि र्न प्रतीयते सर्वथा सुनिश्चिता । श्रूयते सप्ताहान्ते पाकस्थानमागन्ता चैन· प्रधानामात्य· । मत्पत्रोत्तरं च न दत्तमद्यापि तेन महानुभावेन । (चिन्ता नाटयन्) नून भाव्यमत्र केनापि निगूढेन कारणेन—

दीर्घं मौन वहत्यन्त–र्गुप्तं किञ्चन दौर्हृदम्
विलम्बं क्षणिक चापि क्वचिन्मैत्री न मृष्यति ॥२१॥

अस्तु प्रेष्यता न वा प्रेष्यता तेन पत्रोत्तरम्परमस्माभिस्तु राष्ट्रियचीनस्य नाङ्गीकरिष्यते काचन स्वतन्त्रा सत्ता न वा समर्थयिष्यते भारतात् त्रैव्रताना तत्र गमनागमनम् ।

(प्रविशति सचिव·)

पर राष्ट्र मन्त्री— (सचिवमभिलक्ष्य) अप्यनुशीलिता भवता बौद्धसम्मेलने पारितास्ते ते प्रस्तावा· । त्रैव्रताना सर्वतन्त्रस्वतन्त्रासत्ता स्वीकरणीयेति तेषां मुख्यः सार· ।

परराष्ट्र सचिवः—सर्वथा अव्यावहारिकम् असामयिकञ्चैतत् सर्वम् । किमनेन साध्यम् किं वा (अत्रान्तर एव नैरन्तर्येण श्रूयमाणे दूरभाष–संरावे शुश्रूषति च सचिवे मंत्रीसुसंभ्रममुत्थाय)

परराष्ट्र मंत्री— अहो रक्षामन्त्रिणो महत्वपूर्ण कश्चनाय सदेश· (दूरभाषमादाय) आम् अहमेष जवाहर. (निशम्य सोद्वेगम्) किम्, किम् अहो पराकाष्ठेय दौष्ट्यस्य, न केवल निगृहीता अपितु पृष्ठतो निहता अप्यस्मत्सीमारक्षका सैनिकाः । अस्तु सर्व समपेक्षित सुविधाय द्रष्टव्योऽहमनतिचिरेण सत्वर भवता ।

(दूरभाषं निधाय सचिवम्) लब्धमस्माभिरस्मत्प्र-
श्नोत्तरम् । धूर्तैस्तै कृताद्य भारतीया धरा भारती-
येनैव रक्तेन रक्ताप्लाविता । कार्यालयं गत्वा साम्प्र-
तमाकार्यतां तत्र चैनो राजदूतो यथा सम्भवम-
विलम्बेन । (प्रणम्य सचिवः प्रयाति जवाहरश्च
सोद्वेगमितस्ततः सचरन्) ।

प्रदर्शिता हन्तजनै – रमीभिः
विश्वासघातस्य परैव काष्ठा ।
सभ्येष्वसभावितमेव यत्स्यात्
तदेव धूर्तैः कृतमद्य नग्नैः ॥२२॥

(इति श्री देवीप्रसाद शास्त्रितनय विद्याधर शास्त्रि विरचिते
दुर्बलबले द्वितीयोऽङ्कः)

दुर्बलबले

अथ तृतीयोऽङ्कः

(१)

(अथ प्रविशति आसन्द्यामासीन, आत्मचिन्तनमग्नो भारतीयो वैदेशिको महामात्य.)

जवाहरः — (आत्मगतम्) धन्याः सर्वथा धन्या· स्वराष्ट्र-सम्मान-रक्षकाः प्रतिदिनं स्वप्राणाहुति-समर्पका इमेऽस्माकं वीरप्रवरा. सैनिकाः धिक् चास्माकमेनाम-दूरदर्शिनी विवेकदृष्टिं यया न मनागपि कदाचिदभि लक्षित. खलु· खलानामेपामेप दुरभिसन्धि । (क्षण सविशेषं विमृशन्) अथवा

वस्तुस्थितेः कठोराया. स्यातुमग्रे न कर्हिचित् ।
आदर्श-मृदुभि· शक्यं केवल कल्पनोद्गतै· ॥१॥

(उत्थाय शनै· शनैः संचरन् स्वगतम्) समूलमुच्छि-न्नाद्याखिलेयं मे विश्वहितैषिणी वताशावल्ली। प्राय प्रत्यह पंचशीलोपदेशकै प्रत्यहञ्च भ्रातृभावोद्घोष-कैरेभिश्चीनै· सहसैवमनार्यं माचर्येत-इति स्वप्नेऽपि मया नाशकितमासीत् कदाचिदेवम् (क्षणम्पुनर्विरम्य) अथवा सर्वाशाप्रकाशकेऽस्माकं नवे स्वातन्त्र्याभ्युद-येऽस्माभि रेव तदानीमासन् घोरमुपेक्षिता खल्वे-तेऽखिलाः त्रैव्रतादि गता सामान्या प्रश्ना । सुस्पष्ट-मिदानी किन्त्वनुभूयतेऽस्माभि र्यद्राजनयक्षेत्रे नभवति-किञ्चन सामान्यम् ।

जनाना गतय सर्वा राष्ट्राणा स्थितयस्तथा ।
नये सर्वमसामान्यं सामान्य नात्र जायते ॥२॥

असामान्येऽप्यखिले किन्तु नयक्षेत्रे यादृशीगमसामान्यता साम्प्रतमाश्रिता विश्वासघातिभिरेभिर्बर्बरैश्चैनै, न सा सामान्यतोऽसामान्यतो वा भवति क्वचिदन्यत्र समुदाहृता (सामर्षम्) निभृतं विहिताय खल्वस्मै जघन्याय रक्तपाताय नाममात्रेणापि कश्चन खेद प्रकाशनमनाचरद्भिरेभिरनाचारिभिरारब्धमधुना तैस्तै-र्मिथ्या प्रमाणै प्रमाणयितुं सनातन नैजमाधिपत्य-मस्माक क्षेत्रे (विरम्य)

सर्वजनमानस – विक्षोभकेणैषामनेन दुर्व्यवहारेण जातेऽपि समस्ते भारते विक्षुब्धेऽस्य च—

नित्यं नूतनदोषवर्धनपरे शाठ्येऽप्यमीषामहो
नाद्यापि स्थिरताम्प्रयाति नियते ध्रौव्ये क्वचिन्मे मति ।
स्पष्टं शात्रवघोषणं समुचितं किं वा प्रतीक्ष्यम्पुन.
गुप्त गुप्ततर न पृष्ठहनन मह्य क्वचिद्रोचते ॥३॥

(वैयक्तिक सचिव: प्रविश्य दर्शयत्यद्यतनं लोक-ससत्कार्यक्रमम्) (कार्यक्रममनुशील्य) अहो प्रश्नोत्तर काल एव समपेक्ष्यते संसदि मदीया समुपस्थिति· अस्तु, भवामि समये समुपस्थातुं सत्वर सुलज्ज । सह्या एवाद्य मौनं मया सर्वतोऽपि निष्पतन्त क्षुब्धाना सदस्याना सर्वेऽप्येते ते ते वाग् बज्रबाणाः ।

(प्रविशति निवेशनमन्त)

(२)

(लोक संसदि अध्यक्षो यथाक्रमम् प्रश्नान्प्रष्टुमादिशति)

जनवर्गीय. — (समुत्थाय) अपि नाम चैनैरनधिकृत कृतेऽस्मिन् प्रवेशे भारतीये क्षेत्रे, भारतीयेन शासनेन विहितः कश्चन सुदृढः सीमासंरक्षक. प्रबन्धः, प्रकाशितो वा चैनै-र्दुष्कर्मणोऽस्मै हार्दिकः कश्चन पश्चातापः ।

परराष्ट्र सचिव· — सखेदं वतेदं सूच्यते यदस्माभिरनुरुध्यमानेऽप्यनेकश चैनै नं दत्तमद्यावधि कस्यचनैकस्याप्यस्माकम्पत्रस्य किञ्चिदुत्तरम्, न वा स्वीकृत तैरस्मद्-राजदूतेनार्पित कि नपि भारतीय विरोध-पत्रम् ।

श्री कृपलानी — (सामर्षमुत्तिष्ठन्) अहो अक्षम्या सर्वथा असह्या च चैनानां सैन्याधिकारिणामेषा धृष्टता। अतोऽपि दुःखावह चैतद् यदेषामनेन-दुर्व्यवहारेण संजातेऽपि स्वभावत· परमविकले सकलेऽपि भारतीये जनमानसे, नाद्यापि भारतीये शासक वर्गे दृश्यते तत्प्रति किंचन राष्ट्रव्यापि प्रतिचेष्टनम् । अस्या दुरुपेक्षाया शासना-नुभवहीनाया अदूरदर्शिन्या अस्माक परराष्ट्रनीते-रेवायं दुष्परिणामो यच्चैनै-रपहृत त्रैब्न स्वा-तन्त्र्य कृतश्चाय तैरस्माक क्षेत्रे निर्भयम्प्रवेष्टुमेष दु.साहस. ।

अध्यक्ष. — श्रीमन् नैष व्याख्यान काल अपितु प्रश्नोत्तर-काल ।

अनेके सदस्या·— (युगपदेव स्वाभिमतं निरूपयन्त) श्रीमन् नूनमेष प्रश्नोत्तर कालः। परमस्पष्टै प्रश्नैरस्पष्टैश्चोत्तरै नं भवति किमपि सुस्पष्टम् । सीमाप्रदेशे घटितेय घटना नास्ति काचन सामान्या घटना न वा चैनानामिदम-कृत्यं वर्तते मौनमुपेक्ष्य क्षम्यं वा किञ्चन सामान्य व्रत कृत्यम् । सर्वमप्यपर कार्यक्रममतिक्रम्य वयमद्य सर्वप्रथमम् अस्माक मान्यवरान्महामन्त्रिण स्व-

राष्ट्रसीमा-रक्षामधिकृत्य प्रदत्तं वक्तव्यमेव श्रोतुं वर्तामहे भृशमुत्कण्ठिता ।

(३)

(अध्यक्षो नेहरूमभिपश्यति)

जवाहर: — श्रीमन्त, अद्यतना अन्ये प्रश्नाश्चेन्मान्यै सदस्यै पुन: पृच्छयन्ता तर्हि सीमासंरक्षणप्रश्न एवाद्य भविष्यत्यस्माक मुख्यतया सुविवेच्यो-विषय ।

अध्यक्ष: — शोभनं सर्वथा सुशोभनमेतत् । सीमासंरक्षणमधि-कृत्याधुना-कृपलानि महोदयै. कथ्यतां स्वकथ्यमशेषत ।

कृपलानी — अनुगृहीतोऽस्मि, सीमासुरक्षायै मन्मते सम्प्रत्यस्माभि सद्य एवास्ते परिष्कार्याऽस्माकमखिला परराष्ट्रनीति. । समाश्रयणीया च दस्युदल-दु.साहस साहिनी सा खलु दण्डनीति यथा

लोके नोत्सहता हि कश्चन रिपुर्द्रोग्धुम्पुन नं क्वचित्
दुष्ट-ध्वंसनतत्परा हि सतत ख्याताजगत्या वयम् ।
स्वाधीना नहि बन्धनै-र्निगडिता कैश्चित् भवामो वयम्
स्वातन्त्र्य न च दुर्जनैरपहृतं कस्यापि सह्यं हि न ॥४॥

अचल — श्रीमन्, न केवलं परराष्ट्रनीतिरपितु प्रतिक्षेत्रमस्थिरा अस्माक मन-प्रवृत्तयोऽपि वर्तमाने सन्ति सर्वा एव सावधान सुपरीक्ष्या । प्रत्यक्षं शत्रुवदाचरन्तोऽपि देशा नास्माभिर्मन्यन्ते शत्रवो नचोपकारिण क्वचिद-भिनन्द्यन्ते कृतज्ञैरस्माभि सक्रियेण सौहार्देन । अस्या सकुचिताया मनोवृत्तेरेवायं दुष्परिणामो—

दुं राक्रान्तेऽपि भारतीये भूभागे केवलमन्तरेव तुषाग्नि रिव धूमायमानैरप्यस्माभि युंगपदेव प्रज्वल्य न

भस्मसात् विधीयन्ते सर्वेऽप्येते दस्यवः। वस्तुस्थितिश्च साम्प्रतमीदृशी यत्रानिच्छद्भिरप्यस्माभि-र्भाव्यमेव व्यापकाय संघर्षाय सुसज्जैः।

सुप्ते जाग्रति सृष्टि यत्र सततं युद्धस्य भीति र्भवेत्
शत्रु-र्मूषकवत् तथा प्रतिपलं निद्रां मुहु र्वीक्षिताम्।
सद्यश्च तत्र जनैः कियच्चिरमहो चिन्त्यं क्षणं तद् बुधै
रन्मूल्यो हि गतो न यावदयतेऽन्याव्यामसौ दुःस्थितिम् ॥५॥

तथापि न वयं केनचिन्महता संघर्षेणाखिलामपि विश्वशान्तिं विचलितां कर्तुमीहामहे। व्यापकस्य संघर्षस्याभावेऽपि परमिदानीमस्माभिः—

वाले वाले नवायश्चित्त नेवा काचिच्च चेतना।
आर्जेण भारते मत्तो राष्ट्ररक्षाव्रतव्रतैः ॥६॥

सर्वैः सम्भूय संरक्ष्यं क्षीणं भारत गौरवम्।
आत्मगर्वितश्च संवेद्या हातव्याचात्महीनता ॥७॥

(४)

(अपराह्णे प्रविशति च्यवनेन सह विमृशन् मातुङ्गः)

मातुङ्गः — (हस्ते पत्रमादाय) इदं तत् प्रातरागतं शैत्रस्य सेनापति-र्गोपनीयम्पत्रं, एषा चास्या भारतातिपेक्षि-यिन्री विस्तृता योजना।

च्यवनः — (पत्रमनुशील्य) नूनमियं सैनिकी व्यवस्था परि-पूर्यतां सैनिकै-रेव सावनैः मान्या एव चात्र प्रधानप्रमाणम्।

मातुङ्गः — शैत्राणां दमनाय दस्या एव नेपां सहायका नात्रास्ति किञ्चन विशेषतः चिन्त्यम्।

लालबहादुरः — महाभागाः, चैनानामनेन जघन्येनाचरणेन विक्षुब्धै-र्मान्यैः सदस्यैः प्रकाशिता इमे हृदयोद्गाराः सन्ति नूनं सर्वथा स्वाभाविकाः। परं वयं न वर्तामहे सर्वथा क्षीणशक्तयः।

सम्मानपूर्ण-व्यवहार कामा भक्त्या वयं चिन्त्यमिद न चैनैः
सर्वेऽपि देशाः सुखशान्तिपूर्णाः तिष्ठन्त्विदं सन्ततमीप्सितं नः ॥८॥

यथा चाहं विश्वसिमि चैनैरप्यवश्यमस्यै घटनायै जायतामनुतप्तं ।

अचलः — (मध्ये समुत्थाय) चैनैरनुतप्यता वा नानुतप्यताम्, कियच्चिरं किन्तु शत्रु-सन्तोषिणी, नीतिरिय सर्व-कारेणाश्रयिष्यते सर्वं सम्प्रत्येव प्रतिपाद्य मन्त्रिवर्यैः।

लालबहादुरः — नीतिरिय न शत्रुसन्तोषिणी नापि निर्मूलेन केनापि विश्वासेन विदूषिता अपितु वयं हि—

रक्षामोऽन्तर्हित तेजः प्रच्छन्नं हृदि तत् क्वचित्
क्षणम्प्रोद्दीप्यमान यत्कुरुताद्, भस्मसादरीन् ॥९॥

ब्रजेशः — मान्यः, सत्स्वपि सप्राणेषु खल्वेषु विचारेषु, चैनानु-द्दिश्याश्रिताऽस्माक वर्तमाना नीति – र्नास्ते वस्तुतः सशक्तेत्यङ्गीकार्यमेवमन्त्रिवर्यैः त्रैव्रताना स्वातन्त्र्य-मपहृत्य भारतीये क्षेत्रेऽपि स्वदुर्दृष्टिम्पातयतामेषा चैनाना वस्तुतो न कदापि स्वीकृतोऽस्माभिस्त्रिव्रते कश्चन सामान्योऽप्यधिकारः। परमद्य तैः त्रिव्रतमधि-कृत्यारब्धोऽस्मन्-क्षेत्रेऽपि स्वप्रवेशः वय च निःसहाया इव दृष्ट्वा सर्वमिदं मौन वर्तामहे सर्वथा निष्क्रिया ।

प्रधानामात्यः — नूनं नास्माभिः त्रैव्रताना स्वायत्ते प्रदेशे कदापि सम-र्थितः चैनानामधिकार, न च वय भारतीयाना सैनिकानामेनममानवीय हनन केनाप्यशेन – सहामहे मौनम्। चैनानामुत्तराय यावत् प्रतीक्ष्य तावत् प्रतीक्ष्य पुनर्यद् विधातुमुचित तद् विधास्यत एव नूनमविलम्बेन।

अध्यक्षः — मन्मते प्रधानामात्यस्यैतद् – वक्तव्यानन्तरं न चेत् सदस्यैरन्यथा मन्येतापराण्हेऽन्येऽपि प्रस्तावः प्रस्तोष्यन्ते (मौनं स्वीकृतेऽध्यक्षमते भवति विरामः) ।

(३)

(त्रैव्रतानां शिविरे लोकसंसत्–सत्र चर्चा–निरताः–त्रैव्रता.)

मित्रगुप्तः — अस्तु काश्यप, समाप्तप्रायमेव सम्प्रति ते लोक ससत्–सत्रम् । नाद्यापि किन्त्वस्माक समस्यायास्तत्र दृश्यते काचन नवाशासंचारिणी समाहिति ।

काश्यपः — अरे अलमधुना व्यर्थं दुराशावर्धकैरेभिस्ते काल्पनिकै स्वप्नैः । न मया केषुचन संसत् सत्रेष्वाधारिता मदीया काचन निष्ठा । निरन्तरं ॐ शान्ति, ॐ शान्तिरिति प्रजपद्भ्यो भारतीयेभ्यश्च शान्तिपाठमतिरिच्य किमधिकमाशास्यतां केनापि देशकालज्ञेन विज्ञेन । प्रत्यक्षमालक्षिता चास्माभिरेषा शक्ति ।

हृत्वापि येषां हि भटान् निगूढ तेष्वेव दोषं च निपातयन्तः ।
शृण्वन्ति येषां न वचांसि चैना कुर्वन्तु ते त्रिव्रत–मुक्तये किम् ॥१०॥

शक्तिरक्षित. — अरे अस्थाने खल्वसौ ते दुराक्रोशः । क्षणमपि भारतीया नाधुना चैनानां केनचित् छद्मान्वितेन भ्रातृभावेन भवेयुर्विप्रलब्धाः ।

विश्वासतन्तु सकृदेव भग्नः पुन र्न सन्धानमुपैति नूनम् ।
मृत्पात्रभङ्गः शतशोऽप्युपायै सन्धीयते नैव पुनः कदाचित् ॥११॥

मित्रगुप्त — (भिक्षुमवलोक्य) विश्ववन्धो, क चिरायितमेतावत्कालम् । प्रतिदिनं तत्रभवतो दर्शनाय प्रथियतां नः पुनरपि स्वजन्मभू–दर्शनाशा–विधायक सूत्रं छिन्नप्रायमेवाधुना सर्वम् । यत्र चेदं येनकेनाप्यंशेन किञ्चिदासीत् लोक संसत्–सत्रानुगतं तदपि सम्प्रति तथा परिशीर्णं यथानान्य कश्चन नवाशाधायकोऽवलम्ब.

कश्चित् सलक्ष्यतेऽस्माभि ।

आनन्द. — (सोत्प्रासम्) अहो सर्वथा त्रैव्रतसंस्कृति–प्रतिकूल–मेनद् व आत्मदौर्बल्यम् । असामयिकं च सर्वसमुल्ला–सकेऽप्यस्मिन्नवसरे नैराश्याब्धि–निमज्जनमेतत् । क्षण–म्प्रतीक्ष्यमेवेशिया राष्ट्राणां महासम्मेलनस्यापि ते ते त्रैव्रतहित–सरक्षका निर्णया । संरक्ष्यश्चाय सुद्धो विश्वासो यदचिरेणैवाधुना सर्वमिदम्परिणमेत् त्रैव्र–तानां सर्वाभ्युदयावहे समुज्ज्वले समये। (अभिन–वाशा संचारकमानन्दस्य नवतम सन्देशमेनमाकर्ण्य पुलकिताः सर्वे) अस्तु, बन्धो, अविश्वासेन ग्रस्ता अपि वयम्पूर्णं विश्वसिम. श्रीमत. सप्राणेषु खल्वेतेषु वचनामृतेषु । भवतु भवतो भगवतो मैत्रेयस्यानुग्रहेण सर्वाभिमतासिद्धि । आनन्द अहमधुना महामान्यस्य दलपते–र्दर्शनान्तरं सिंहपुरसम्मेलने समवेत्य ततो सेनापतिप्रवरेण चाङ्गेनापि स्थापयिष्यामि स्वसम्प–र्कम् । इह भवन्तु भवन्तश्च मदीयस्य सहयोगिन. श्रीशिवानन्दस्य ब्रह्मचारिण प्रतिक्षणम् प्रियतमाश्च सक्रिया. सहयोगिन ।

त्रैव्रता. — ओ३म् । विजयता भिक्षुरानन्दो विजयता च शिवा–नन्दो ब्रह्मचारी ।

(४)

(अपराण्हे प्रविशति च्यवनेन मह विमृशन् मातुङ्ग)

मातुङ्ग. — (हस्ते पत्रमादाय) इद तत् प्रातरागत त्रैव्रतस्य सेनापतेर्गोपनीयम्पत्रं, एषा चास्य भारताभिषेणयित्री विस्तृत योजना ।

च्यवन. — (पत्रमनुशील्य) नूनमिय सैनिकी व्यवस्था परिपूर्णता सैनिकैरेव साधनै. मान्या एव चात्र प्रधानम्प्रमाणम् ।

मातुङ्गः — ऐन्द्रताना दमनाय दम्या एव तेषा सहायका नास्तेऽत्र किञ्चन विचिन्त्यम् ।

च्यवनः — अचिन्त्येऽप्यस्याः सैनिके पक्षे चिन्त्याऽत्र केवलमन्ता-राष्ट्र - व्यापिनी प्रतिक्रिया । लद्दाखसीम्नि पूर्वं तैरपराद्धमस्माभि र्वा न तत् केनाप्यद्ययावत् सुनिश्चितं परं व्यापकमाक्रमणं न तिष्ठेत्तथैवान्त-र्हितं वयमेव चैतदर्थं गणयिष्यामहे प्रमुखा अपराधिनः ।

मातुङ्गः — अहो के तेऽस्माक निन्दका वा प्रशंसकाः । न मया स्वसाध्य-सिद्धौ कदाचन श्रुता समादृता वा कस्य-नान्यस्य काचन सम्मति ।

(प्रविश्य मातुङ्गपत्नी चार्वङ्गी)

चार्वङ्गी — रक्षामन्त्रिणोऽपि निर्दिष्टे काले समुपस्थिताः प्रती-क्षन्ते बहि स्थिता. सम्प्रति मान्यानामपरमादेशम् ।

मातुङ्ग' — उपविशत्वत्रैवात्रभवती । नचिरात् रक्षामन्त्रिणो-ऽप्यत्रैवाकारयिष्यन्तेऽस्माभिः । प्रातः कालीने पत्रप्रसंगे च च्यवनमते भारतस्यावस्कन्दना त्पुराऽस्माभि-रन्ताराष्ट्रिया प्रतिक्रियास्ते सम्यग् रूपेण पर्यालोच्या ।

चार्वङ्गी — निरर्थकं सर्वमेतत्कातरोचित कल्पनम्'—

किमेभिः कथ्यत किं तै. कथ्येत इति शंकिता
वेपन्ते कातरा नित्यं साहसी लभते श्रियम् ॥१२॥

अथ च-नह्यन्यस्य क्षुधाशान्त्या क्षुधा स्वीया निवर्तते
सर्वे स्व स्व क्षुधाशान्त्यै स्वस्वभक्ष्यं विमृश्यते ॥१३॥

मातुङ्गः — सर्वथा राजनयानुकूलोऽत्रभवत्या एष सत्परामर्श' । यदि नाद्य तर्हि परश्वोऽवश्यमेवारभ्येतास्माभिरेप संघर्ष' । कारण चात्र.—

क्षणे – क्षणे भूरि विवर्धमाना यज्जाम्ववी जागलवृद्धिरेषा
सुखेन शोध्या न पुन र्हि यत्स्यात् विधीयतामद्य विशुद्धिरस्याः ॥१४॥

च्यवन — (क्षण विचिन्त्य) अस्तु श्रीमन्, यद्येवमेव विधेयं तर्हि सद्य एव स्पष्ट शात्रवमनाश्रित्य कञ्चित् काल-मस्माभि परिपोष्यं भारतीयै. कृत्रिमं सौहार्द-सांस्कृतिकाना मण्डलानाम्प्रेषणेन तेषा जीवनेऽन्तः प्रविश्य ज्ञेयानि च तेषा रहस्यानि ।

मातुङ्ग — नात्र मे किञ्चन वैमत्यम् । आहूयन्ता चात्रैव सम्प्रति रक्षामन्त्रिणः स्वाभिमतस्य प्रकाशनाय ।

सेनाध्यक्ष — (प्रविश्य) अस्माक सैनिक्या शक्त्याः सम्मुखे न कापि गणना भारतीयाना सैनिकानाम् । मदभिमतेन च सुपरिचिता एव श्रीमन्तः । नाह् विभेमि संघर्षात् ।

जीवन तद्धि निष्प्राण न युद्धं यत्र सन्ततम्
निष्प्राणं हृयथ राष्ट्रं तत् शान्त्यै यच्चेष्टतेऽनिशम् ॥१५॥
निष्प्राण स समाजश्च द्वन्द्वस्थः सन्ततं न यः
तरुणास्ते च निष्प्राणा नित्यं ये स्यु र्न सक्रिया ॥१६॥

मातुङ्गः — साधुप्रतिपादितम् । सम्प्रति अनेन सेनापतिना सम्पर्कमासाद्य यद् विधेय तद् विधीयता पूर्णेन मनो-योगेन ।

(गृहीत आदेश इत्यभिधाय सर्वे प्रस्थिता)

(५)

(वीरभद्रेश्वरमन्दिरस्थ शिवानन्दो ब्रह्मचारी)

शिवानन्दः — हे नाथ, आश्चर्य महदाश्चर्य यत् शान्तिनिलये त्वदीये हिमालये घटितेऽप्येतस्मिन् निखिलविश्वविक्षोभके सुहृज्जनरक्ताप्लुते विश्वासघाते नाद्यापि ते समाधौ दृश्यते कश्चन विक्षेप । नेद समाधि सौख्यं सम्प्रति

किन्तु भवेत् चिराय सुलभम्। निःसंकोचं, नि शक च खलैर्विध्वस्तेष्वखिलेष्वपि त्रैरत्ना बौद्धाना योग-समाधिस्थलेषु नेदानी शैवैरपि कश्चित् शक्य शान्त योगमाधातुम्।

सिद्धेश्वरः — (सहसा प्रविश्य) न शक्य चेद् वीरेश्वरोऽपि पदे पदे पलायनपराणा युष्माक न भवेत् कश्चित् सहायक। मन्दिराद् बहिरागत्य सज्जीक्रियन्तामधुना सर्वेऽपि शैवा। अस्माक देशवासिनोऽद्यापि चैनान् मन्वते स्वबाधवान्। ते च मिथ्यामैत्री-प्रदर्शनप्रयोगनिपुणा ऐन्द्रजालिकास्तत्तत् प्रकारैरस्माकमन्त प्रविश्य निकृन्त-न्त्यस्माक मर्म स्थलानि।

शिवानन्दः — अहो आसुरीयोऽभिसन्धि.।।

सिद्धेश्वर — सर्वमेतत् प्रत्यक्षमनुभवद्भिरस्माभि रधुना सर्वप्रथम सर्वत्र समुद्घोष्यमेतत्—

मित्रे विश्वासपात्रे य पृष्ठतो घातमाचरेत्
विश्वास हि स कुत्रापि क्षणमर्हेन्न कस्यचित् ।।१७।।

चैनप्रवेशम्प्रतिरोद्धु सज्जीक्रियन्तां च सर्वत्र सर्वे शैवाः।

शिवानन्द — अरे कथ नाम—

जीवत्सु शैवेषु शिवस्य वास. कदर्थ्यता केन हिमालयोऽयम्
शान्तिप्रियानत्र विहाय देवान् न दानवानामुचित. प्रवेश. ।।१८।।

रे चीनदस्यो, त्यज दुष्टदर्प जहीहि लद्दाखमही च सद्य
काम हि सह्यो भुवि कष्टजाल सह्य खलत्वं न परं खलानाम् ।।१९।।

सिद्धेश्वर — आगच्छ तर्हि सम्प्रत्येव साधयावस्तथा। शिवं नो विदधातुशिव।

(६)

(अनिवार्याय सैनिकशिक्षणाय परिषदि कृष्णचन्द्र प्रस्तौति)

रामराज्यीयः कृष्णचन्द्र — 'मान्या' नेदमविदित तत्रभवता यद् बदरी-
विशालक्षेत्रान्नातिदूरेऽवस्थितैश्चैनैरहर्निशमद्य तत्तीर्थ-
स्थल विधीयते विविधै विक्षेपैरभिभूतम् । शङ्के प्रदेश
एष तैराक्राम्येत कदाचिदकस्मात् तस्मात् शत्रूणामप-
सारणाय सवर्धनीयमेवास्माभिरप्यस्माकं — सैनिक-
सामर्थ्यं विधेय च तत् शिक्षणमनिवार्यम् । सशक्त
भारत न केवल भारतस्यैवापितु-- स्वल्पसाधनाना-
मन्येषा राष्ट्राणा स्वातन्त्र्यमपि संरक्षितुम्प्रभवेदिति
सुदृढो मे विश्वास' ।

सशक्तस्यादरो लोके 'स्वय सिद्ध सनातन
वचो नाद्रियते कैश्चित् क्लीवाना च भुवि क्वचित् ।।२०।।

क्षणिकेनाप्युपेक्षणेन च साम्प्रतम्—

त्रिविष्टपेऽद्य यज्जातं तत् श्वोऽत्रापि जायताम्
सद्यश्चेन्न निरुध्येत प्रवाहोऽसौ भयावह ।।२१।।

सशक्तेषु चास्मासु—

बिभेति भीति स्वयमूर्जितात् भवे स्पृष्ट-स्तृणेनापि च कम्पतेऽबल
शोच्या परा कापि दशा च नात वय हि तेषा दृशि चेदसारा ।।२२।।

निर्दलीयो भीमसिंह —सर्वथा सामयिकोऽयम्प्रस्ताव. । वस्तुतो यद्दिनाद-
स्माभिरुपेक्ष्यास्माक निरवद्यानि नीतिशास्त्राणि,
अवहेलित सनातन क्षात्रोचितो वैदिको धर्मस्तद्दिना-
देव भारते दुरारब्धा' सर्वेऽप्येते राजनीतिका सास्कृति-
काश्च व्यतिक्रमा. । स्थापितश्च विरक्तोचितैर्-भावै.
स्वप्राबल्यम् सत्यप्यहिंसाधर्मे परमेधर्मे—

भिन्नमाध्यात्मिकं क्षेत्रं भिन्नं च व्यावहारिकम्
तयो नं सकरः कार्यः सर्वत्र प्राकृतै र्जनै ।।२३।।

हरिसिंह' — शस्त्राणि निक्षिप्य वैराग्यस्याश्रयण न शिक्षित किन्तु
कैश्चनास्माक महर्षिवर्यैरिति सर्वप्रथममस्माभि , सर्वेऽपि

सीमावासिनो विधेया एव शस्त्रप्रयोग निपुणाः।

रक्षामंत्रीः — भवतु न वा भवतु भारते सैनिक शिक्षणमनिवार्यं-म्परं न वयं वर्तामहे स्वशक्ति-संवर्धन-कर्मणि कयाचन दुरुपेक्षया दुर्ग्रस्ताः। सम्प्रति शक्तिरस्माकं चतुर्गुण सुद्धेति मान्यै. सदस्यैः शक्यते स्वयं तत्र निरीक्षितुम्।

जनवर्गीयः — राज्येन यद्विहितं तदर्थं धन्यवादाः परं नैभिरस्थायिभिः प्रबन्धैः समाधीयन्तेऽस्माकं सर्वा. समस्या, सीमा प्रदेशादविलम्बेनापसारणीया एव सर्वे राष्ट्रद्रोग्धारः, राष्ट्रभक्ता भारतीयाश्च तत्र संस्थाप्याः।

(गृहमंत्रिणा स्वीकृतेऽस्मिन् विचारे भवति सभा विसर्जिता)

(७)

(स्व स्व विचारान् प्रकाशयन्तः सिंहपुर-सम्मेलन-प्रतिनिधयः)

सिंहपुरीयः स्वागतमंत्रीः—श्रीमन्तः, राष्ट्राणां स्वातन्त्र्य-रक्षणायात्र-समवेतानां श्रीमतां स्वागतेन वयमद्यवर्तामहे परमं सौभाग्य सम्भाजः। नात्र किञ्चिन विशेषतो वक्तव्य यत् स्वरक्षार्थं प्रतिपदमद्य समपेक्ष्यते पारस्परिकः सहयोगः। सखेदमिद किन्तु मया निवेद्यते यत् साग्रहमनेकशः सम्प्रार्थिताअपि पीकिंग प्रतिनिधयो न सन्त्यत्र समुपस्थिताः।

मङ्गोल प्रणिधिः—नून पीकिंग-प्रतिनिधीनामनुपस्थितिरास्ते सर्वथा शोचनीया परं नैतावतैवास्माभि – र्निलम्बितुमुचिता अस्माकं निर्णयाः। सुविदित चेदं सर्वेषा यदद्यत्वे चैनैः प्रायः सर्वैरेव स्वप्रातिवेशिकैः प्रदेशैः समारब्धास्ते ते सीमाकलहाः।

मलय प्रणिधिः यत्र च नास्ते सीमाकलहस्तत्रापि तैरेव प्रोत्साहितैश्चैनैः प्रतिदिनं विधीयते नवोनवः कलहः।

लङ्का — जातानि च सर्वाण्यपि तानि राष्ट्राणि गृहयुद्ध-ग्रस्तानि ।

यव द्वीपिन. — सद्य एव न समाधीयेत चेदियं समस्या प्रतिनगरं प्रतिग्रामञ्च व्याप्तेनानेनगृहयुद्धेन सर्वेषामप्येषां राष्ट्राणां राज्यव्यवस्था भवेत् सशयग्रस्तेति नात्र कश्चन संशय. ।

भारतीयः — चैनैर्यद्यपि नास्तेऽस्माकं कश्चन विरोधो न वा वर्तते तेषां भारते काचन नागरिकी सत्ता परं यथाद्य तैर-स्माकं वन्येषु प्रोत्साह्यते विद्रोहस्य भावना यथा च तैः ते सुसज्जीक्रियन्ते शस्त्रास्त्रैस्तन्नास्ते किमपि मित्रराष्ट्रोचित कार्यम् । त्रैव्रते च यथातैराचरित तेन श्रीक्रमादयो देशा अपि सम्प्रति न सन्ति सुरक्षिता ।

जयपानीय· — अस्याम्परिस्थितौ सद्यएवेदानीमस्माभि·

कार्यश्चैन – बहिष्कारो व्यापारे चान्यकर्मसु

सैन्यमेक च संरक्ष्य रक्षार्थं नित्यमुद्यतम् ।।२४।।

तापहरीय. — शोभना सर्वथा सुशोभनेय श्रीमता सुसम्मति

अध्यक्ष. — एव सति खल्वेष न· सर्वसम्मतो निर्णय.—

जम्बूद्वीप निवासिषु प्रतिपल भ्रातृत्वमावर्धताम्
प्रौढत्व फलमाप्नुता निजकृते. सह्य न शाठ्यं क्वचित् ।
भूभागा अथ येऽपि यस्य विषये सन्तिस्थिता साम्प्रतम्
निर्द्वन्द्व गतभीतयः स्थिरपदास्तत्रैव तिष्ठन्तु मे ।।२५।।

(इति दुर्बलबले तृतीयोऽङ्कः)

दुर्बलबले

अथ चतुर्थोऽङ्कः

(१)

(सिंहपुरसम्मेलने पारितानाम्प्रस्तावविशेषाणामनुचिन्तने निरता चैनी मन्त्रिपरिषत्)

मातुङ्गः — (च्यवनमभिलक्ष्य) भवन्मते कतमः खलु प्रस्तावोऽस्य सम्मेलनस्य वर्ततेऽस्माभिरिह प्रामुख्येन विमर्शनीयः ।

च्यवन. — श्रीमन्तः, मद्-दृशि सम्मेलनेऽस्मिन् बाह्याडम्बर-प्रदर्शनमतिरिच्य न जातं किमपि व्यावहारिकं फलवत् कार्यम् । न ह्येषामधिकार-प्रदानेन श्वेत्रता भवेयुः स्वायत्ता न वा वयं वर्तामहेऽस्माक कस्यचनार्थिकस्य राजनीतिकस्य वा प्रश्नस्य समाधानाय देशानामेषामाधीनाः । तथापि यद्यत्रास्ते किमपि विचिन्त्यं तत् खल्वेतदेव यत् सर्वथा नगण्यै-र्मलयादिभि प्रदेशैरपि समारब्धमस्माभिः सह प्रतिस्पर्धितुम् ।

मातुङ्ग. — (सरोषम्) नूनमक्षम्योऽय क्षुद्राणामेषाम्प्रदेशाना दु साहस· सर्वेऽप्येते सम्यग्-बोधनीया· सुस्पष्टम् ।

सह्येत नौद्धत्यमिदं हि तेषा चीन-प्रतिष्ठा-प्रतिकूलवर्ति
हिताय तेषामनुवर्तनं न·-त्याज्यो विरोधश्च विनाशहेतु ॥१॥

च्यवन. — प्रेषितेऽपिमान्यानामस्मिन्नादेशे चिन्त्या एव तत्रस्था प्रवासिनः

- मातुङ्ग. — प्रवासिनश्चैनानधिकृत्य सुनिश्चितैवास्माकं नीति:—

यत्रापि ये केचन सन्ति चैना ते तत्र सर्वे प्रियदेशजा न.
न ते क्वचित् कैश्चन पीडनीयाः तत् पीडनं स्यात् खलु पीडन न. ॥२॥
`तेभ्यः प्रदेया अचिरेण सर्वे समानरूपेण समेऽधिकारा
कृते च भेदे पृथगेव तेभ्य· स्वायत्तभागोऽस्ति भुवोऽपि देय· ॥३॥

चार्वङ्गी — मन्मते च तत्तदितर देशवर्तिनम् चैनम्प्रश्नमनालोच्य, त्रैव्रतानां गतिविधय एव सन्ति साम्प्रतं सविशेषं समालोच्या.। एनम् प्रश्नमुद्दिश्यैवाधुना तेषु तेषु सम्मेलनेषु प्रचलत्येष महान् अन्ताराष्ट्रिय कोलाहल ।

मातुङ्ग. — सुविचिन्त्यौ नूनमुभावप्येतौ परामर्शौ ।

गृहमन्त्री — त्रैव्रतेन प्रश्नेन सह न चास्तेऽस्माक विश्वविद्यालयेषु प्रवर्धमानो वर्तमानोऽस्माक छात्राणामप्यसन्तोष. ।

मातुङ्ग — छात्राणामसन्तोष ! अरे मद् गृहेऽप्यसन्तोष., कीदृशोऽयमसन्तोष ?

गृहमन्त्री — कुलपते सूचनानुसारमधुनैव नानकिङ्ग–विश्वविद्यालयछात्रावासे केनापि वितीर्णानि सहस्रशः क्रान्ति सन्देश–पूर्णानि पत्राणि ।

मातुङ्ग. — यद्येवं सर्वमन्यत् परित्यज्य तदेव सूचनीयं मह्यमनिशम् ।
(इत्यादिश्य उत्थिते मातुङ्गे सर्वे समुत्तिष्ठन्ति)

(२)

(शान्तिकुञ्जे सुखमासीने चाङ्गे समानीयते तत्र वैदेशिकेन मन्त्रिणा भिक्षुरानन्द)

वैदेशिकोऽमात्य·—(सविनयम्प्रणम्यानन्दमुपस्थापयति चांगस्य सम्मुखे) महामान्या, त्रैव्रताना निष्कारण वन्धुरत्याचारिणा। स्वमात्र – शत्रु-भारतीयोऽपि विश्वनागरिकश्चाय महान् भिक्षुरानन्द· ।

चाङ्ग — (समुत्थाय स्वागतेनानन्दमभिनन्दन्) सनाथी-क्रियतामिदमासनम्, स्वीक्रियन्तां च सिंहपुरसम्मेलनस्य साफल्याय हार्दिकाः साधुवादाः।

आनन्दः — मान्यैश्चांगीकार्या विश्ववन्द्यैर्दलपति-महोदयैः सम्प्रेषिताः शुभाशिषामेते पावनास्तण्डुलाः (इति तण्डुलानर्पयति)

चाङ्गः — (सादरं तण्डुलान् शिरसा धारयन्) अपि श्रद्धेया दलपतयः सन्ति सर्वथा कुशलिनः स्वीये भारतीये प्रवासे ?

आनन्द — भगवतो मैत्रेयस्यानुग्रहेण सार्वत्रिकं तत्र मंगलम्। भारतीयेनातिथ्येन सुतुष्टा अपि ते परम्प्रतिदिन त्रिव्रते प्रवर्धमानैर्मायुसैनिकानामुत्पातैः प्रायः सदैव तिष्ठन्ति नितरामुद्विग्न-मनसः।

चाङ्गः — सर्वथा स्वाभाविकमिद त्रैव्रताना जन्मसिद्धेऽस्मिन् संरक्षके। अथवा—

मुक्ताः समस्तैः कलहैर्जगत्या स्वाध्यायलीनाश्च रहः प्रदेशे
अकारणं तेऽपि खलैरशान्त्या ग्रस्ताः कृताश्चेन्निजदम्भपूर्त्यै ॥४॥

खिद्यन्तु चेतांसि सता न केषां निरन्तरं विश्वहिते-रतानाम्
गुणागुणौ किन्तु न मूढवृत्तिः समीक्षते क्वापि खल-स्वभाव ॥५॥

आनन्द — खेदावहेय परिस्थिति र्न चेत् सद्य एव सुसमाधीयता तर्हि त्रैव्रताना सत्तापि साम्प्रतं स्मृतेर्भवेत् सर्वथा विलुप्ता।

चाङ्ग — (निर्विण्णः) नूनमेषा त्रैव्रती समस्या समपेक्षते सद्यः समाधानम्परमस्माक तैः सहाद्य न वर्तते प्रत्यक्षोऽप्रत्यक्षो वाऽशिकोऽपि सम्पर्को येनावगम्येतास्माभिस्तेषा किमप्यपेक्षित, साध्येत वा तेषा किमपि व्यावहारिकम् साहाय्यम्।

सर्वासुदिक्षु प्रतिरुद्धमार्गैः वृतै-र्जगत्याम्परितो द्विषद्भिः
कश्चित् स्व सम्पर्कमहो कथं तैः करोतु जाता जटिला समस्या ॥६॥

आनन्द — सुव्यक्तमेतन्नूनम्। त्रैव्रतै सह किन्तु मान्यानामैतिहासिकः प्राचीनतमश्च साधिकार सम्बन्धः। प्रस्तूयताश्चेन्मान्यानाम्प्रतिनिधिना राष्ट्रसंघे त्रैव्रतेभ्य स्वायत्ताधिकार-समर्थकः कश्चन प्रस्तावो नूनमनेन त्रैव्रतेषु स्फुरेन्नव समुत्साह भवेच्चानेन तेषा-समुद्धारस्य कश्चनापरोऽपि नवो मार्गः सुलक्षितः।

चाङ्ग — अस्तु बन्धो, भवद्दृशि विधिनानेन सिध्यति चेत् त्रैव्रताना किमप्यभिमत तर्हि प्रचलितेऽस्मिन्नेव राष्ट्रसघाधिवेशने प्रस्तोष्यतेऽस्मत् प्रतिनिधिनैष प्रस्तावः प्रयत्यता च भवताधुना व्यापकायास्यान्तारा ष्ट्रियाथ समर्थनाय।

आनन्द — अनुगृहीता मान्यै सर्वे त्रैव्रताः।

(भूरिशो धन्यवादान् समर्प्य प्रस्थितः)

(३)

(राष्ट्रसघे त्रैव्रतेभ्यो मताधिकारसमर्थक प्रस्तावम्प्रस्तुवन् तापहरीय प्रणिधिः)

सुमतिप्रज्ञः — श्रीमन्त, सुविदितमिदमत्र भवता सर्वेषा यत् मायोः सैनिकशासनात् प्राक् त्रिव्रते त्रैव्रता एवासन् तत्रत्या स्वायत्ता सुशासका। भारतीयैराग्लशासकैश्चाङ्ग-शासनकाले चीनाधिपेन सह विहितासुसन्धिष्वपि सदैव सम्मानितस्त्रिव्रते मान्यस्य दलपतेः पूर्णोऽधिकार सदैव सुरक्षिता च त्रैव्रती सीमा यथा पूर्वं सर्वथाऽक्षुण्णा। अद्यत्वे किन्तु त्रिव्रते त्रैव्रताना स्थितिः शोच्यातोऽपि शोच्यतरा गतिमुपगता।

जाता तथा क्षीणतरा वर्तपा कृता तथा ते च तथाऽसमर्थाः
न श्रियतेऽन्यत्र तै च यैथाद्य प्रकाशितुं शक्यमहो स्वह्रादम् ॥७॥

सद्यो निर्गतव्यमिदानीं राष्ट्रसंघेन—

अन्याशक्तिरियं कियच्चिरमहो निर्वाबमावर्वताम्
सह्येताथ कियच्चिरं स्थितिरियं राष्ट्रैः समस्तैरपि ।

दासास्त्रिग्रतजास्तयाद्य विहिता निर्जीववत् संस्थिताः
जाता हन्त ततोऽपि शोच्यगतयश्चैनाश्च गेहे निजे ॥८॥

ब्रह्मदेशीयः — नचेदद्य सुरक्ष्यन्तां श्रेत्रतास्तर्हि तत् प्रतिवेशिनः श्रीक्रमादयो[1] देशा अपि महाव्यालेनानेन भवेयु-रचिरेणैव निगीर्णा न च भूस्थान[2]मपि लभेत कश्चित् पुनः स्वस्थानं सुरक्षितम् ।

मलयदेशीयः — स्थितिरियं नूनं साम्प्रतं नास्तिक्षणमप्युपेक्षणीया । प्रातिवेशिकै राष्ट्रैस्तु तैः समारब्धा एव ते ते सीमा-कलहा, यत्र च नास्ति सीमाकलह स्तत्राप्येषां चैना-नामुद्दाम्ना व्यवहारेण वयं न वर्तामहे सर्वथाऽ-संस्पृष्टाः ।

यवद्वीपीयः — प्रत्यक्षमनाक्रान्तेषु चास्माकं देशेषु मायुजनैरेव-दुष्प्रेर्यमाणास्तत्तद्-राष्ट्रवर्तिनः सर्वेऽपि प्रवासिनश्चैना अद्य जातास्तथा समुद्धतास्तथा च तै दुरारब्धा निरर्गलं ते ते दुर्व्यवहारा यथा विहाय गृहयुद्धचिन्तां नास्माभिरद्य शक्यं किमप्यन्यत् स्वराष्ट्राभ्युदयाय निर्णेतुं वा सुसम्पादयितुम् ।

अस्त्रालय-[3] — भारतेनापि सम्प्रति न स्थेयमत्र सर्वथा तटस्थेन । वस्तुतस्तु ताटस्थ्यमसाम्प्रतमेव राजनीतौ—

मैत्री यत्नोऽथ शत्रुत्वं निष्फलं यत्र जायते
निष्क्रियं तत्र ताटस्थ्यं स्वयमेव समेधते ॥९॥

---

१ सिक्किम   २ भूटान   ३ आस्ट्रेलिया

भारतीयः — नास्ति निष्क्रिय किन्त्वस्माकं ताटस्थ्यम्। तिष्ठन्त्येव मान्या दलपतयश्चिरगद् भारते। स्वातन्त्र्य च त्रैव्रता-नामस्माभिरपि सुसमर्थ्यते सर्वात्मना।

जयपानीयः — यद्येवं तर्हि प्रस्तावस्यास्य स्वीकरणे नास्त्यत्र कस्यापि विप्रतिपत्ति। चैनै सद्य एवेदानीमपसारणीय स्व-सैन्यं त्रैव्रतात् क्षेत्रात् स्वीकरणीयश्च त्रैव्रतानाम्पूर्ण स्तत्र स्वायत्तोऽधिकारः।

(सर्वसम्मत्या स्वीकृतेऽस्मिन् प्रस्तावे प्रस्तावस्य व्यावहारिक पक्षमालोचयन्त समुत्तिष्ठन्ति सर्वे सदस्या.)

(४)

(राष्ट्रसंघ—निर्णयमालोचयन्तस्त्रैव्रता)

मित्ररक्षित — अस्तु शक्तिधर, राष्ट्रसंघेऽपि लब्धं सुहृदा ते स्वसाफल्यम्।

शक्तिधरः — आनन्दे जीविते जीविता एव वयमिति मे सुदृढा मतिः।

मित्ररक्षितः — अस्माभिरपि नहि स्थेयमधुना यथा-पूर्वमुदासीनैः-असन्तुष्टैश्चैनै सह यथा तथा स्वसम्बन्धं सस्थाप्य तन्माध्यमेन चीनकेन्द्रेऽपि प्रवर्तनीयश्चास्माकं चक्र-मप्रतिहतम्।

शक्तिधरः — आगच्छ तर्हि सम्प्रत्येव सर्वमेतन्निवेदयाम श्रीराम चरणेषु न हि तदाज्ञा विना शक्यमस्माभिः किञ्चित् कर्तुमकर्तुं वा (प्रस्थितौ.)

(५)

(सहसाऽत्यधिकम्प्रवर्धमानैश्चैनानामत्याचारै. खिन्न काश्यपः)

काश्यपः — त्रैव्रतानां समुद्धाराय सिंहपुरे सम्मिलितै राष्ट्रै र्न जाने कदा किं विधीयताम् चैनैस्तु परमारब्धमस्माकं समूलमुत्सादनमस्माभिश्च हे विधे, (नि श्वस्य) स्व-

दुर्दशाप्यद्य न शक्या कस्यचित् समक्षे स्पष्टमावेदयितुम्
गुर्वी जगत्यामवरा पशुभ्यो नृणां समाजस्य विडम्बनेयम्
पशौ निबद्धेऽपि न तस्य बद्धा वाणी नृणा सापि भवेन्निरुद्धा ॥१०॥

(हस्ताभ्या स्वशिरो निगृह्य)

अतः परं किञ्च भवेन्न कष्टं स्रोतो बलीयो निजभावनायाः
न बिन्दुमात्रेण बहि सरेच्चेत्-अन्त कथन्नित्यमहो सवेगम् ॥११॥

(अत्रान्तर एवात्र समागच्छति तिष्यः)

तिष्य — कथमद्य स्वाध्याय कालेऽपि धीरधौरेया समुद्भ्रान्ता इव चिरादितस्ततो विचरन्ति ?

काश्यपः — तिष्यमवलोक्य (ससम्भ्रमम्) अहो चिरादद्य ते दर्शन जातम् न वेत्सि कि किमत्र घटितं किं चास्माभिरिह प्रतिदिनमनुभूयतेऽधुना ।

तिष्य — क सन्ति चास्माकमन्ये प्रिया सतीर्थ्या ।

काश्यपः — सर्वेऽपि तेऽस्माकमन्तेवासिनो निगृह्य चैनैरितः प्रेषिताः स्वसिद्धान्त–प्रसारिषु केन्द्रेषु । अस्माकमन्ते–वासिन्यश्च हठोदमिनृंशसैश्चैनैरधकारिभि–र्वाध्यन्ते सैनिकै सह परिणेतुम् ।

(६)

(मातुङ्गशासन–विरोधिनि बृहति जनसगमे, नगरपालै–र्निषिद्धे नापि जननेत्रा शुङ्गेन समारभ्यते स्वभाषणम्)

शुङ्ग — सम्मान्याः पौरा, जानपादाः स्वदेशसम्मानसरक्षका प्रिया छात्राश्च, वेत्रैर्गुलिकाभिश्च निहन्यमानैरपि नास्माभिरधुना पालयिष्यन्ते मातुङ्गस्य केचिदादेशा । समारब्धोऽस्माभिरस्माक चरम संघर्ष । मातुंगेनाधुना स्वदेशजा बान्धवा अप्युपाक्रान्ता निहन्तु पशु–मारम् । क्षणमपि नैतत् किन्तु सम्प्रति भवेत् सह्यम् ।

कारा निबद्धा गृहपंजरस्था न केऽपि चैना अधुना वसेयु
न वा भवेयु र्वत मूकवाचो विडाल-भीता इव मूषकास्ते ॥१२॥

प्रतिपदमधुनास्माभि. प्रयतिष्यते जघन्यस्यास्य मातुंगस्य
शासनस्यापकर्षणाय स्थापनायच तस्मैसुशासनाय।

स्वाधीनै – निजधर्मकर्मनिरतै र्यत्राखिलै· स्थीयताम्
कैश्चित् काप्यथ गृह्यता न विवशै स्वान्तिर्विरुद्धा गति· ।

स्पष्ट चाथ हिताय यत्र जगतां स्वीया विचारा बुधै.
व्यज्यन्ता निरुपद्रवं गतभयै. सद्भाव – सर्वाधिनः ॥१३॥

सर्वे लोकाः — स्थाप्यतामचिरेणैव स्थाप्यतां सुशासनमिद साम्प्रतम्।

(अत्रान्तर एव सैनिकै निगृह्यते शुङ्गो लोकाश्च भवन्ति विशीर्णा)

(७)

(वायुयानादवतीर्णः सचिवेनान्वितश्च्यवन. प्रविशति निभृत स्वसदने)

च्यवन — (सचिवमुद्दिश्य) मन्ये सर्वथासुगुप्तमिद मदीय-मागनम् ?

सचिव. — गृहमन्त्रिण एवात्र प्रधानम्प्रमाणम्।

च्यवनः —कथमत्राद्य ते न सन्ति समुपस्थिता ?

सचिव — श्रूयते गतेऽन्हि सैनिके क्षेत्रेऽपि छात्रैर्वितीर्णानि क्रान्ति पत्राणि सम्भाव्यते तत्रैव तेषामाकस्मिकं गमनम्।

च्यवनः — अस्या स्थितौ किं नामात्र मदागमनेन भवेदिह किञ्चिन् सिद्धम् । (विमृशन्नात्मगतम्) शुंगो नवा मातुंगो शक्यो मया प्रेरयितु कस्यचनान्यस्य मध्यमस्य मार्गस्याश्रयणाय । (प्रकाशम्) अस्तु त्वर्यतामधुना यथा तथा सद्यो गृहामात्यमत्रानेतुम्।

(अत्रान्तर एव श्रूयते नेपथ्ये महान् जनरवोऽपसरति
च मौनमितो भ्रान्तश्च्यवन)

(८)

(ततः प्रविशति चार्वंग्या स्तात्कालिकी स्थितिमालोचयन्न–
स्थिरमति–मातु ग)

मातुङ्गः — नून चयन विना न शु ग प्रभवेदखिलं राष्ट्रमेवमा–न्दोलयितुम् ।

चार्वङ्गी — (उपेक्षामाश्रित्य) च्यवनेन यत् कृत तत् कृत सम्प्रति गृहमन्त्रिणोऽपि विमर्शो नास्ति सर्वथा समुपेक्षणीयः ।

मातुङ्ग — (सामर्षम्) किमत्र कुर्याद् गृहमन्त्री तस्यैव दुरुपेक्षाया एष भीषणः परिणामो यदद्य वय वर्तामहे सर्वथा किं कर्तव्यविमूढा न हि तेन कचिदपि निरुद्धाशमात्रेणापि शु गस्य काचन प्रवृत्तिः (गृहमन्त्री प्रविश्य उद्भ्रान्तः) श्रीमन् नास्ति सम्प्रति किमप्यन्यत् सूचनीयम् । अपराह्णात् प्रागेव मान्यै र्यद् विधेय तत् सद्यो विधीयताम् । अन्यथा ससैनिकै छात्रै परितोऽवरुद्धा सर्वेऽपि वय क्षणेनैव भविष्यामोऽत्र बन्दीकृता ।

चार्वङ्गी — (समुत्थाय) यद्येव तर्हि समाप्ताऽत्रत्या सर्वाप्यस्माक लीला । सत्वरमानीयतामधुनात्रास्माक सुरक्षितं यानम्, सूच्यन्ता च होचिन्हमहाभागा सुव्यवस्थायै, यदन्यत् करणीय तत् पुनस्तत एव करिष्यते सुतराम् ।

मातुङ्ग — किञ्चित् करिष्यते न वा करिष्यते नैतत् किमपि निश्चित पर सुनिश्चितमिदानीमेतत्—

शुभाय सर्वैर्न कृतो विरोध नचेह तुच्छोऽप्यवमाननीय.
विघ्नो न केषा कतमो नु काल लोके बलीयानथवास्त्यशक्त ॥१४॥

(समुपस्थिते याने सर्वे समारुह्यसमुत्पन्ति विहायसम्)

(६)

(वियन्नाम्निगते मातुङ्गे नवनिर्वाचिताया चैनजनससदि, तत्तद्राष्ट्र-प्रतिनिधीना स्वागतमाचरन् अभिनव प्रधानामात्य शुङ्ग)

शुङ्ग — परमादरणीया गाक्ताश्चाग महोदया, अन्ये च मान्यवर्या स्तत्तद्राष्ट्र-प्रतिनिधय नून धन्यतमोऽय-मद्यतनो दिवसो यत्र तत्रभवता व ' सर्वेषा स्वागतेन सर्वेऽपि वय सजाता स्मो नितान्त कृतकृत्या । भगवदनुग्रहेणाद्य समवसिताऽखिलापि सा चैनी तामसी यत्र दुर्मतिग्रस्ताना केषाचिद् चैनानामकाण्डताण्डवेन न केवलमखिलै स्वदेशबन्धुभिरपितु परम्परयाऽस्मत् हितैपिभि प्रातिवेशिकै राष्ट्रै रप्यकारणमनुभूता महती काचन कष्ट परम्परा सम्प्रति —

श्रीमत्सु यै यैरपि चीनपक्षात् प्राप्त वृथा तत्तदतीव कष्टम्
क्षम्यास्तदर्थ वयमद्य सर्वे सौहार्दभावैश्च कृतार्थनीया ॥१५॥

(वयमधुना) वाञ्छामोऽखिलबन्धुभि गृहगतै रन्यत्रवामस्थितै
भ्रातृत्वेन समन्विता प्रतिदिनं स्थातु सुखम्प्रेमत ।
नित्यं चीनयगोऽभिवर्धनरता सद्भावसम्पोषका
शान्त्या विश्वविकासयोग-निरता राष्ट्रै परैश्चाखिलै ॥१६॥

(निगम्यैतद् यावज्जना "विजयता विश्वमैत्री, विजयता शुङ्ग" प्रभृतिभिर्जयघोषै रापूर्यते तत्सदन, तावदेव गदगदश्चाग समुत्थाय वक्तुमारभते)—

चाङ्ग — प्रेष्ठा बान्धवा, अद्य स्वप्नो मे जात सर्वथा साकार, प्रतिभाति चाद्य चैने महादेगे समवतीर्णं किमप्य-भिनवमेव सर्वसौभाग्योन्मेपक युग सत्यस्य । सम्मान-नीयेनास्माकं सर्वेपाम्प्रेमभाजनेन प्रियवरेण शृगेना-वलम्बिता नीतिरेव सन्नीति, अनयैव च सम्प्रति भवेदखिलस्यास्मि जम्बूद्वीपस्य सर्वाङ्गीणोऽभ्युदय । अद्यावधि मातुङ्गशासने—

मैत्रीति शब्दोऽपि न चीनदेशे केनापि निर्भीकतया प्रयुक्तः
चीनस्य नामाप्यथ विश्वकोशे रिपुत्वबोधि-प्रथितं जगत्याम् ॥१७॥

नाधुना कश्चिदप्यस्माभिरुत्तेजयिष्यन्ते कृत्रिमा भेदाः, समवेत्य च सर्वैर्विधास्यते सर्वसौख्य समृद्धिसम्पन्नोऽयं महादेशः ।

(चांगभाषणानन्तरमितरैर्देशैरपि प्रकाशिते स्वहर्षप्रकर्षे शुंगेन त्रैव्रतादि स्वातन्त्र्यघोषणया भूयोऽभिवर्धितमस्य समारोहस्य महत्त्वम्, राष्ट्रगानञ्च समारब्धम् ।)

(१०)

दलपतिमन्दिरादनवरतं संश्रूयमाणे मनोहरे घण्टारवेऽथ परममधुरे तत्तत्स्तोत्रपाठे प्रविशन्ति तत्र चैनेन सेनाध्यक्षेन सादरं स्वागतेन सत्कृता काश्यपेनान्विता स्तिष्यप्रभृतयो वीरवराः क्षेत्रपालाः प्रसार्यते ततः सद्य एव विज्ञप्तिरियं ध्वनियन्त्रेण—

"धर्मप्राणास्त्रैव्रता भ्रातरः, फलिता अद्य नो मनोरथाः सिद्धं चाखिलं नः समीहितम् । अचिरेणैवाधुनाऽस्मात्यप्रवेरण शुंगेन भारतात्सम्मानमानीता महामान्या देवर्षिवराः तत्रभवन्तो दलपतयः कृतार्थयिष्यन्ति नः स्वदर्शनाना दानेन । श्रोष्यते च सर्वैरेवास्माभिः ततः पूज्यवराणां महान् सन्देशः ।" (विज्ञप्तिमन्वेव भेरीनाद पुरस्सरं ततस्तत्राभवत् महान् जयघोषो हृष्टाश्च लोकैस्तत्तत्पीठ स्थविरैरभ्यर्च्यमाना महान्तः श्रीमन्तो दलपतयः) ।

(अभ्यर्चनानन्तरं श्रीमान् शुंगः समारेभे स्वभाषणम्)

त्रैव्रता भ्रातरः वीरवराणां वः क्षेत्रपालानाम् उदारचेतसां भारतीयानां कैश्चनास्माकम्प्रयासैश्च प्रतिफलितमद्यतनं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रं त्रैव्रतमिदं राष्ट्रमितः

पर न केवलं त्रैव्रतानामपितु सर्वेषामेव न सम्पन्न-
मिदानी सांस्कृतिकं महाराष्ट्रम् । अत्र हि पूज्यवर्यैं
श्रीराममहाभागै. प्रदीप्तेन ज्ञानालोकेन निरस्तेष्वखिले-
ष्वपि मानवानामज्ञानाश्रितेषु तेषुतेषु भेदेषु समुद्भ-
वेदिह किमप्यलौकिक सांस्कृतिक विश्वराज्य वय च
सर्वे भवितारोऽस्याभूतपूर्वा केचन परमोदारा विश्व-
नागरिका (वक्तव्यावसाने तत्राभवत्तुमलो हर्षध्वनि
श्रीरामवर्याश्च समुत्थाय समभाषन्त) परमसम्मान्या
शुंगमहाभागा, निखिलस्यापि विश्वस्य सांस्कृतिके
इतिहासे सदैव संस्मरिष्यन्ते श्रीमतामेते परमोदारा
हृदयोद्गारा । श्रीमन्तो हि जन्मसिद्धा सज्जनशिरो-
मणय. कृतज्ञेन चेतसाऽखिलैरेवत्रैव्रतैरभिकाम्यते
श्रीमद्भ्य. शरदाशतमायुष्यम्—

सौजन्यं सज्जनाना जगति विजयते सर्वसौख्याभिपूर्णम्
शुंगाद्या यत्प्रभावात् निखिलखलदलध्वंसिनो वीरवर्या ।
नित्य कुर्यु समृद्ध क्षितिवलयमिम शुद्धभावैरुदारै·
आयुष्य स्वस्थमेभ्य. शतमिहशरदां काम्यता कै नं नित्यम् ॥१८॥

अथ च श्रीमद्भि स्वभाषणेऽस्मत् क्षेत्रपालाना बन्धु-
वर्याणां भारतीयानाञ्च सस्मृतौ यद्यथाऽभिकाङ्क्षितम-
स्माभि-रपि तत्तथैवाभिकाङ्क्ष्यते—

निर्वाप्यमाणाप्यनिश हठेन क्रूरात्मभि-र्मयिव-मर्मरीकै
यै रक्षिता त्रिव्रतकीर्तिकान्तिस्ते रक्षपाला हि सदाभिनद्या ॥१९॥

तिष्य — (सहसाग्रे समुपसृत्य) अभिनिन्दितैरप्यभिनन्दनीय-
श्चैष निष्कामयोगी भिक्षुरानन्दो यत्प्रवर्तितेन चक्रेण
सर्वथा गतिशून्यापि त्रैव्रतीय गन्त्री जाताद्याखिल-
स्यापि विश्वस्य प्रगते· प्रवर्तयित्री सर्वेषामेव दु खा-
नामपहर्त्री च ।

राम. — नूनमेष वर्ततेऽस्माकमेव कश्चन प्राक्तनो महान्

महर्षियेन विश्वस्मिन्नपि विश्वस्मिन् प्रदर्शितोऽय महान् चमत्कार' ।

दुराग्रहः क्षयं नीत' सत्यधर्मं प्रतिष्ठित
दुर्बला. सबलग्रस्ता रक्षिता धर्मरक्षकै. ॥२१॥

चीनस्थो भारतीयो राजदूत —नून भिक्षुशिरोमणिरानन्दः—

वाराहेण समुद्धृता भगवती धात्री यथाऽम्बोनिधे'
आनन्देन तथैव कुत्सितधिया दौष्ट्याब्धिविप्लाविता ।
जम्बूद्वीपमही स्वबुद्धिबलतो भूयोऽद्य संरक्षिता
नूनं भिक्षुशिरोमणि – र्विजयते कोऽप्येष योगी महान् ॥२२॥

आनन्दः — महानुभावाः, न ह्यानन्दस्य किमप्यत्र वैलक्षण्यम् ।

सद्यो यत्र मतिः स्फुरेत् प्रतिपद–सन्मार्गं विद्योतिनी
यत्र स्यादथ सोद्यमो दृढतमो नैजः स्थिरो निश्चय ।
दीनानाम्परिपालकस्य नियतात् सार्वत्रिकानुग्रहात्
तत्राहो स्वयमेव दुर्बलबलै – रप्याप्यते सम्बलम् ॥२३॥

राम' — नून भगवतोऽनुग्रह बिना नात्र किंचन् सुलभम् सर्वै–
रेवास्माभिरत' सम्भूय साम्प्रतमेतदेव सम्प्रार्थ्यते'—

राष्ट्रे राष्ट्रे भवतु नियता भ्रातृभावाभिवृद्धि
सर्वे देशा निज निज पदे शान्तिपूर्णा वसन्तु ।
सत्यानीतिर्भुवि विजयता कूटनीति परास्ता
चित्ते चित्ते विकसतु तथा सन्मतिः साध्यसिद्धयै ॥२४॥

इतिविद्यावाचस्पति श्रीदेवीप्रसादशास्त्रितनयेन मनीषिणा विद्याधरेण शास्त्रिणा रचिते दुर्बलबले प्रकरणे परिपूर्णोऽयं चतुर्थोऽङ्क)



शुद्धाशुद्धिपत्रम्

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	श्लोक
जननीव नित्य	जननीमिवैव निखिलान्	१	१
बोद्धं	बोद्धु	१८	१५
अमासीत्	अभासीत्	३१	२१
महीसुरां तत	महीसुरांस्तत.	३६	२२
शकोरऽपि	शंकरोऽपि	३७	३५
हि च तपदेशै	च हितोपदेशै	४६	१३
सेत वो	सेतव.	८०	१
रत्याज्या	स्त्याज्या	६६	८६
गतिर्यस्या	गतिर्यस्य	५४	१५
अपगच्छत्	अपगच्छन्	८४	२०
स सर्वप्रथम	तत. स सर्व	८८	१
राजगाम्	राजगाम	८६	२२
निनादते	निनादिते	६२	१
संस्मरत्	संस्मरन्	६२	३
शीतलोऽमिल'	शीतलोऽनिलः	६७	१३
क्वचिदिय सरसान	नरि मनोलहरी च नहि		
भवेत् मही	क्वचिद्	१०२	२८
विधाया	विधाय	१५१	२५
बलमिहे	बलमिह	१६५	१६
आत्मसर्पणम्	आत्मसमर्पणम्	१८१	
सर्वमास्माकम्	सर्वमस्माकम्	२३४	पंक्ति १
अहं तु······परिविद्धा	लीलाविहारिणो लीलामतिरिच्य	२५५	" अंतिम
शुङ्ग	शुङ्गं	३००	" ४
तावदे-वतत्र	तावदेव तत्र	३००	" ८
द्विसहस्रद्विके	द्विसहस्राब्दिके	३०८	" १७

केचन विशिष्टाः संदर्भाः

